DIPLOMA IN YOGA AND
AYURVEDA PANCHKARMA

CODE DYA-03

आयुर्वेद प्रबोध

o/keku egkohj [kyk fo’ofo|ky;] dkVk

lktU; & i- lUnj yky 'kek ¼eDr½
fo’ofo|ky; NÙkh lx<] foyklij

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

प्रो. विनय कुमार पाठक
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. एलआर गुर्जर
अध्यक्ष
वमखुवि, कोटा

डॉ. अनुराधा दुबे
उप निदेशक, विज्ञान एवं तकनीकी
वमखुवि, कोटा

संयोजक एवं सदस्य

संयोजक
डॉ. नित्यानंद शर्मा
योग एवं स्वास्थ्य शिक्षा विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य
1. डॉ. दिनेश्वर शर्मा, छत्तीसगढ़, बिलासपुर
2. डॉ. डी. के. तिवारी, छत्तीसगढ़,
3. डॉ. डी. के. कटारिया, छत्तीसगढ़
4. डॉ. श्रीमती लीला पांडेय, छत्तीसगढ़
5. डॉ. ओ. एन. तिवारी, छत्तीसगढ़
6. डॉ. क्षमता चौधरी, वीएमओयू, कोटा
7. डॉ. जयसिंह यादव , जोधपुर
8. वैद्या श्रीमती अंजना शर्मा, कोटा

पाठ लेखन एवं संपादन

पाठ लेखक
डॉ. विमला शर्मा
पं. सुंदरलाल शर्मा, (मुक्त) विश्विद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. विनय कुमार पाठक
कुलपति
वमखुवि, कोटा

प्रो. एलआर गुर्जर
निदेशक अकादमिक
वमखुवि, कोटा

प्रो. करन सिंह
निदेशक, एमपीडी
वमखुवि, कोटा

डॉ. सुबोध कुमार
अतिरिक्त निदेशक, एमपीडी
वमखुवि, कोटा

उत्पादन – मुद्रण जनवरी 2015

इस सामग्री के किसी भी अंश की वमखुवि, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यकत्र पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

वमखुवि, कोटा के लिए कुलसचिव वमखुवि, कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

पाठ्यक्रम आयुर्वेद प्रबोध

इकाई 1 (विषय परिचय एवं उद्देश्य)

आयुर्वेद का इतिहास एवं परिभाषा ।
आयुर्वेद की परिभाषा एवं व्याख्या ।
आयुर्वेद का उद्देश्य एवं अवतरण ।
अष्टांग आयुर्वद परिचय, विभाजन एवं विशेषताएं ।
पंचमहाभूत परिचय ।

इकाई 2 (त्रिदोष सिद्धांत)

सृष्टि का उत्पत्तिक्रम ।
चतुर्विशान्ति पुरूष, एवं षड्पुरूष परिचय।
शारीरिक दोषों के नाम, परिचय, गुण एवं कर्म ।
दोषों के भेद, उनके स्थान, गुण एवं कर्म ।
मन का स्वरूप, गुण, दोष, एवं कार्य ।

इकाई –3 (धातु–उपधातु एवं मल–विज्ञान)

सप्त धातु परिचय ।
उपधातु परिचय एवं मल परिचय ।
आहार रस से धातुओं की उत्पति क्रम ।
धातु, उपधातु मलों का महाभूतों से संबंध ।

ईकाई –4 (शरीर विज्ञान)

दोष धातु मलों की क्षय–वृद्धि ।
साम–निराम परिचय
शरीर की परिभाषा एवं षडंगशरीर का संक्षिप्त परिचय ।
अग्नि विवेचन एवं पाचन–प्रकिया वर्णन ।
स्त्रोतस् शिरा, धमनी, त्वचा, कंडरा, मांसपेशियां, अस्थि एवं संधि परिचय।
ओज–परिचय ।

ईकाई –5 (स्वस्थ वृत परिचय)

स्वस्थ वृत की परिभाषा, स्वास्थ्य की परिभाषा ।
स्वस्थ वृत के अनुसार, दिनचर्या, रात्रिचर्या, एवं निद्राविमर्श।
काल विभाजन एवं ऋतु विभाजन ।
धारणीय–अधारणीय वेग एवं सद्वृत्त परिचय ।

पाठ्यक्रम आयुर्वेद प्रबोध

इकाई–6 (संहिता परिचय)

1. आयुर्वेद की संहिताओं का नाम एवं विभाजन ।
2. चरक संहिता का संक्षिप्त परिचय ।
3. सुश्रुत संहिता का संक्षिप्त परिचय ।
4. वाग्भट्ट संहिता का संक्षिप्त परिचय ।
5 अन्य आयुर्वेदीय संहिताओ का संक्षिप्त परिचय

ईकाई –7 (द्रव्य गुण विज्ञान भाग–1)

1. द्रव्य गुण विज्ञान परिचय ।
2. गुण वीर्य, विपाक प्रभाव परिचय ।
3. षड्रसों का महाभूतों से संबंध ।
4. षड्रसों के गुण, धर्म शरीर पर प्रभाव ।
5. षड्रसों का दोष, धातु मलों पर प्रभाव ।

इकाई–8 (द्रव्यगुण विज्ञान भाग–2)

1. वनस्पति औषधियों का परिचय, एवं प्रयोग ।

2 वनस्पति औषधियों का परिचय एवं प्रयोग :– हींग, आंवला, बहेरा, हरितकी, गुग्गुल, गुडूची, अश्वगंधा, तुलसी, हरीद्रा, कालीमिर्च, पिप्पली, नीम, धनिया, सौफ, घृतकुमारी, इलायची

इकाई–9 (रस शास्त्र विज्ञान)

1. जांगम औषधि द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग ।
2. रस,खनिज औषधि परिचय ।
3. रस, उपरस, धातु, उपधातु परिचय शोधन एवं प्रयोग ।
4. विष–उपविष, रत्न–उपरत्न परिचय प्रयोग ।

इकाई –10 (औषधि–निर्माण)

1. पंच कषाय कल्पना परिचय ।
2. चूर्ण निर्माण विधि ।
3. आसव, अरिष्ट निर्माण विधि ।
4. वटी निर्माण विधि ।

पाठ्क्रम आयुर्वेद प्रबोध

इकाई 1
(विषय परिचय एवं उद्देश्य)

इकाई की रूपरेखा

1. उद् देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु – विषय परिचय एवं उद् देश्य।
   आयुर्वेद का परिचय एवं परिभाषा एवं व्याख्या।
   आयु की परिभाषा एवं व्याख्या एवं आयुर्वेद का प्रयोजन।
   सृष्टि में आयुर्वेद का अवतरण, इतिहास, परिचय, अवतरण विभाजन,विशेषताएं।
   षड्पदार्थो का संक्षिप्त परिचय।
   पंच महाभूत एवं अष्टांग आयुर्वेद परिचय।
4. सारांश ।
5. अभ्यास प्रश्न।

––00––

उद्देश्य :–

1. प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र के मौलिक सिद्धांतो का सरल रूप में ज्ञान करना।
2. आयुर्वेद शास्त्र का परिचय एवं परिभाषा का ज्ञान करना।
3. आयु के जटिल परिभाषा का संक्षिप्त में व्याख्या एवं आयुर्वेद का अवतरण तथा इतिहास का अध्ययन करना।
4. जन–सामान्य में उपलब्ध आयुर्वेद के मौलिक सिद्धातों का बोध करना एवं अष्टांग आयुर्वेद विभाजन की विशेषताओं का अध्ययन करना।
5. षड् पदार्थो का संक्षिप्त परिचय एवं दर्शन का ज्ञान करना।
6. भौतिक जगत में उपस्थित पंच महाभूतों के नाम एवं गुण, कर्मो का ज्ञान कराना।

प्रस्तावना :–

आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम से संबंधित प्रथम प्रश्न का पहला इकाई है। जिसके अध्ययन से आप आयुर्वेद विज्ञान से संबंधित विषय जैसे– आयुर्वेद से हम क्या समझते है उसे कैसे परिभाषित किया गया है हमारे जीवन में आयुर्वेद का क्या महत्व है। आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन क्या है। आयु या जीवन क्या है। हमारे जीवन में इन परिभाषाओं का क्या मूल्य है। प्राचीन काल से आयुर्वेद की उत्पत्ति एवं शिक्षा का प्रचार प्रसार किस तरह हुआ। आयुर्वेद शास्त्र से सम्बन्धित इन सारी जानकारियों से आप परिचित होंगे और व्यक्तिगत जीवन में इनके सिद्धांतों का पालन कर सकेंगे। इसी तरह आयुर्वेद शास्त्र के विभागों का अध्ययन एवं उनकी विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात आप षड्पदार्थ विज्ञान तथा वह जगत जहां हम रहते हैं, जीवन जीने की कला सीखते हैं, उस पंचभौतिक जगत के उत्पन्न होने के मूल कारण पंचभूतों का परिचय एवं गुणधर्मो का अध्ययन करेंगे।

विषय-वस्तु

आयुर्वेद का परिचय परिभाषा एवं व्याख्या।

परिचयः–

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। जिसके कारण इसे शाश्वत (सच्चाई) कहा है। इस विषय में निम्न तर्क दिये हैं। जैसे–आयु (जीवन) और उसका वेद (साहित्य ज्ञान) दोनों सृष्टि में प्रांरभ से है अतः अनादि है। अर्थात जिसका कोई आदि अन्त नहीं है या स्वयं उत्पन्न है।

आयुर्वेद के विषय सम्पूर्ण रूप से वेदों से मिला है। वेद वह प्राचीन ग्रन्थ है जिसकी उत्पत्ति के विषय में कहा है कि भगवान विष्णु के नाभि से उत्पन्न कमल में भगवान ब्रम्हा स्वयं प्रगट हुये हैं। और उनके संग उनके हाथों में विद्यमान ग्रंथ वेद है। अतः वेद को भी स्वयंभू माना है। वेदों के चार भाग है :–

1. ऋग्वेद
2. अथर्ववेद
3. यजुर्वेद
4. सामवेद

प्राचीन आचार्यो के मतानुसार प्रथम वेद ऋग्वेद है। और शेष वेदों की उत्पत्ति ऋग्वेद से हुआ है। आयुर्वेद के मूलमंत्र, विषय उपर्युक्त चारों वेदों में बिखरे मिलते है। परन्तु सबसे ज्यादा अथर्व वेद में आयुर्वेद के विषय है। अतः हम कह सकते है कि उपरोक्त चारों वेदों से आयुर्वेद की मोती समेट कर एक माला पिरोई गई है जिसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र को अथवर्वेद का उपवेद कहते है। आयु का अर्थ जीवन और वेदों से अवतरित होने के कारण आयुर्वेद नाम सार्थक हुआ।

(अ) आयुर्वेद का परिभाषा एवं व्याख्या

आयुर्वेद विश्व में विद्यमान वह साहित्य है, जिसके अध्ययन पश्चात हम अपने ही जीवन शैली का विश्लेषण कर सकते है।

परिभाषा :– 1. आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः।

अर्थात जो शास्त्र (विज्ञान) आयु (जीवन) का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते हैं।

2. स्वस्थ व्यक्ति एवं आतुर (रोगी) के लिए उत्तम मार्ग बताने वाला विज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं।

3. अर्थात जिस शास्त्र में आयु शाखा (उम्र का विभाजन), आयु विद्या, आयुसूत्र, आयु ज्ञान, आयु लक्षण (प्राण होने के चिन्ह), आयु तंत्र (शारीरिक रचना शारीरिक क्रियाएं) इन सम्पूर्ण विषयों की जानकारी मिलती है वह आयुर्वेद है।

4. ''हिताहितं सुखं दुखमायुस्तस्य हितहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तम् आयुर्वेदः सः उच्यते।।
अर्थात जिस ग्रंथ में –
(अ) हित आयु – जीवन के अनुकुल (अनुरूप)
(ब) अहित आयु – जीवन के प्रतिकुल (विरूद्ध)
(स) सुख आयु – स्वस्थ जीवन
(द) दुखःआयु – रोग अवस्था

इनका वर्णन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

(अ) सुख एवं दुख आयु – युवावस्था, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों (रोगों) से मुक्त, बल, वर्ण, यश, पौरूष, पराकम, ज्ञान, विज्ञान, इन्द्रिय (शरीर में उपस्थित वह अंग जिससे विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है जैसे आंखों के द्वारा देखना या वह क्या वस्तु है इसका ज्ञान होता है।) तथा इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न विषयों का उपभोग करने में समर्थ मनुष्य की आयु सुख आयु है वह व्यक्ति सुखी और स्वस्थ कहलाता है।

(ब) दुखः आयु :– सुख आयु या जीवन के विपरीत आयु को दुःख आयु कहते है। अर्थात रोगी, जिसका मन प्रसन्न न हो, उनके इन्द्रिय अपने विषयों को ग्रहण न कर पा रहे हो, इन्हें दुखी व्यक्ति कहा जाता है।

(स) हितआयु–अहित आयु :– सुख आयु को सतत् बनाये रखने के लिए शरीर के लिए सात्म्य (हितकारक जिससे किसी प्रकार का नुकसान न हो) द्रव्य, अन्न, औषधि, अन्य कियाओ का प्रयोग, उनका शरीर पर प्रभाव, धर्म कर्म का परिपालन करना हितकर आयु है और इसके विपरीत द्रव्य का प्रयोग एवं कर्म अहित आयु कहा जाता है।

आयु की परिभाषा एवं व्याख्या

आयु की परिभाषा :– शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगो धारि जीवितम्। अर्थात शरीर, इन्द्रिय एवं सत्व आत्मा या सुक्ष्म आत्मा के संयोग को आयु या जीवन या वय या उम्र कहा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, आत्मा का संयोग ही आयु का लक्षण है।

आयु का पर्याय :–नित्यग (निरन्तर) गति करने वाला धारी (धारण करने वाला), जीवितम् (प्राण धारण करने वाला) ये आयु के पर्याय हैं।

1. नित्यग या नित्यगति :–निरन्तर गति करना या शारीरिक अवयवों हदृय, वृक्क, मस्तिष्क का निरन्तर स्पन्दन होते रहना गति है। इन अवयवों में गति का अवरोध होना मृत्यु या मृत्यु का लक्षण माना जाता है।

2. धारी :–रस, रक्त आदि शरीर में निरन्तर परिभ्रमण (भ्रमण या घुमना) कर शरीर को धारण या शरीर को नष्ट नहीं होने देता है अर्थात् यह रस, रक्त का परिभ्रमण पर्याप्त न हो तो यह विकृति रोग या मृत्यु का लक्षण होता है। अतः आयु को धारी या रस, रक्त को धारण करने वाला कहा जाता है।

3. जीवितम् – शरीर में श्वसन कर्म के द्वारा प्राणो का धारण करते हुए शरीर को जीवित रखता है इसे आयु कहते है।

4. चेतनानुवृति – अर्थात चेतना या विवेक का निरन्तर बना रहना, जिसके द्वारा गर्भावस्था से मृत्यु तक जीवीत वस्तु संवेदना का अनुभव करता है प्राचीन काल से ही प्राणी जगत को आचार्यो ने दो भागों में बांटा हैं।

1. चेतन, या सजीव या इन्द्रिय या जीवित
2. अचेतन, निर्जिव या मृत

अर्थात सतत् चेतना का बना रहना जीवित और मृत का भेद करता हैं।

5. जन्मानुबन्ध :– अर्थात जन्म से सम्बन्धित, जो अपने जैसे ही प्राणी को उत्पन्न करता है, या जिनमें सन्तानोपत्ति की क्षमता होती है उसे आयु कहते हैं।

उपर्युक्त विषयों को वर्तमान आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से देखे तो इन लक्षणों को हम निम्नभावों में समायोजित कर सकते है।

1. <u>वृद्धि</u> :— अपनी प्रारम्भीक अवस्था से कमशः समय बीतने पर शरीर की वृद्धि होना जैसे कि कोई सुक्ष्म जीवाणु या स्थुल विशाल शरीर वाले जीव जब उत्पन्न होते है तो बाद में उसके अंग प्रत्यंग कमशः वृद्धि करते है जिससे उस प्राणी की शरीर के आकार में वृद्धि होती है और वह नवजात से वयस्क तथा वृद्धावस्था को प्राप्त होता है।

2. <u>गति</u> :— संसार में पाई जाने वाली सभी पदार्थो में गति पाई जाती है, जिसके अनुसार पदार्थो को दो भागों में बांटा हैं, (1) चल और (2) अचल।

(अ) चल के अंतरगत वह पदार्थ या जीव आते हैं, जो अपने शारीरिक किया के परिणाम स्वरूप एक जगह से दूसरी जगह पहुंचते हैं, जैसे सभी प्राणी, जीव, जन्तु, या मनुष्य, पशु, कीड़े मकोड़े आदि।

(ब) अचल पदार्थो में वृक्ष, पेड़, पौधे का वर्णन होता है, जो एक स्थान पर स्थिर रहते हैं परन्तु उनकी जड़े, तने, टहनियॉ अपने जगह से दूर—दूर फैली होती है ।

3. <u>चैतस्व तत्व या आयुमूल</u> — अर्थात वह तत्व या पदार्थ जिसकी उपस्थिति ही जीवित और निर्जीव में अन्तर उत्पन्न करता है। इस दृष्टिकोण से इस विषय के अन्तर्गत प्रोटोप्लाज्म का समावेश करते है। यह शरीर में स्थित वह जीवनीय द्रव्य है, जिसका नष्ट होना मृत्यु है। यह प्रोटोप्लाज्म एक कोशीय जीवों से लेकर बहुकोशीय जीव एवं पेड़ पौधों में समान रूप में पाई जाती है।

4. <u>उत्पादन क्षमता या प्रजनन किया</u> :— अपने जैसे जीव को उत्पन्न करने का किया को उत्पादन क्षमता या प्रजनन किया कहते है, और हर प्रकार का जीव जो सुक्ष्म हो या स्थुल अर्थात ऐसा जीव जिसे हम खुली आंखों से नहीं देख सकते, सुक्ष्म जीव कहलाते है। इसी तरह मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थुल जीव है। जो अपनी ही तरह के दूसरे जीव को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। यह आयु या जीवन का महत्वपूण लक्षण हैं। इतना ही नही निर्जीव पदार्थो में भी उनके सजातीय पदार्थो की वृद्धि भंजन (टुटने) या विभाजन किया के द्वारा होती है।

5. <u>रस संवहन</u> :— शारीरिक धातुओं (रस, रक्त, मांस, भेद,

अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात शारीरिक धातु कहलाते हैं) का संवहन या शरीर में एक स्थान से दुसरे स्थान तक भ्रमण करना, जीवन का आत्मलिंग (विशिष्ट लक्षण) हैं। उपर्युक्त सभी धातुओं का परिभ्रमण शरीर में एक अवयव (शरीर के हृदय, वृक्क आदि अंग) से दुसरे अवयवो में नाड़ीयों के द्वारा परिवहन होकर अंगो का पोषण करते है या उन्हे पुष्ट करते हैं। भोजन के द्वारा शरीर को मिलने वाले पोषक तत्व (विटामिन, प्रोटिन, वसा, खनिज पदार्थ) पाचन के बाद रक्त के साथ मिलकर प्रत्येक अंग में पहुंच कर उन अंगो को स्वस्थ रखने का कार्य करते हैं, अर्थात समस्त प्राणीयों के शरीर में धातुओं का परिभ्रमण होना आयु का लक्षण है।

6. श्वसन :– हर प्रकार के जीवित द्रव्यों में किसी न किसी प्रकार का श्वसन कार्य (वायु मण्डल से आक्सीजन लेना, ग्रहण करना और शरीर से कार्बन डाइआक्साइड का निकलना) पाया जाता हैं, और यह किया भी पेड़ पौधों से लेकर सूक्ष्म जीव एवं स्थूल प्राणीयों में पाई जाती हैं। यह किया आयु के प्राचीन पर्याय धारी का प्रतिनिधित्व करता है।

7. चेतानानुवृति, क्षोभ या संवेदना – पूर्व में स्पष्ट कर चुके है कि आयु का पर्याय चेतना या संवेदना है, किसी भी पदार्थ (यहां पदार्थ का अर्थ सृष्टि के सभी निर्जीव व सजीव वस्तुओं से है) में चेतना की उपस्थिति उसे सजीव पदार्थ प्रमाणित करता है।

अर्थात वातावरण में उपस्थित शीत (ठण्डकता), उष्ण (गर्मी), रूक्ष (रूखापन), तीक्षण (नुकीली) आदि द्रव्यों के सम्पर्क में आने से जीवित शरीर इन विषयों के अनुकूल या प्रतिकुल किया करेगा, जैसा उदा– त्वचा को सम्पर्क बर्फ से होन पर ठण्ड महसुस होना या किसी कीड़े के शरीर के पास ठण्डी या गर्म वस्तु को लाने या शरीर से सम्पर्क होने पर, वह उस अंग को सिकुडता या समेटता है, यह संवेदन शीलता वृक्षों की अपेक्षा मनुष्यों में ज्यादा पाई जाती है। इसी तरह मानसिक लक्षण दुःख, सुख, कोध भी संवेदना को प्रभावित करने वाले विषय हैं, जिसके अनुसार जीवित शरीर में अनुकुल या प्रतिकुल प्रतिकियाऐं होती है, जैसे कि किसी भी प्राणी पर आघात या चोट करने पर वह प्रतिकिया व्यक्त करेगा। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि, अपने आसपास के वातावरण के अनुकुल या प्रतिकुल, प्रतिकिया जीवित द्रव्यों का मुख्य लक्षण है, और जिसमें चेतनानुकृति

या संवेदना है वह आयु को प्रमाणित करता है।

(स) <u>सृष्टि में आयुर्वेद का अवतरण उद्देश्य एवं प्रयोजन</u> :–

पूर्व में वर्णन कर चुके है कि आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है और आयुर्वेद की उत्पत्ति वेदों से हुई है। चारो वेदो (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। तत्पश्चात अन्य तीनों वेदों का निर्माण ऋग्वेद से हुआ हैं। चारो वेदों में आयुर्वेद के मंत्र एवं सिद्धांतों का पर्याप्त वर्णन है। परन्तु सबसे ज्यादा अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषय मिलते है, इसी कारण आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है आयुर्वेद के आचार्यो ने इसे पंचम वेद माना है। सृष्टि के आरंभ में जब सृष्टिकर्ता भगवान से पंच महाभूत तथा उनसे उत्पन्न पदार्थो का निर्माण किया, तभी से प्राणियों के दीर्घायु के साधनों का भी ज्ञान कराया। समस्त प्राणीयों के दीर्घायु का साधान आयुर्वेद शास्त्र में मिलता हैं। चिकित्सा की सर्वप्राचीन शास्त्र आयुर्वेद हैं। जिसमें किस प्राणी के लिए कौन सा आहार विहार अनुकुल है एवं कौन सा प्रतिकूल है, उसके क्या साधन है, रोग के कारण, उसको दुर करने के उपाय आदि सभी कर्तव्य का सृष्टि के आरंभ से ही ज्ञान हैं। इस तरह प्राणियो के उत्पत्ति के साथ ही आयर्वेद का अवतरण हुआ हैं। आयुर्वेद के विभिन्न आचार्यो के मत मतान्तर के पश्चात सृष्टि में आयुर्वेद का अवतरण निम्न परम्परा के अनुसार माना है।

सृष्टि के प्रारंभ में स्वयं भू–ब्रम्हा के साथ ही वेद की उत्पति हुई एवं स्वयं भगवान ब्रम्हाजी ने ही आयुर्वेद को प्रकाशित किया, ब्रम्हा जी ने सर्व प्राणी के कल्याणार्थ, आयुर्वेद का उपदेश, अपने मानस पुत्र राजा दक्ष प्रजापति को दिये। दक्ष प्रजापति ने मंत्रों एवं चिकित्सा सिद्धांतों का उपदेश अश्विनी कुमारों को दिये।

<u>अश्विनी कुमार</u> – ये दोनों जुड़वा भाई है, जिन्हें देवता कहा जाता हैं। ये दोनों देवताओ के प्रधान चिकित्सा माने गये हैं। उस समय देव और दानवों का संग्राम हमेशा चलता ही रहता था, संग्राम में आहत देवताओं की चिकित्सा अश्विनीकुमारों के द्वारा की जाती थी। <u>उदा</u> :– युद्ध में कटे सिरो की जगह पर घोड़े आदि प्राणियों के सिरों को स्थापित करना, विश्पला के द्वारा देवतागण के टॉगे युद्ध में कट जाने पर, वहां लोहे का टॉग लगाया गया था।

इन्द्र :— तत्पश्चात भगवान इन्द्र के द्वारा इच्छा जताने पर अश्विनी कुमारों ने आयुर्वेद का उपदेश जन कल्याणार्थ भगवान इन्द्र को दिया। इन्द्र—स्वर्ग के राजा इन्द्र हैं, जिन्होंने देवताओं एवं ऋषि मुनियों के रोग दूर करने के लिए आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण किये। इसी समय पृथ्वी लोक में रहने वाले विद्वान ऋषि भारद्वाज ने रोगग्रस्त होने पर स्वर्ग जा कर भगवान इन्द्र से अपना उपचार करवाया, और स्वस्थ, सुखी एवं दीर्घ जीवन प्राप्त किया। तत्पश्चात पृथ्वी में रहने वाले जन—सामान्य प्राणी एवं ऋषि मुनियों को रोग से बचाने, प्राणियों के कल्याण के लिए भगवान इन्द्र से आयुर्वेद विद्या में पारंगत हुये।

ऋषि भारद्वाज :— त्रेतायुग के प्रारम्भ के श्रेष्ठ ऋषियों में ऋषि भारद्धाज थे। उन्होने इन्द्र से आयुर्वेद की उपदेश ग्रहण कर प्राणियों की कल्याण के लिये उसका प्रयोग पृथ्वीलोक में करना प्रारंभ किया। एवं तत्कालीन ऋषियों में उसका प्रचार किया। ऋषि भरद्धाज अपने शिष्यों पुनर्वसु आत्रेय, धन्वन्तरी आदि को आयुर्वेद का उपदेश देकर आयुर्वेद विज्ञान में पारंगत किया।

पुनर्वसु आत्रेय :— भरद्वाज ऋषि का आश्रम प्रयाग में था। जहां पर आचार्य पुनर्वसु ने दीघार्यु एवं सुखी जीवन के लिए आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्य अग्निवेश को आयुर्वेद की शिक्षा दी जिसको उन्होंने संहिता रूप में संग्रहित किया। जो उनके ही नाम से संहिता रूप में प्रचलित हुई।

धन्वन्तरी :— पुनर्वसु आत्रेय से आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण कर इन्होंने शल्य प्रधान चिकित्सा पर ग्रंथ की रचना की, और अपने शिष्य सुश्रुत को सम्पूर्ण आयुर्वेद का उपदेश दिया।

आचार्य सुश्रुत :— आचार्य धन्वन्तरी के शिष्य थे, जिन्होंने आयुर्वेद शल्य प्रधान चिकित्सा को पंक्तिबद्ध कर सुश्रुत संहिता का निर्माण किया। वर्तमान में सभी उपलब्ध शल्य शालाक्य संहिताओं में प्रधान संहिता है।

आचार्य चरक :— इन्होंने आचार्य अग्निवेश के द्वारा लिखी गई संहिता का प्रतिसंस्कार किये। (अधूरे विषयों को पूरा किये) एवं सहिंता का निर्माण किया। जो वर्तमान में भी आयुर्वेद के काय

चिकित्सा के प्रधान ग्रंथ हैं। इस तरह ब्रम्हाजी के द्वारा वेदों से प्रचारित आयुर्वेद शास्त्र का उपदेश देना

↓

दक्ष प्रजापति (ब्रम्हाजी का पुत्र)

↓

अश्विनी कुमारों (देवता उपदेश) उपदेश

↓

भगवान इन्द्र

↓

ऋषि भरद्वाज

↓ ↓ ↓

1. धन्वन्तरी 2. पुनर्वसु 3. काश्यप ऋषि

सुश्रुत अग्निवेश का अपने शिष्यों को उपदेशित करना

आचार्य पुनर्वसु के ग्रंथो को आगे चल कर कई आचायों ने प्रतिसंस्कृत किये। जिनमें आचार्य चरक सुश्रुत प्रमुख है। बाद में ये संहिता को और सरल एवं सुबोध बनाया गया इस तरह ब्रम्हा जी से लेकर आयुर्वेद शास्त्र, आज भी संसार में फल–फूल रहा है प्राचीन काल में आयुर्वेद की शिक्षा गुरूशिष्य परम्परा के द्वारा प्राप्त की जाती थी। आज भी कई स्थानों में इसी परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है और आयुर्वेद का प्रचार प्रसार जारी है।

आयुर्वेद का इतिहास

भारतीय पौराणिक इतिहास के अनुसार सर्वप्रथम ब्रम्हा ने आयुर्वेद विषयक ज्ञान दक्ष प्रजापति को प्रदान किया। फिर दक्ष प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को ओर अश्विनी कुमारों ने यह ज्ञान इन्द्र को प्रदान किया। इसके बाद के आयुर्वेद के प्रतिपादको के विषय में विभिन्न ग्रन्थो में मतभेद पाया जाता हैं। सुश्रुत संहिता के अनुसार इंद्र ने यह ज्ञान भगवान धन्वन्तरि को प्रदान किया। भगवान धन्वन्तरि से इस ज्ञान को दिवोदास ने प्राप्त किया ओर उन्होंने यह विज्ञान सुश्रुत औपधेनव, औरभ्र, पौष्कलावत, गोपुरक्षित और भेल को प्रदान किया। चरक संहिता के अनुसार आयर्वेद का ज्ञान इंद्र से भरद्वाज ने प्राप्त किया ओर भरद्वाज ने यह ज्ञान पुर्नवसु आत्रेय को प्रदान किया।

तत्पश्चात आत्रेय पुर्नवसु ने इसे अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पराशर, हारीत, क्षरपाणि, आदि को सिखाया। कश्यप संहिता के मतानुसार इन्द्र ने आयुर्वेद की शिक्षा काश्यप वशिष्ठ आत्रेय एवं भृगु को प्रदान किया। इन बाद के ऋषियों अलग अलग विषयों पर चिकित्सा विज्ञान संबंधी अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सभी ग्रन्थों को दो संप्रदायों के अंतर्गत रखा गया है

1ः आत्रेय संप्रदायः इन संप्रदायों के ग्रथों में प्रधानतया औषधियों का वर्णन मिलता है।
2ः धन्वन्तरि संप्रदायः ये ग्रन्थ मुख्यतः शल्य का वर्णन मिलता हैं।

<u>पूर्व वैदिक युग</u>

कला और विज्ञान के इतिहास में भारतवर्ष का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान समय में प्राप्त पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर भारत में कला और विज्ञान का इतिहास सिन्धु घाटी की सम्यता के साथ प्रारम्भ होता है। यह सम्यता हड़प्पा संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि पुरातत्व की दृष्टि से सिन्धु घाटी में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का अपना महत्वपूर्ण स्थान था। यह युग पूर्व वैदिक काल माना जाता है।

इन नगरों की खुदाई से कुछ औषधीय पदार्थ भी प्रकाश में आये हैं। जैसे शिलाजीत (जो मधुमेह व गठिया आदि जोड़ों के रोगों की महत्वपूर्ण औषधि है) नीम के पत्ते तथा लाल हिरन के सींग प्राप्त हुए है। कुछ ऐसे कपाल भी प्राप्त हुए है, जिन पर कपाल की शल्य क्रिया की गई है। इस सबसे यह स्पष्ट होता है कि उस समय भी भारत में सामान्य चिकित्सा विज्ञान एवं शल्य विज्ञान प्रचलित थे, जो बहुत उन्नत स्तर के थे।

<u>वैदिक युग</u>

धनुर्वेद (धनुष चलाने का विज्ञान), गन्धर्ववेद (उच्च कोटि की कला का विज्ञान) स्थापत्य वेद (शिल्प विज्ञान) एवं आयुर्वेद (चिकित्सा विज्ञान) ये चारों क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद माने गये है। सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आयुर्वेद, अथर्ववेद का

उपवेद है। चरणव्यूह आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। एक अन्य मतानुसार आयुर्वेद चारों वेदों से स्वतन्त्र पांचवा वेद है।

वेदों के विषय का विश्लेषण करने पर यह प्रकट होता है कि चारों वेद चिकित्सा के विभिन्न प्रसंगों से भरे पड़े हैं, जिनसे चिकित्सा के अलग–अलग पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। रूद्र, अग्नि, वरूण, इन्द्र तथा मारूति दिव्य चिकित्सक माने जाते थे। अश्विनीकुमार उस समय के प्रसिद्ध चिकित्सक थे। वेदों मे इन्होने चिकित्सा और शल्य के क्षेत्र में अनेक अद्‌भुत उपलब्धियॉ हासिल की थी। किसी व्यक्ति एवं सन्त में पुनः जीवनशक्ति का संचार करना, नपुंसकता को दूर करना, दीर्घायु प्रदान करना, तथा राजयक्ष्मा जैसे भयंकर रोगों का उपचार करना इन पर तो मानों इन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिया था। शल्य विज्ञान सम्बन्धी अनेक अद्‌भुत प्रयोगो का वर्णन वेदो के विभिन्न स्थलों पर किया गया हैं, जैसे मनुष्य के धड़ पर घोड़े के सिर का प्रत्यारोपण मनुष्य के शिर का प्रत्यारोपण, कृत्रिम अंगों को लगाना, यज्ञ के धड़ में उसके सिर का प्रत्यारोपण आदि । वेदों में, आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्तों में से त्रिदोष, सप्तधातु पाचन किया तथा धात्वाग्निपाक क्रिया अथवा चयापचन के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त शरीर रचना सम्बन्धी उल्लेख एवं अनेक प्रकार के रोगों का वर्णन भी मिलता है । रोगों के कारण भूत विभिन्न प्रकार के जीवाणुओ का भी विस्तार में वर्णन किया गया हैं। इस बात का भी उल्लेख मिलता हैं कि इनमें कुछ जीवाणु इतने सूक्ष्म है कि वे इन ऑखों से दृष्टिगोचर नहीं होते। वेदों में बहुत स्थानों पर बच्चे के प्रसव की प्रक्रिया, दहन किया, जीवविष भूत–प्रेत आदि दुष्ट आत्माओं के प्रभाव को नष्ट करना, रसायन चिकित्सा एवं वाजीकरण का वर्णन भी मिलता है। औषधीय वनस्पतियों, उनके विभिन्न अंगो तथा उनके औषधीय गुणों का वर्णन भी इन वेदो में किया गया है। ऋग्वेद में 67, यजुर्वेद में 81, तथा अकेले अथर्ववेद में 290 औषधीय वनस्पतियों का वर्णण किया गया हैं इसके साथ ही ब्राम्हाण साहित्य में भी लगभग 130 औषधीय वनस्पतियों का वर्णन मिलता है। लगभग 28 रोगों का भी उनके औषधीय उपचार के साथ उल्लेख किया गया है। औषधियों की निर्माण विधि का केवल संक्षेप में वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि एक बार युद्ध में राजा खेल की पत्नी विश्पला की दोनों टांगे कट गई तब उस युग में व्यतिरिक्त शल्यक्रिया के माध्यम से उसके शरीर में दोनो कृत्रिम टॉगे प्रत्यारोपित की गई थी । यहॉ तक कि मूत्रावरोध के रोगों की चिकित्सा के लिए सबसे नाजुक अंग–मूत्रमार्ग के ऑपरेशन का वर्णन भी वेदों में मिलता है। इसके साथ रोगी के घाव पर जोंके लगाये जाने का उल्लेख भी किया गया है।

उत्तर वैदिक काल

उत्तर वैदिक काल के जनसमुदाय में आयुर्वेद को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। बुद्धिजीवी जनसमुदाय में भी इसके सिद्धांतों और चिकित्सा पद्धति दोनों को सम्मान प्रदान किया जाता था । यहॉ तक कि आयुर्वेद के प्रसिद्ध एवं उच्चकोटि के ग्रन्थ चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता अनेक संस्करणों के पश्चात् अपने जिस वर्तमान रूप में उपलब्ध है, उनका रचना काल भी लगभग 7 वीं शताब्दी ई. पूर्व ही माना गया है। यद्यपि इन ग्रन्थों में जिन विचारों एवं व्यवहारों को मान्यता प्राप्त है, निश्चय ही वे इस समय से बहुत पहले ही प्रचलित थे। जहॉ तक जीवन के विज्ञान, आयुर्वेद की सैद्धान्तिक विचारधारा का सम्बन्ध है, यह सांख्य, योग एवं वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा के सदृश है। इनमें भी द्रव्य गुण विज्ञान, त्रिदोष एवं सप्तधातु के सिद्धान्त वैशेषिक दर्शन से संबंध हैं। तथा शरीर के पंचभौतिक संमिश्रण का सिद्धान्त सांख्य एवं योग दर्शन से संबंधित है। इसका आविर्भाव सांख्य के पुरूष प्रकृति वर्णन से हुआ है।

प्रारम्भिक मध्य युग

आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थों में प्रायः वनस्पतियों एवं पशु जगत से प्राप्त औषधियों का ही वर्णन मिलता है। इसके पश्चात् मध्य काल में रसशास्त्र का उदय हुआ। आयुर्वेद के भेषजकोश में पारद एवं बहुत सी अन्य धातुओं तथा खनिज पदार्थों को भी सम्मिलित किया गया। नागार्जुन को इस रस शास्त्र का जनक माना जाता है। वे औषधियों में इस संशोधित पारद का प्रयोग करके सम्पूर्ण विश्व को रोग एवं कष्ट से मुक्त करना चाहते थे ।

इन धातुओं एवं खनिजों के प्रयोग का सबसे बड़ा लाभ यह

है कि एक तो इनका प्रयोग बहुत कम मात्रा में करना होता है, तथा दूसरे ये औषधियाँ अपना प्रभाव बहुत शीघ्र दिखाती हैं। परन्तु इन रसौषधियों के प्रचलन से आयुर्वेद की प्रमुख एवं प्राचीन चिकित्सा पद्धति जैसे वमन, विरेचन तथा बस्ति आदि बहुत उपेक्षित रह गई तथा लुप्तप्रायः हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि इन प्राचीन पद्धतियों से उपचार करने में बहुत अधिक समय लगता था । परन्तु रोगों के उपचार एवं उनकी रोकथाम का प्रभाव बहुत अधिक समय तक टिका रहता था।

मध्यकालीन युग : आयुर्वेद के विकास में अवरोध

विज्ञान स्वभाव से ही उन्नतिशील है। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में तो यह तथ्य और अधिक सत्य है। इस विज्ञान की उन्नति में अवरोध होने से बहुत प्रकार की अनीतियों अन्यायपूर्ण विचारों और भ्रममूलक विश्वासों का जन्म होने लगता है। मध्यकालीन युग में भारत को अनेको विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा । इससे देश की आन्तरिक शान्ति भी भंग हो गई। उस समय लोगों के पास विज्ञान के विषय में सोचने का बहुत कम समय था। वे अपने देश की सुरक्षा के लिए लड़ रहे थे । ऐसे समय में मौलिक चिन्तन पूरी तरह से नष्ट हो चुका था। इस समय में आयुर्वेद पर लिखी गई अधिकतर पुस्तकों में दूसरे स्त्रोतों से संग्रह मात्र किया गया था। विदेशी आक्रमणों एवं आन्तरिक कलह के समय अनेक मौलिक ग्रन्थ नष्ट हो गये । जो बचा खुचा था, उसको सुरक्षित रखना एवं टीकाओं द्वारा उसकी व्याख्या करना बहुत आवश्यक था। उस समय बहुत कम योग्यता वाले लोगों ने ही टीका करनी प्रारंभ कर दी परिणाम स्वरूप इन ग्रन्थो में अनेक गलत क्षेपक अप्रमाणिक संशोधन एवं त्रुटिपूर्ण संस्करण प्राप्त होते है।

आयुर्वेद का पुनरूद्धार

19 वीं शताब्दी के अन्त और 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारत के लोगों ने आयुर्वेद के विकास के लिये नये रूप से सोचना प्रारम्भ किया देश की स्वतन्त्रता के लिए होने वाले प्रयत्नों ने इस क्रान्ति को भी बल दिया । देश की राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार ने भी आयुर्वेदिक विज्ञान की समस्याओं एवं इसकी उन्नति

के साधनों पर विचार करने के लिए अनुभवी एवं योग्य लोगों की समितियों का गठन किया । इन समितियों का विवरण निम्नलिखित है।

राज्य सरकार का नाम	समिति गठन का वर्ष
1. मद्रास	1921–22
2. बंगाल (जब विभक्त न था)	1921–22
3. संयुक्त प्रान्त	1925–26
4. केन्द्रीय प्रान्त एवं बरार (विदर्भ)	1937–39
5. पंजाब	1938
6. बम्बई	1947
7. उड़ीसा	1946–47
8. असम	1947
9. मैसूर (अब कर्नाटक)	1942

देश के स्वास्थ्य कार्यक्रमों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने भी आयुर्वेदिक पद्धति के विकास के हेतु एवं आयुर्वेदीय चिकित्सकों से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक विशेषज्ञ समितियों का गठन किया। ये समितियॉ जिन्होंने एतद् विषयक सुझाव प्रदान किये निम्नलिखित है

समिति के अध्यक्ष का नाम	वर्ष
1. सर जोसेफ भोरे	1943
2. सर आर.एन.चोपड़ा	1947
3. डा. सी. जी. पण्डित	1947
4. श्री डी.टी.दवे	1955
5. डा. के एन. उडुप	1958
6. श्री एम.पी.व्यास	1963

आयुर्वेद का उद्‌देश्य एवं प्रयोजन

आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ पुरूष के स्वास्थ की रक्षा करना, और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है। इसी तरह से आयुर्वेद शास्त्र का अनादि काल से प्रयोग होता चला आ रहा है।

उद्‌देश्य :–

आचार्यो ने आयुर्वेद के मुख्य दो उद्‌देश्यों का निर्धारण किया।

(1) स्वास्थ्य सरंक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन (बढ़ाना) अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना, उसे और बलवान, या पुष्ट बनाना।

(2) रोगी के रोग को दूर करना। अर्थात शरीर में किसी प्रकार की विकृति आने पर या शरीर में दोष, धातु मलों की विषम अवस्था उत्पन्न होने पर या रोग उत्पन्न होने पर उस विकार का प्रशमन (शांत) करना।

इन दोनों उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही ऋषियों एवं आचार्यो ने आयुर्वेद का उपदेश जन कल्याण के लिए दिया। किसी भी तंत्र या विज्ञान का परिचय में उस तंत्र का अधिकार संबंध, विषय एवं प्रयोजन को ध्यान में रखना ही उस तंत्र का उद्देश्य होता है।

अष्टांग आयुर्वेद परियच विभाजन एवं विशेषताएं :–

परिचय :– आयुर्वेद शास्त्र को चिकित्सा की दृष्टि से अलग अलग आठ वर्गों में बांटा गया है जिसे अष्टांग आयुर्वेद कहते है।

विभाजन :–

(1) काय चिकित्सा (मेडिसीन)
(2) शल्य तंत्र (सर्जरी)
(3) शालाक्य तंत्र (नाक, कान, गला, मुख, नेत्र रोगों की चिकित्सा)
(4) कौमार्य भृत्य (स्त्री रोग, प्रसुति रोग एवं बाल रोग चिकित्सा)
(5) अगद तंत्र (विष चिकित्सा)
(6) रसायन तंत्र (शरीर को पुष्ट एवं बलवान बनाने की चिकित्सा)
(7) बाजीकरण (पुरूष बांझपन या नपुंसकता की चिकित्सा)
(8) भूत विद्या (मंत्रो या औषधि के द्वारा मानसिक रोगों की चिकित्सा)

उपर्युक्त आयुर्वेद के अंगो के विभाजन का उद्देश्य के प्रमाण कुछ इस तरह शास्त्रों में उपलब्ध है, जैसे आचार्य सुश्रुत ने अपने गुरू आचार्य धन्वन्तरी से मुख्य रूप से शल्य प्रधान विषयों को जानने की इच्छा प्रगट की, और उन्होंने उसी विषय को अपने ग्रंथ में प्रचारित किया। इसी तरह आचार्य चरक ने काय चिकित्सा, या औषधी प्रधान चिकित्सा के प्रति रूचि प्रकट कर उन्ही उपदेशों को अपने ग्रंथ में प्रचारित किया। इसके अतिरिक्त इन दोनों आचार्यो ने दूसरे विषय जैसे रसायन, बाजीकरण, शालाक्य एवं भूत

विद्या का भी वर्णन अपने शास्त्रों में किया हैं।

विशेषताएं :–

काय चिकित्सा की विशेषताएं :– काय का अर्थ सम्पूर्ण शरीर हैं। ऐसा रोग जिसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर में पड़ता है। उन रोगों की चिकित्सा का उल्लेख इस विभाग में है, जैसे ज्वर, राजयक्ष्मा, अतिसार, पाण्डु उदर रोग, अर्श, प्रमेह, मधुमेह, आदि। इस चिकित्सा का प्रधान ग्रंथ चरक संहिता है।

इस चिकित्सा के अन्तरगत औषध एवं शरीर शुद्धि या शोधन के द्वारा दूषित दोषों को शरीर से बाहर निकालना इन विषयों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। शोधन कर्म, पंचकर्म, वमन, विरेचन, बस्ति आदि को काय चिकित्सा में सम्पूर्ण चिकित्सा कहा गया है।

काय चिकित्सा के अंतर्गत रोगों के नाम, वर्णन, निदान, पूर्वरूप, लक्षण, रोग भेद आदि का वर्णन है। साथ ही सम्पूर्ण औषधि या आहार विहार का, रोग प्रशमन के लिए विस्तृत वर्णन किया गया है।

शल्य तंत्र :– आधुनिक शब्दों में इसे सर्जरी या शल्य चिकित्सा कहा जाता है, इसमें शस्त्र वर्णन तथा शस्त्र कर्म दो प्रमुख विषय है। आचार्य सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में शस्त्रो की संख्या 101 माना हैं, और कहा है कि शस्त्र कर्म के लिए चिकित्सक के हाथ प्रधान अंग होते हैं और शेष 100 यंत्रों को रचना की दृष्टि से निम्न वर्गो में बांटा है।

1. स्वास्तिक यंत्र – इसकी संख्या 24 हैं।
2. सहदृश्य यंत्र – इसकी संख्या 2 हैं।
3. ताल यंत्र – इसकी संख्या 2 है।
4. नाड़ी यंत्र – इसकी संख्या 20 है
5. शालाक्य यंत्र – इसकी संख्या 28 है।
6. उपयंत्र – इसकी संख्या 25 है।

इसके अतिरिक्त यंत्रों की दोषों का भी वर्णन है, जैसे – यंत्र का छोटा, सामान्य से बहुत छोटा होना, बड़ा या बहुत लम्बा, कच्चे लोहे का बनाना, ठीक प्रकार से पकड़ में ना आना, आदि और इन दोषों

या विकृति से रहित यंत्र को उत्तम माना है।

इसी तरह शस्त्रों का प्रयोग काटने, चीरने, छेदने के लिए किया जाता है। जो तीक्ष्ण या नुकीले होते है। इनकी संख्या भी 20 बताई है। इन शास्त्रों में धार या तेजी के लिए पायनाभार का प्रयोग बताया गया है, शस्त्रों की सुरक्षा के लिए शाल वृक्षों के फलों का प्रयोग खोल के रूप में किया जाता है इसी तरह शस्त्रों के दोष व उत्तम शस्त्र के लक्षण चिकित्सा के लिए दाह कर्म (जलाना), जलौका (जोंक) का प्रयोग, पशुओं के श्रृंग व क्षारों के प्रयोगों का विस्तृत वर्णन है। शल्य साध्य (सर्जरी से ठीक होने वाले रोग) रोगों का नाम निम्न बताये है। ब्रण, घाव, गुल्म (कठोर गोला), भंगदर, (गुदा से होने वाले घाव), अर्श, (बवासीर) इत्यादि।

शालाक्य तंत्र :– इस तंत्र में शालाका (पतले पतले तारों) का प्रयोग सिर के ऊपर के भागों में होने वाले रोगों में चिकित्सा के लिए किया जाता है, जैसे मुख, गला, कान नेत्र आदि, वे रोगों में लोहे या अन्य धातु जैसे तांबा, चांदी, सोना आदि से बने पतले धातु शलाका का प्रयोग किया जाता है, साथ ही सामान्य रोग एवं शल्य चिकित्सा इसके अतिरिक्त निम्न औषधियों का प्रयोग जैसेः

(1) नेत्र रोगों में औषधि से निर्मित अंजन या आंखों में डालने या लगाने वाली औषधि का प्रयोग।

(2) नाक के रोगों में नस्य या नाक डालने वाली अर्क, पावडर इत्यादि का प्रयोग।

(3) मुख रोगों के लिए मंजन आदि का प्रयोग।

(4) कर्ण रोगों के लिए बिंदु तैल आदि का प्रयोग, वर्तमान में सुश्रुत संहिता शालाक्य तंत्र की प्रधान गंथ है।

कौमार भृत्य :– कौमार का अर्थ बालक और भृत्य का अर्थ लालन पालन है। इस विभाग में गर्भ प्रारंभ होने से लेकर बालकों के उपनयन संस्कार तक के सभी कर्म एवं रोगों वर्णित है। कौमार भृत्य के अन्तरगत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है।

1. स्त्री रोगों की निदान एवं चिकित्सा ।
2. गर्भ धारण से प्रसव उपरान्त होने वाले रोग एवं उसकी चिकित्सा।
3. नवजात शिशुओं के रोग एवं उसकी चिकित्सा ।

4. शिशु परिचर्या शिशु प्रबंधन इत्यादि।

<u>अगद तंत्र</u> – इस तंत्र की निम्न विशेषता है।

1. सभी प्रकार के खनिज, वनस्पति एवं प्राणी विषों के नाम गुण कर्म का परिचय।
2. विषों के द्वारा रोगों की चिकित्सा ।
3. विष सेवन करने पर विपरीत विषों का प्रयोग।
4. विषधारी प्राणियों के द्वारा काटे जाने पर उसकी चिकित्सा ।
5. विषयुक्त या विषाक्त भोजन की पहचान ।

सुश्रुत संहिता एवं चरक संहिता इस विषय के प्रधान ग्रंथ है।

<u>रसायन तंत्र</u> :– इस तंत्र में औषधि के महत्व के महत्व को दर्शाया गया है जैसे– औषधि दो प्रकार की होती है।

1. स्वास्थ को बनाने वाली या शरीर में बल उर्जा देने वाली।
2. रोगी के रोग को दूर करने वाली।

प्रथम प्रकार की औषधि जिससे स्वस्थ शरीर को बल मिलता है। रसायन औषधि कहते है, ऐसी औषधियों का विस्तृत वर्णन, प्रयोग विधि इस तंत्र की विशेषता है। शरीर में उपस्थित रस, रक्त, आदि धातुएं, स्मृति, मेधा, वृद्धि को बढ़ाने वाली औषिधयों का उल्लेख, आचार रसायन, संयम, सद्‌कर्म का वर्णन इस विभाग या तंत्र में मिलता है। सुश्रुत एवं चरक संहिता इस विषय के प्रधान ग्रंथ है।

<u>बाजीकरण</u> :–आयुर्वेद शास्त्र के इस विभाग की प्रमुख विशेषता निम्न है।

1. पुरूषों में पुरूषत्व शक्ति को बढ़ाने के लिए औषधियों का प्रयोग ।
2. पुरूषों में उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए चिकित्सा विधि का वर्णन ।
3. पुरूषों में उत्पन्न बांझपन या नपुंसकता के कारणों का निदान एवं चिकित्सा।
4. शुक्र दोष के लक्षण, एवं चिकित्सार्थ औषधि प्रयोग।

चरक संहिता इस विषय का प्रधान ग्रंथ है।

<u>भूत विद्या</u> :– इस विभाग की निम्न विशेषता है।

1. मानसिक दोषों का निदान एवं चिकित्सा ।
2. विभिन्न मानसिक रोगों या विकृतियों के लिए औषधियों का निर्देश ।
3. मानस दोष जैसे उन्माद, पागलपन, अपस्मार, मिर्गी, स्मृतिभ्रंश

आदि रोगों का निदान, भेद, उपचार का निर्देश है।
4. मन, बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, स्मृति, चेष्टा आदि के विकृत रोग एवं उनसे संबंधित दैव व्यापाश्राय (मंत्र, हवन, पूजा) एवं अन्य चिकित्सा का वर्णन है।
5. ग्रहों के द्वारा बच्चों में होने वालें उपद्रव का निदान एवं चिकित्सा का वर्णन है।
6. देवी देवताओं, ग्रह, नक्षत्र, भूत आदि से उत्पन्न दोषों में मंत्र, रत्न, बलि, होम आदि के द्वारा चिकित्सा का विधान है।

इनके विषय चरक संहिता में विषयवार वर्णित है।

षड्पदार्थ विज्ञान

आयुर्वेद शास्त्र में षड्पदार्थ के अंतरगत निम्न पदार्थो का वर्णन हैं।

(1) सामान्य (2) विशेष (3) गुण (4) द्रव्य (5) कर्म (6) समवाय

आचार्यो ने कहा हैं कि संसार के सभी पदार्थ परस्पर संयोग से उत्पन्न होते हैं। पदार्थो का संयोग ही जीवन का मूल तत्व है। भाव पदार्थ से ही रोग उत्पन्न होते हैं जिनकी चिकित्सा भी भाव पदार्थो से ही होती हैं। न्याय दर्शन सातवा पदार्थ अभाव को मानता हैं जिसे आयुर्वेद नहीं मानता।

1: सामान्यः— सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धि कारणं।

सदा सभी भावों की वृद्धि करने वाला सामान्य होता हैं। शरीर में जब किसी धातु विशेष की कमी पाई जाती हैं, तो उसके सामान्य या समान द्रव्य, गुण, कर्म का प्रयोग कर उसकी वृद्धि की जाती हैं। सामान्य तीन प्रकार का होता हैं:

1: द्रव्य सामान्य 2: गुण सामान्य 3: कर्म सामान्य

1. द्रव्य सामान्यः—मांस खाने से मांस बढ़ता है, क्योंकि बकरे के मॉस में जो मांसत्व होता है वह मनुष्य के मांस में भी पाया जाता है। इसलिये मांस खाने से मांस धातु की वृद्धि होती है। विशेष रूप से मांस खाने वाले जन्तु के मांस खाने से विशेष रूप से मांस की वृद्धि होती है। इसी प्रकार रक्त क्षय होने पर, रक्तपान कराया जाता है।
2. गुण सामान्य :— दूध और घी खाने से शुक्र की वृद्धि होती है। दूध और घी गुण में मधुर स्निग्ध शीत होते है इसी प्रकार जो भी मधुर, स्निग्ध शीत होते है वे सब शुक्रवर्धक होते है। क्योंकि शुक्र गुण में मधुर, स्निग्ध एवं शीत होता है। इसी तरह स्निग्ध, गुरू,

मधुर, सान्द्र, पिच्छिल गुण युक्त जो भी द्रव्य होते है वे कफ को बढ़ाने वाले होते है। जैसे :–दही, गुड़, घृत आदि ।

3. कर्म सामान्य :– वायु का कर्म चंचल होता है अतः दौड़ने से वायु की वृद्धि होती है। कफ का कार्य स्थिरता उत्पन्न करना है अतः सोने या बैठने से कफ की वृद्धि हो जाती है।

कही–कही इसके विपरीत भी पाई जाती है जैसे– आंवला अम्ल गुण होता है, और पित्त भी अम्ल है पर गुण सामान्य होने पर भी आवलॉ पित्त शामक होता है, पित्त वर्धक नहीं। ऑवला का वीर्य शीत होता है और पित्त उष्ण वीर्य, अतः ऑवला अपने शीत वीर्य से पित्त की उष्णता को कम करता है।

2. विशेष :– सदा सभी भावों का ह्रास (कम करने वाला) पदार्थ विशेष होता है दोषों एवं धातु, मलों की वृद्धि होने पर इन के द्वारा उसका क्षय किया जाता है। विशेष भी तीन तीन प्रकार का होता है।

1. द्रव्य विशेष 2. गुण विशेष 3. कर्म विशेष

1. द्रव्य विशेष :– अस्थि मांस से विशेष (अलग) होता है। मांस की वृद्धि होने पर अस्थि के प्रयोग करने पर वह हानिकारक होता है। या वायु प्रधान (जोन्धरी) के सेवन से पृथ्वी गुण प्रधान मांस का क्षय होता है। अर्थात् जोन्धरी, बाजरा आदि द्रव्यों का प्रयोग मांस क्षय के लिए किया जाता है। इसी तरह अग्नि गुण वाले क्षार के प्रयोग से कफ का क्षय होता है।

2. गुण विशेष :– वायु का गुण रूक्ष, लधु, शीत होता है। तेल का गुण स्निग्ध, गुरू उष्ण होता है।

3. कर्म विशेष :– वायु चल होता है तथा बैठना सोना आदि कर्म वायु विशेष (कम करने वाला) होता है। इसी तरह कफ स्थिर होता है उससे विशेष (भिन्न) दौड़ना, तैरना आदि क्रियाओं से कफ का नाश होता है।

इन उपर्युक्त सामान्य एवं विशेष के द्वारा रोग की चिकित्सा की जाती है। क्योंकि दोष की विषमता रोग है, और दोष का सम होना आरोग्यता है। अतः दोष जब अपनी मात्रा में न्यून होते है तो सामान्य द्रव्य गुण कर्म के द्वारा उनकी वृद्धि की जाती है, और जब यह अपनी मात्रा से बढ़ जाते है तो विशेष द्रव्य गुण, कर्म द्वारा

इनकों कर्म कर सम अवस्था में लाया जाता है। यही चिकित्सा है और सामान्य एवं विशेष की प्रवृत्ति आयुर्वेद शास्त्र में इष्ट है।

3. गुण :– द्रव्यों में जो समवाय रूप से रहता है उसे गुण कहते है। जिन्हें चार वर्गो में वर्गीकृत किया गया है।

अ. इन्द्रिय गुण :– ये संख्या में पांच होते है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

ब. गुर्वादि गुण :– इसे शारीरिक गुण या द्रव्य गुण कहा जाता है, जो संख्या में बीस होते है।

जैसे :– गुरू – लघु, मन्द–तीक्ष्ण, शीत–उष्ण, स्निग्ध–रूक्ष, श्लक्ष्ण–खर, सान्द्र–द्रव मृदु–कठिन, स्थिर–सर, सुक्ष्म–स्थूल, विशद–पिच्छिल

ये सभी गुण एक दूसरे के विरोधी होते है जैसे :– गुरू (भारी–लघु (हल्का) इसी तरह प्रत्येक जोड़ी के गुण एक दूसरे के विरूद्ध है।

स. अध्यात्म या आत्मगुण :– ये संख्या में छः होते है।

जैसे :– बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ।

द. सामान्य या परादि गुण :– ये संख्या में दस होते है। पर अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास।

इस तरह कुल 41 गुण आचार्य चरक ने भी माना है। न्याय दर्शन के अनुसार 24 गुण होते है, जिनका समावेश इन्हें 41 गुणों में होता है।

1. रूप	2. रस	3.गन्ध	4. स्पर्श
5. संख्या	6. परिमाण	7. पृथक्त्व	8. संयोग
9. विभाग	10. परत्व	11. अपरत्व	12. बुद्धि
13. सुख	14. दु:ख	15. इच्छा	16. द्वेष
17. प्रयत्न	18.गुरूत्व	19. द्रवत्व	20 स्नेह
21. संस्कार	22. धर्म	23. अधर्म	24. शब्द।

ये कुल 24 गुण है आयुर्वेद में धर्म, अधर्म को गुण नहीं माने है ।

गुणो के साधर्म्य और असाधर्म्य को इस तरह प्रतिपादित करते है।

1. गुण का साधर्म्य :– जो गुण परस्पर भिन्न होते हुये भी कुछ अंशों में समानता रखते है उसे साधर्म्य कहते है।

1. सभी गुणों में गुणत्व जाति रहती है।

2. सभी गुण द्रव्य में आश्रीत रहते है।

3. सभी गुण निगुर्ण होते है।

4. सभी गुणों में कोर किया नहीं पाई जाती है।

<u>वैधर्म्य</u> :– 1. रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व और मुर्वादि बीस गुण मूर्त है या व्यक्त होते है और जिसका स्थूल स्वरूप होता है उसमें पाये जाते है।

2. बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द में अमूर्त गुण (आदृश्य) होते है या उनमें पाये जाते है जिन में स्थूल रूप नहीं होता है । जैसे आत्मा और आकाश।

3. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये मूर्त और अमूर्त गुण है। और सभी द्रव्यों में पाये जाते है।

4. संयोग, विभाग कभी भी एक द्रव्य में नहीं पाये जाते है। किन्तु संख्या कभी एक द्रव्य में और कभी अनेक द्रव्य में पायी जाती है।

5. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और गुर्वादि बीस गुण इन्हें विशेष गुण कहते है। क्योंकि इन गुणों के आधार पर ही एक वस्तु दूसरे वस्तु से अलग समझी जाती है।

6. संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरूत्व, द्रवत्व ये सामान्य गुण है अर्थात् ये अनेक द्रव्यों में एक साथ पाई जाती हैं। इनके द्वारा एक वस्तु दूसरे वस्तु से अलग नहीं की जा सकती है।

4. <u>द्रव्य लक्षण</u> :– जिसमें कर्म और गुण आश्रीत रहते है और कर्म एवं गुण को समवाय कारण है उसे द्रव्य कहते है। आकाश आदि पंचमहाभूत, आत्मा मन काल और दिशा ये नौ प्रकार के द्रव्य होते है। पुनः चेतन एवं अचेतन रूप से इनका दो विभाग है। चेतन द्रव्य इन्द्रिय युक्त और अचेतन इंन्द्रिय रहित होते है।

न्याय दर्शन में भी नौ द्रव्य माने है। आचार्यो ने द्रव्य के दो भेद किये है।

1. कारण द्रव्य 2. कार्य द्रव्य ।

1. <u>कारण द्रव्य</u> :– कारण द्रव्य के नौ भेद होते है :–

1. पृथ्वी	2. जल	3. तेज
4. वायु	5. आकाश	6. आत्मा
7.मन	8. काल	9. दिशा

2. <u>कार्य द्रव्य</u> :– आचार्यो ने इसके पुनः दो भेद माने है ।

अ. चेतन   ब. अचेतन

अ. चेतन :– पुनः चेतन द्रव्य के दो भेद होते है।

क. अन्तश्चेतन   ख. बहिरन्तश्चेतन

क. अन्तश्चेतन उसे कहते है जिसमें ज्ञानशक्ति और सुख–दुख का अनुभव होता हो परन्तु अपने पर भाई पित्त या आक्रमण का निराकरण करने में समर्थ नहीं होता हो।

जैसे :– वनस्पति वर्ग, परन्तु कुछ द्रव्यों में अन्तश्चेतन का प्रत्यक्षीकरण मिलता है। जैसे :– लाजवन्ती को पौधों को स्पर्श करने पर पत्तियां सिकुड़ जाती है। और सूर्यमुखी का फूल सूर्य के अनुसार घुमता है। हरफारे बड़ी के पौधे में मेघ गर्जना से फल लगता है आम में मद्य डाल देने से अधिक फल लगती है। बिजौरा नीबू में जन्तुओं की वसा डालने से फल अधिक होती है।

अर्थात् कुछ वनस्पति में अन्तःचेतना रहती है, जो विशेष क्रियाओं से चेतन हो जाती है।

<u>2. बर्हिश्चेतन</u> :– इसके अन्तरगत वह द्रव्य आते है जिनमें अन्तः ज्ञान होता है। और उसके उपर कोई विपत्ति या आक्रमण हो तो उसके निराकरण में समर्थ होता है।

जैसे – मनुष्य, पशु–पक्षी आदि।

ब. अचेतन :– जिन्हें न अन्तः ज्ञान होता है न बाह्य ज्ञान उसे अचेतन द्रव्य कहते है। जैसे – पत्थर, मिट्टी, धातु, उपधातु, खनिज इत्यादि ।

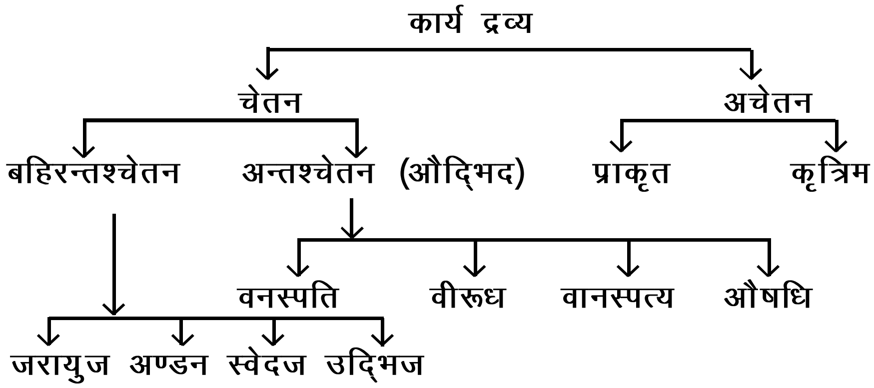

कर्म परिभाषा :— जो एक ही साथ संयोग और विभाग में कारण हो एवं द्रव्य के आश्रित हो उसे कर्म कहते है। कर्तव्य की क्रिया को कर्म कहते है।

4. कर्म लक्षण :— अ. प्रयत्न आदि के द्वारा की गयी चेष्टा को कर्म कहते है।

ब. यत्नपूर्वक अर्थात् श्रमपूर्वक जो चेष्टा की जाती है उसे कर्म माना गया है, या हाथ पैर से जो क्रिया की जाती है उसे कर्म या चेष्टा कहते है। कर्म के अनुसार निम्न भेद है।

1. उत्क्षेपण – उपर जाना ।
2. अवक्षेपण – अधोदेश नीचे जाना ।
3. आकुंचन – सिकोड़ना खीचंना।
4. प्रसारण – फैलना या फैलाना ।
5. गमन – गतिशील होना ।

आयुर्वेद के पंचकर्मो का समावेश कर्म में होता है।

6. समवाय लक्षण :— पृथ्वी आदि द्रव्यों के साथ गुणों का अपृथग्भाव (अलग न होना) ही समवाय द्रव्य रहता है वहॉ समवाय सम्बन्ध से गुण अवश्य रहता है कभी भी द्रव्यों में गुण अनिश्चित नहीं रहता अर्थात् निश्चित ही रहता हैं।

दो वस्तुओ के मध्य के सम्बन्ध को ही समवाय सम्बन्ध कहा जाता है। अर्थात् पृथ्वी आदि आधार द्रव्यों में गुर्वादि गुण, कर्म सामान्य, विशेष भाव का संयुक्त होना उसे ही समवाय कहते है।

पंच महाभूत परिचय :— आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पंच महाभूत कहलाते है।

पंच महाभूतो के गुण :— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।

सर्वप्रथम महाभूत आकाश होता है। सृष्टि में जो अवकाश या पोला पन है वह आकाश महाभूत है। इसमें एक ही गुण शब्द पाया जाता है। परंतु क्रमशः बाद के भूतो के उत्पत्ति में उत्तरोत्तर महाभूतों की उपस्थिति पाई जाती है इसलिए उनमें उनके गुण भी पाये जाते है। जो सूक्ष्म अंश में रहते है।

	महाभूत		गुण
1.	आकाश महाभूत	1.	शब्द प्रधान
2.	वायु महाभूत	2.	स्पर्श प्रधान + शब्द (सुक्ष्म रूप में)

3. अग्नि महाभूत 3. रूप प्रधान + शब्द + स्पर्श (सूक्ष्म रूप में)
4. जल महाभूत 4. रस प्रधान + शब्द + स्पर्श + रूप (सूक्ष्म रूप में)
5. पृथ्वी महाभूत 5. गंध प्रधान + शब्द + स्पर्श + रूप + रस (सूक्ष्म रूप में)

पंच भौतिक जगत में सभी वस्तुएं पंच महाभूतों से उत्पन्न होती हें मनुष्य के शरीर में पंच महाभूत उनके इंद्रियों में अधिष्ठित है और उनकी उपस्थिति में महाभूत कारण होते है। जैसे कि

1. कर्णेन्द्रिय (कान):– यह आकाश महाभूत की सहायता से बनी है जिसमें शब्द गुण की प्रधानता रहती है बाकि चारों महाभूतों के गुण सूक्ष्म रूप में विद्‌यमान रहते है।

2. चक्षु या नेत्र – यह अग्नि महाभूत की सहायता से बनती है जिसमें तेज गुण की प्रधानता होती है और बाकी चार महाभूतों के गुण सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते है।

3. घ्राणेन्द्रिय (नाक):– यह पृथ्वी महाभूत की सहायता में बनता है जिसमें गंध प्रधान गुण होता है शेष आकाशादि महाभूतों के शब्दादि गुण सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते है।

4. रसनेद्रिय (जीभ्या):– यह जल महाभूत की सहायता से बनता है, जिसमें स्पर्श गुण की प्रधानता होती है। शेष चारों महाभूत तथा उसके गुण सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते है।

आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से ही वस्तुओं का वर्णन है, तथा यह चिकित्सा रूप वाली इन्द्रियों से ही संबंधित होता है। जो अदृश्य है उसकी चिकित्सा नहीं होती। अलग–अलग इन्द्रियों में अलग–अलग महाभूतों की प्रधानता होने के कारण वे उनके विशेष गुण को ग्रहण करते है। जैसे कि :–1. कर्ण में आकाश महाभूत की प्रधानता होती है। और वह अपने कारण भूत विषय शब्द को ग्रहण करती है, अतः कान से शब्द का ज्ञान होती है।

2. नेत्र में अग्नि महाभूत की प्रधानता होती है। अतः उसके रूप गुण को ग्रहण कर देखने का ज्ञान होता है।

3. घ्राण में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है। और गंध गुण को ग्रहण करता है तथा गंध या दुर्गंध का ज्ञान होता है।

4. जीभ्या या जीभ – यह जल महाभूत प्रधान होता है, तथा

प्रधान रूप से रस गुण को ग्रहण करता है। अतः रस या स्वाद का ज्ञान होता है।

5. त्वचा –यह वायु महाभूत की प्रधानता से बनती है जिसके प्रधान गुण स्पर्श होता है यह स्पर्श एवं संवेदनाओं को ग्रहण करता है।

<u>पंच महाभूतों की उत्तरोत्तर उत्पति –</u>

1. सिर्फ आकाश महाभूत स्वयं सिद्ध है। अतः इसे नित्य माना गया है, और उसमें एक ही गुण शब्द पाया जाता है।
2. वायु महाभूत की उत्पत्ति आकाश महाभूत से होती है। अतः उसमें शब्द और स्पर्श दोनों गुण होते है।
3. अग्नि महाभूत की उत्पत्ति आकाश और वायु महाभूत से होती है।
4. जल महाभूत की उत्पत्ति आकाश, वायु अग्नि, महाभूतों से होती है।
5. पृथ्वी महाभूतों की उत्पत्ति आकाश, वायु, अग्नि, जल महाभूतों से होती है।

इस कारण क्रमशः बाद के महाभूतों में अपने प्रधान गुण के साथ अन्य महाभूतों के गुण भी विद्‌यमान रहते है।

<u>महाभूतों के लक्षण :–</u>

1. आकाश – अव्यक्त ।
2. वायु – चलत्व, गति ।
3. अग्नि – उष्णत्व या उष्णता ।
4. जल – द्रवत्व या द्रव होना ।
5. पृथ्वी – खरत्व या रूखापन ।

उपरोक्त सभी महाभूतों के लक्षणों का ज्ञान स्पर्शेन्द्रिय या त्वचा से होती है।

<u>तन्मात्रा</u> – महाभूतों के सूक्ष्म गुणों को ही तन्मात्रा कहते है। यह गुण स्थूल हो जाने पर अर्थ कहलाता है। अतः पंच महाभूतों के गुणों के अनुसार तन्मात्राएं भी पांच होती है जिनकी उत्पत्ति महाभूतों से होती है।

1. शब्द तन्मात्रा ।
2. स्पर्श तन्मात्रा ।
3. रूप तन्मात्रा ।
4. रस तन्मात्रा ।
5. गंध तन्मात्रा ।

सारांश –

अपने रस इकाई में आयुर्वेद शास्त्र के विषय में सामान्य

जानकारी का अध्ययन किये है। और आप स्वयं इस विषय की जानकारी दे सकते है।

2. आयुर्वेद शास्त्र का परिचय परिभाषा का अध्ययन किये है।

3. आयु एवं स्वास्थ की परिभाषा का अध्ययन किये है।

4. सृष्टि में आयुर्वेद विज्ञान का प्रचार प्रसार की परम्परा एवं वेदो में आयुर्वेदों की उपस्थिति का अध्ययन किये है।

5. इस इकाई में आप ने आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के विस्तृत विभाजन एवं उन विभागों की विशेषताओं का अध्ययन किये है।

6. पंच महाभूत का परिचय एवं गुण, धर्म का ज्ञान प्राप्त करेगें।

7. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप उपरोक्त विषयों का सरल एवं सुबोध ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

अभ्यास प्रश्न :-

1. आयुर्वेद शास्त्र की परिभाषा बताते हुये परिभाषा की व्याख्या करें।
2. आयु से आप क्या समझते है विस्तृत व्याख्या करें ।
3. आयुर्वेद का इतिहास बताइये।
3. आयुर्वेद अवतरण को संक्षिप्त में बताते हुये वेदो से संबंध बताये।
4. अष्टॉग आयुर्वेद से आप क्या समझते हैं इनके विभागों की विशेषता बताएं ।
5. पंच महाभूत किसे कहते है प्रत्येक की गुण एवं कर्म बतायें।

पाठक्रम आयुर्वेद प्रबोध
प्रथम प्रश्न पत्र
इकाई – २
(त्रिदोष – सिद्धान्त)

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु –

☸ शारीरिक दोषों की उत्पत्ति एवं कार्य ।

☸ चतुर्विसन्ति पुरूष, षड् पुरूष विवेचना।

☸ दोषों के नाम, गुण, कर्म एवं शरीर में स्थान।

☸ दोषों के प्रकार, उनके गुण कर्म एवं शरीर में स्थान।

☸ मानस गुण एवं दोषों की विवेचना।

4. सारांश
5. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य :–

आयुर्वेद प्रबोध पाठयक्रम के प्रथम प्रश्न पत्र की दुसरी इकाई है। इस इकाई में आप –

(1) सृष्टि में पदार्थो एवं जीवों की उत्पत्ति में कारणों का अध्ययन करेंगे।

(2) प्राणी शरीर में स्थित दोषों (वात, पित, कफ) का परिचय का अध्ययन करेंगे।

(3) उनके प्राकृत गुणों का वर्णन करेंगें।

(4) अपने प्राकृत गुणों से शरीर में उनके द्वारा सम्पादित कर्मो का अध्ययन करेंगे।

(5) दोषों के भेदो, उनके गुणों, कर्मो एवं शरीर में स्थान की विवेचना करेंगे।

(6) मन के गुण एवं दोषों का अध्ययन करेंगे।

1

प्रस्तावना :–

आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम में प्रथम प्रश्नपत्र की द्वितीय इकाई है। इस इकाई के पूर्व आप आयुर्वेद की परिभाषा, परिचय, प्रयोजन, आयु की परिभाषा, आयुर्वेद का अवतरण एवं इतिहास, आयुर्वेद दर्शन, चिकित्सार्थ किये गये विभाजन तथा विशेषता का अध्ययन किये है जिसके अध्ययन से आयुर्वेद शास्त्र को प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त हो गया होगा। इस इकाई में आप आयुर्वेद के मूल सिद्धांत दोषों का अध्ययन करेंगे। दोषों का प्राकृत, गुण, कर्म, शरीर में स्थान एवं उनके भेदों के साथ भेदों के गुण, कर्म एवं शरीर में स्थान कि विवेचना करते हुये मन के गुण एवं षड्धातुज पुरूष जिसे कित्सकीय पुरूष माना है। इसका अध्ययन करेंगें।

विषय वस्तु

सृष्टि की उत्पत्ति

भारत में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओ को माना जाता है तथा विभिन्न विज्ञान भी इन्ही विचारधाराओं पर आधारित है। अतः विभिन्न

प्राचीन विद्वानों का अलग अलग विचारों को दर्शन कहा जाता है। दर्शन दो भागों में विभक्त है :–

(1) आस्तिक (2) नास्तिक

जो दर्शन ईश्वर एवं पौराणिक वेदों पर आस्था रखते है, या अनुसरण करते है, उन्हे आस्तिक, और जो इनको नहीं मानते है नास्तिक कहलाते है। इन दर्शनों को आचार्यो ने अपने अपने अनुभवों के आधार पर सिद्ध किये है। प्रमुख दर्शन निम्न है।

आस्तिक	नास्तिक
1. सांख्य	1. बौद्ध
2. योग	2. जैन
3. वैशषिक	3. चार्वाक
4. पूर्व मिमांसा	
5. उत्तर मिमांसा	

सृष्टि की उत्पत्ति में सांख्य दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के तर्क पर आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यो ने भी अपने अपने मत प्रकट किये है।

25 तत्व :– सांख्य दर्शन 25 तत्वों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। 24 तत्वों को जड़ और पुरूष को चेतन मानकर 25 तत्वों को प्रतिपादित किया है।

चतुर्विसंति पुरूष

आयुर्वेद वाड़मंय में सृष्टि की उत्पति के संबंध में अनेक मतमतान्तर है। चतुर्विसन्ति पुरूष का अर्थ है 24 तत्वों से बना मानव शरीर। इस चतुर्विसन्ति पुरूष सांख्य दर्शन के अनुसार माना गया है वह पुरूष जो चिकित्सीय है या जिसकी चिकित्सा जा सकती है वह 24 चौबीस तत्वों का बना है। आयुर्वेद सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति में उपरोक्त चौबीस तत्व निम्न है।

प्रकृति

2. सात महत् आदि – ये सभी तत्व आयुर्वेद दर्शन के तत्व है

जो सांख्य दर्शन का अनुगामी है जैसे 1 महान् 2. तन्मात्रा जो पांच होते है। (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध तन्मात्रा)

3. सोलह विकार जैसे :

अ. पांच ज्ञानेन्द्रिय।

ब. पांच कर्मेन्द्रिय।

स. एक मन जिसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों माना गया है।

द. पांच महाभूत – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

इस तरह सात महत् आदि : प्रकृति + सोलह विकार = 24 तत्व माने है।

<u>दोषों के नाम, उत्पति एवं गुणकर्म :–</u>

शारीरिक दोषो के बारे में अध्ययन करने पूर्व हम यह जानते है कि हमारा शरीर पंच महाभूतों से बना है और शरीरगत समस्त तत्व पंच भूतात्मक है। आयुर्वेद साहित्य शरीर के निर्माण में दोष, धातु मल को प्रधान माना है और कहा गया है कि दोष धातु मल मूलम ही शरीरम्''

आयुर्वेद का प्रयोजन शरीर में स्थित इन दोष, धातु एवं मलों को साम्य अवस्था में रखना जिससे स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य बना रहे एवं दोष धातु मलों की असमान्य अवस्था होने पर उत्पन्न विकृति या रोग की चिकित्सा करना है।

<u>शरीरगत् दोष :–</u>

1. वात 2. पित्त 3. कफ

ये तीन शारीरिक दोष माने गये है ये दोष असात्म्य आहार, विहार से विकृत या दूषित हो जाते है इसलिए इसे दोष कहा जाता है। शरीरगत् अन्य धातु आदि तत्व इन्हे दोषों के द्वारा दूषित होता है ये तीनो दोषों को शरीर का स्तम्भ कहा जाता है इनके प्राकृत अवस्था एवं सम मात्रा ही शरीर को स्वस्थ रखता है, यदि इनका क्षय या वृद्धि होती है, तो शरीर में विकृति या रोग उत्पन्न हो जाती है।

<u>पंचमहाभूतों से दोषों की उत्पत्ति :–</u>

1. सृष्टि में व्याप्त वायु महाभूत से शरीरगत वात दोष की

उत्पति होती है

2. अग्नि से पित्त दोष की।

3. जल तथा पृथ्वी महाभूतों से कफ दोष की उत्पति होती है।

अर्थात शरीर रक्त आदि धातु से निर्मित होता है एवं मल शरीर को स्तंभ की तरह सम्हाले हुये है। दोष, धातु, मल प्राकृतिक रूप से रहकर उचित आहार विहार करने वाल शरीर धारण करते है। शरीर की क्षय, वृद्धि, शरीरगत् अवयवों द्रव्यो की विकृति, आरोग्यता–अनारोग्यता, इन दोष धातु मलों पर ही आधारित है यद्यपि शरीर के लिए दोष धातु मल तीनों प्रधान द्रव्य है फिर भी शारीरिक क्रिया के लिए वातादि दोषों के अधिक क्रिया शील होने से शरीर में दोष वर्ग की प्रधानता रहती है।

तीनों दोषो में सर्वप्रथम वात दोष ही विरूद्ध आहार विहार से प्रकुपित होता है और अन्य दोष एवं धातु को दूषित कर रोग उत्पन्न करता है। वात दोष प्राकृत रूप से प्राणियों का प्राण माना गया है।

आयुर्वेद शास्त्र में शरीर रचना, क्रिया एवं विकृतियों का वर्णन एवं भेद और चिकित्सा व्यवस्था दोषों के अनुसार ही किया जाता है।

वात दोष परिचय :–

आयुर्वेद के अनुसार सृष्टि में सभी पदार्थो का निर्माण पंचमहाभूतों से होती है। अर्थात सम्पूर्ण जगत महाभूतों से व्याप्त है अतः तीनों दोष भी पंचभौतिक है वात दोष की उत्पति आकाश एवं वायु महाभूतो से होती है शेष अग्नि एवं जल और पृथ्वी महाभूत भी अल्परूप में विद्यमान रहती है।

स्वरूप :–

वायु एक अमूर्त (आकार रहित) द्रव्य है जिसका संगठन पंचभौतिक है। अमूर्त होने से उसका आकार दिखाई नहीं देता, परन्तु उसका ज्ञान उनके गुण एवं कर्मो से किया जाता है। अर्थात वात के गुणों को ही उसका स्वरूप मानते है।

वात के गुण :–

शारीरिक दोष वात के गुणो को तीन वर्ग में बाटों गया है। (1). नैसर्गिक गुण (2). प्राकृतिक गुण (3). भौतिक गुण

1. नैसर्गिक गुण :– यह वह गुण है, जो उस द्रव्य के निर्माण में सांलिप्त महाभूत का होता है, चूकि–वात की उत्पत्ति में आकाश एवं वायु महाभूत की प्रधानता होती है। अतः आकाश महाभूत के प्राकृत गुण शब्द एवं वायु महाभूत के प्राकृत गुण स्पर्श है, अतः वात दोष का नैसर्गिक गुण है शब्द एवं स्पर्श है।

2. प्राकृतिक गुण :– आयुर्वेद के आचार्यो ने प्रकृति को त्रिगुणात्मक (सत्व, रज, तम) माना है। अतः प्रकृति के सभी पदार्थ में ये गुण मिलते है। अलग महाभूतों अलग अलग प्राकृतिक गुण होते है वायु महाभूत को रजगुण प्रधान माना है अत शारीरिक दोष वात भी प्राकृत गुण रज है।

3. भौतिक गुण :– पूर्व में बताया गया है कि शरीर गत वात दोष की उत्पति आकाश एवं वायु महाभूत से हुई है, साथ ही अन्य तीनों महाभूत (अग्नि, जल, पृथ्वी) भी अल्प मात्रा में रहते है। अतः इनके गुण भी वात दोष में विद्यमान रहते है। और इन्हें भौतिक गुण कहा जाता है।

1. रूक्ष – (रूक्षता, रूखापन)
2. शीतल – (ठंडकता या शीतलता)
3. लघु – (हल्का, भाररहित)
4. सूक्ष्म – (आसानी से दिखाई नहीं देने वाला)
5. चल – (गति)
6. विशद – (कषाय या कसैला स्वाद)
7. खर – (खुरदुरापन)

ये सात वात दोष के भौतिक गुण है।

वात के कर्म :–

वात दोष शरीर के अन्दर निम्न प्राकृत कर्म करते है इस कर्म के द्वारा वात शरीर का धारण कर शारीरिक क्रिया का संचालन करता है।

1. शरीर की सभी प्रकार की चेष्टाएं जैसे चलना, बोलना, स्वास लेना–छोड़ना हृदय की गति इत्यादि।

2. रस – रक्त का सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण (एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचना)।

3. तंत्रिका तंत्र के द्वारा संवेदनाओं का आदान प्रदान।

4. मल, मूत्र, गर्भ, शुक्र का शरीर से बाहर विसर्जन (निकलना)।

5. मन को नियंत्रित करना, या इन्द्रियों को उसके विषय प्रति प्रेरित करना, उनके प्राकृत कर्म में संलग्न रखना।

6. वाणी या मुंह से शब्दों को निकालना।

7. सूक्ष्म होने के कारण सभी सूक्ष्म और बृहद् (बड़ी) स्त्रोतो, (नाड़ियॉ, नलियों) में उसके पदार्थो का निर्बाध वहन करना।

उदा :–

रक्त की शिराओ में उत्पन्न बाधा को दूर करना या मल–मूत्र आदि नाड़ी में मल–मूत्र को प्रेरित कर बाहर निकालना आदि।

8 आयु के अनुसार शरीर के आकृति का निर्माण करना इत्यादि।

वात्दोष का शरीर में स्थान – वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर अपने प्राकृत कर्म को प्रतिपादित (सम्पन्न) करता है। फिर भी कुछ विशेष स्थान निश्चित है जहां वायु स्थिर रहकर प्राकृत कर्मो को सम्पन्न करता है।

पक्वाशय, कटि, स्त्रोत रसादि धातुओं को वहन करने वाली नाड़ियां, अस्थि, त्वचा ये वायु के मुख्य स्थान है उपर्युक्त स्थानों में से आचार्यो ने पक्वाशय को वायु का मुख्य स्थान माना है। क्योकि सेवन किया गया भोजन की पाचन क्रिया पक्वाशय में सम्पन्न होती है, और वही वात की उत्पति होती है।

वात के प्रकार :– सम्पूर्ण शरीर में वायु एक ही रूप में रहता है फिर भी भिन्न–भिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न कर्म करता है। अतः स्थान एवं कर्म के अनुसार भेद माने है।

1. प्राण वायु 2. उदान वायु 3. समान वायु 4. व्यान वायु 5. अपान वायु

1. प्राण वायु :– यह मनुष्य को जीवन देने वाला और जीवन यापन में सहायक होता है। स्थानः– मेधा (बुद्धि का स्थान) कण्ठ प्रदेश, जिभ्या, मुख, नासिका, इसके मुख्य स्थान है। मुख के द्वारा ग्रहण किये आहार को आमाशय में पहुंचना, थूकना, छिकना, उद्‌गार (डकार) स्वास लेना–छोड़ना इसका मुख्य कार्य है।

2. उदान वायु :– उदान वायु वाणी या मुख से शब्दों को निकालती है या वाणी की प्रवृत्ति करती है। इसका स्थान नाभि, वक्ष (छाती) और कण्ठ प्रदेश है।

कर्म – शरीर में उर्जा का निर्माण करना, बल की वृद्धि एवं वाणी या बोलने की क्रिया को सम्पादित करना। उपर की ओर गति करना शारीरिक शक्ति की रक्षा, मन, बुद्धि, स्मृति को बढ़ाना।

3. समान वायु :– उदर (पेट), क्षुद्रान्त्र (छोटी ऑत), नाभि प्रदेश, बृहद् आंत्र (बड़ी ऑत) ये समान वायु के स्थान हैं।

कर्म – 1. आंत्र प्रदेश में रहकर पाचक रसों को स्त्रावित करना।

2. भोजन के पाचन में सहायक होना।

3. भोजन में उपस्थित पोषक तत्वों को शरीर के अनुकूल बनाना।

4. पोषक तत्वों का अवशोषण करना।

5. रस, रक्त धातुओं के पोषण करना।

अपान वायु – बृहद् आंत्र व कटि के सभी अंग ये सभी अंग समान वायु के स्थान हैं।

कर्म – 1. मल, मूत्र, आर्तव (स्त्रियों के गर्भाशय से निकलने वाली मासिक रक्त स्त्राव) गर्भ को बाहर निकालना।

2. आंतो में उत्पन्न होने वाली विकृत वायु (गैसों) को बाहर निकालना।

3. पुरूषों में शुक्र को बाहर निकालना।

व्यान वायु :– व्यान वायु का मुख्य स्थान हृदय है। व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हुये रस का संवहनन एवं परिवहन करता है।

कर्म – 1. स्वेद या पसीना का स्त्राव कराना।

2. रक्त का सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण कराना।

3. शरीर की समस्त चेष्ठाएं जैसे हाथ, पैरों में गति, सिकुड़ना, फैलना इत्यादि कार्य करता है।

<u>पित्त दोष :–</u>

<u>परिचय</u> :– शरीर में स्थित अग्नि, उष्णता, दाह आदि पित्त दोष की उपस्थिति को दर्शाता है। जो शरीर में ताप, उष्मा उत्पन्न कराता है, उसे पित्त दोष कहते है। यह शरीर में अग्नि भाव को उत्पन्न करता है, एवं अग्नि सदृश्य गुणधर्मो को सम्पादित करता है। पंचभौतिक रचना के अनुसार पित्त की उत्पति अग्नि एवं जल महाभूत से हुई है। शेष महाभूत अल्पअंशों में विद्यमान रहते है।

<u>पित्त दोष के गुण</u> :–

1. उष्णता – गरमाहरट

2. तीक्ष्ण – तीक्षण्ता किसी भी पदार्थ को गलाने की शक्ति।

3. द्रव्य – द्रवता या जलीय।

4. विश्रणं गंध – आम्र या खट्टी गंध ।

5. कटु व अम्ल – स्वाद में चटपटा ताथ खट्टा होना।

प्राकृत कर्म – 1. नेत्रों द्वारा देखने की क्रिया।

2. खाए हुये आहार का परिपाचन या पाचन करना।

3. शरीर में उष्मा का निर्माण करना।

4. शरीर में भूख और प्यास को उत्पन्न करना।

5. शरीर में मृदुता एवं कोमलता उत्पन्न करना।

6. शरीर के विषैली तत्व को जलाना।

उपरोक्त कर्म को पित्त शरीर में सम अवस्था में रहकर करता है।

<u>पित्तदोष के भेद</u> :– गुण कर्मो, के अनुसार पित्त के निम्न भेद बनाये है।

1. पाचक पित्त 2. रंजक पित्त 3. साधक पित्त 4. आलोचक पित्त 5. भ्राजक पित्त

1. <u>पाचक पित्त</u> :– पाचक पित्त का मुख्य स्थान आमाशय, छोटी आंत एवं ग्रहणी है। पाचक पित्त को ही भूताग्नि कहते है।

<u>कर्म</u> –

1. पाचक पित्त शरीर के सूक्ष्मतम् पाचक का आधारभूत है, इसके द्वारा भोजन का पाचन होते है।

2. अंशों में पोषक तत्वों का परिपाक किया जाता है जिससे वह शरीर में पूर्णतः अवशोषित हो सके।

3. धात्वाग्नि का आहार रस पर क्रिया या धातुओं एवं रसादि का निर्माण करना।

4. पाचक पित्त शक्तिशाली होने के कारण अपने स्थान में रहते हुये अग्नियों को नियंत्रित या उनके कर्मो को सुचारू रूप से संचालित करती है।

5. भोजन का पाचन करके उसके प्रसाद अंश एवं मल अंश का विवेचन करता है।

<u>रंजक पित्त स्थान एवं कर्म</u> :– रंजक पित्त का स्थान प्लीहा हैं।

<u>कर्म</u> :–

1. आहार रस का रंजन (रगंना) करके उसे लाल रंग प्रदान करना अर्थात रक्त का निर्माण करना।

2. शरीर में स्थित रक्त, मूत्र, मल, त्वचा, केश एवं नेत्रो को रंग देना इत्यादि।

<u>साधक पित्त का स्थान एवं कर्म</u> :–

<u>स्थान</u> – शरीर के सबसे महत्व पूर्ण अवयव हृदय साधक पित्त का स्थान है। साधक पित्त को साधक अग्नि भी कहा जाता है।

<u>कर्म</u> – 1. हृदय में रहकर हृदय को आवृत करने वाले मानस दोष तम् आदि को दूर करता है।

2. हृदय बुद्धि और इन्द्रियों को निर्मलता प्रदान करता है।

<u>आलोचक पित्त स्थान एवं कर्म</u> :– स्थान – शरीर में नेत्र आलोचक पित्त का स्थान है।

कर्म – 1. नेत्रों में रहकर ज्योति प्रदान करना।

2. नेत्र के माध्यम से देखने की क्रिया में सहायक होना।

3. देखने से विषयों के रूप रंगों का विश्लेषण करता है। इसलिए इसे आलोचक पित्त कहते है।

भ्राजक पित्त का स्थान एवं कर्म :–

स्थान – त्वचा प्रदेश में रहने वाले पित्त को भ्राजक पित्त कहते है।

कर्म –

1. त्वचा में स्थित होकर शरीर में अभ्यंग (मालिस) लेप, उबटन परिषेक, (जल युक्त औषधि द्रव्यों का छिड़काव) अवगाहन (नहाना) आदि प्रयुक्त द्रव्यों का पाचन एवं अवशोषण करता है।

2. त्वचा में रहकर, त्वचा के वर्ण या रंग को प्रकाशित करता है।

3. स्वेद (पसीना) वहन करने वाली स्वेद ग्रांन्थियों को भी प्रभावित करता है।

कफ के भेद :– 1. क्लेदक कफ 2. अवलंबक कफ, 3. बोधक कफ 4. श्लेषक कफ 5. तर्पक कफ

क्लेदक कफ का स्थान एवं कर्म :–

स्थान – क्लेदक कफ आमाशय में रहता है।

कर्म –

1. खाये हुये अन्न का क्लेदन या लेह बना करके उसे पचाने में सहायक होता है

2. भोजन के अम्लीय एवं क्षारीय प्रभाव का मधुर रस में परिवर्तन करना।

अवलम्बक कफ का स्थान एवं कर्म :–

स्थान – अवलम्बक कफ हृदय प्रदेश में रहता है।

कर्म –

1. हृदय को प्राकृत अवस्था में रखता है।

2. हृदय में साहित्य भावों को उत्पन्न करता है कई आचार्यो ने

अवलम्बक कफ को ओज माना है।

श्लेष्क कफः– इसका मुख्य स्थान अस्थि संधियां हैं।

कर्मः–

1: संधियों को घर्षण से बचाना।

2: संधियों को गति प्रदान करना।

3: संधियों को स्नेह तत्वों की पूर्ति करना।

तर्पक कफ का स्थान एवं कर्मः– तर्पक कफ सिर प्रदेश या मस्तिष्क में स्थित होता हैं।

कर्मः–

1: सिर में स्थित होकर सभी इंद्रियो को तृप्त करना।

2: मस्तिष्क में बुद्धि, स्मृति आदि भावो को बल प्रदान करना।

मन का स्वरूप :–

आयुर्वेद एवं योग शास्त्र में मन के अस्तित्व पर विशेष महत्व दिया गया है इससे संबंधित सिद्धांत महत्वपूर्ण एवं सार्थक सिद्धांत है। आयुर्वेद में रोगों को मुख्यतः दो श्रेणियों में बांटा गया है।

(1) शारीरिक (2) मानसिक

शारीरिक रोगों में रोग का अधिष्ठान अथवा आधार शरीर को माना गया है तो मानसिक रोगों में मन को। परन्तु दोनो ही प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में मन एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शरीर की भौतिक एवं शारीरिक क्रियाओं का नियंत्रण मानसिक तत्व करते है, तो मानसिक क्रियाओं का नियत्रंण शारीरिक तत्व। इस प्रकार दोनों का आपस में गहरा संबंध है। इसलिए कुछ शारीरिक रोगों की चिकित्सा के लिए भी आयुर्वेद में मानसिक उपायों को विशेष महत्व दिया गया है।

योग शास्त्र में भी मन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। योग का प्रमुख उद्देश्य है – मन की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को रोकना। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र की प्रस्तावना में भी इस तथ्य को बहुत महत्व प्रदान किया है। योग के अनेक सम्प्रदाय अपने–अपने अनुयायिओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के यौगिक साधनों का विधान करते है।

परन्तु सभी सम्प्रदाय मन व उसकी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के नियत्रंण पर बल देते है। क्योकि मन और उसकी वृत्तियों को वश में करके ही कोई मनुष्य शाश्वत सत्य अथवा मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है। योग के सभी अंग तथा विभिन्न क्रियाएं यथा–मंत्रोच्चारण, आसन, प्राणायाम, संयमित भोजन का ही दृढ़ता पूर्वक पालन करना व्रत–उपवास आदि का पालन करना तथा इसी प्रकार के अन्य धार्मिक कृत्य प्रधानतया मनुष्य के मानसिक विकारों को दूर करते है। इन मानसिक विकारों को दूर करके तथा अपने पथ पर दृढ़ रहकर ही योगी शान्तिपूर्वक और सरलता से अध्यात्मिक उन्नति कर सकता है।

मन के पर्याय :– आयुर्वेद योग तथा इससे सम्बन्धित ग्रन्थों में "मानस" शब्द का प्रयोग प्रायः मन के लिए किया गया है मानस शब्द की उत्पत्ति मन धातु से हुई है जिसका अर्थ वह उपकरण या साधन है जो किसी घटना अथवा विचार के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। चित्त, चैत, हृदय शेष महाभूत अल्पअंशों में विद्यमान रहते है। तथा हृदय ये सब शब्द मन के संस्कृत पर्यायवाची है। प्रसंगानुसार इन सभी संस्कृत शब्दों का अपना–अपना अर्थ है। उदाहरणार्थ (हृदयप्रदेश) जो मन का आश्रय स्थान है। चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार इन चार अन्तःकरणों ग्रहण करने के आन्तरिक साधन में से एक तत्व है। यह किसी भी घटना एवं तथ्य को ग्रहण करने के लिए उत्तरदायी होता है। इस प्रकार ये सभी पर्यायवायी शब्द मन के विभिन्न गुणों और उसके अलग अलग पहलुओं का वर्णन करते है।

मानस गुण एवं कर्मः–

आत्मा का ज्ञान कराने वाला साधन जैसे इंद्रिय आंख, घ्राण इत्यादि का आत्मा से संबंध बनाने वाली कड़ी मन हैं। इंद्रियो का कार्य केवल विषयों को ग्रहण करना हैं। मन उसे बुद्धित्व के पास ले जाता हैं जहा ज्ञान संग्रहित होती हैं। यह क्रिया बहुत तीव्र गति से होती हैं। ज्ञान का होना, ना होना, मन के अस्तित्व का लक्षण हैं। मन ही मनुष्य को शुभ–अशुभ कर्मो के लिए प्रेरित करता हैं। मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों में होती हैं।

मन के गुणः– मन के ये तीन गुण हैं। ये मानसिक गुण भी प्राकृत

अवस्था में शरीर को धारण करने वाले और विकृति होने पर व्याधि उत्पन्न करने वाले होते हैं। आयुर्वेद में सत्व गुण को निर्मल कहा जाता हैं । किसी भी दोष से सत्व गुण प्रभावित नही होता रज ओर तम विकृत होकर मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं। इन्हें मानसिक दोष कहा जाता हैं।

कर्मः— चिंता, तर्क, ध्यान, संकल्प, इंद्रियो को अपने विषय में प्रेरित करना, हित अहित विषयो का भेद करना ये मन के कर्म हैं।

मन का संबंध आत्मा से होता हैं व आत्मा का स्थान हृदय होता हैं। अतः मन का स्थान भी हृदय को मानते हैं। मन का कर्म क्षेत्र संपूर्ण शरीर होता हैं एवं मन मस्तिष्क के द्वारा नियंत्रित होता हैं मन में सत्व गुण की प्रधानता रहने पर व्यक्ति शुभ एवं अच्छे कर्मो को करता हैं। परंतु रज एवं तम गुण युक्त होने पर अशुभ या बुरे कर्मो की ओर आकर्षित होता हैं।

मन के लक्षण :— आत्मा, इंद्रिय और विषयो का संयोग होने पर जब मन का सान्निध्य होता है, तब ज्ञान प्राप्त होता हैं अर्थात आत्मा, इंद्रिय और विषयो का संयोग होने पर भी मन का सान्निध्य ना होने पर ज्ञान नही होता हैं। इस तरह ज्ञान का होना, ना होना मन का लक्षण कहा जाता हैं।

उदाः जब मन किसी गंभीर विचारो में मग्न हो जाता है, तो पास रखी घड़ी का शब्द सुनाई नहीं देता, यद्यपि शब्द की तरंगे कानो तक आती है, पर मन का संबंध बुद्धि से होता है कर्ण इंद्रिय से नही अतः शब्द का ज्ञान नहीं हो पाता।

मन के विषय में महाभारत में कहा गया हैं कि नेत्र के द्वारा देखे जाने पर भी उस वस्तु का बोध नहीं होता है बोध तब होता है जब उस विषय के प्रति आकर्षित होता हैं। अर्थात जब चार व्यक्ति अपने कार्यो मे व्यस्त रहते है, तथा उस चर्चा का विषय पूछे जाने पर अनभिज्ञता प्रकट करता हैं।

मन के गुणः— अणुत्व और एकत्व मन के गुण हैं मन आकाश की तरह व्यापक होता हैं और इसका संबंध सभी इंद्रियो से एक साथ बना होता हैं।

पंचमहाभूतो का मानसिक गुणः—

1. आकाश — सत्व गुण प्रधान

2. वायु – रजो गुण प्रधान
3. अग्नि – सत्व गुण एवं तमगुण प्रधान
4. जल – सत्व एवं तमोगुण प्रधान
5. पृथ्वी – तमोगुण प्रधान

सारांश –

इस इकाई में शारीरिक दोषों का अध्ययन किया है जिससे आप अपने स्वयं के शरीर में उसके दोषों की स्थिति में की जानकारी रख सकेंगे।

दोषों के प्राकृत कर्मो का अध्ययन कर अपने स्वास्थ आंकलन कर सकेंगे। वात वित्त कफ के भेदो एवं स्थानों तथा उनके प्राकृत गुण कर्म का ज्ञान रख सकेंगे।

सृष्टि के उत्पत्ति कम में प्रकृति का निर्माण एवं उत्पत्ति क्रय नीहित तत्वों का आप स्वयं 24 तत्वों एवं छः धातुज पुरूष का चिकित्सा जगत में उपलब्धि का ज्ञान ले सकते है।

मन का परिचय, कर्म गुण का ज्ञान कर सकते है।

अभ्यास प्रश्न :–

1. आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित सृष्टि के उत्पत्ति क्रम की विशेषताएं लिखें।
2. त्रिदोष से आप समझते है।
3. दोषों के प्राकृत गुण कर्मों का वर्णन करें।
4. वात दोष के भेद उनके अधिष्ठान एवं कर्मो का वर्णन करें।
5 पित्त दोष के भेद उनके अधिष्ठान एवं कर्मो का वर्णन करें।
6 कफ दोष के भेद उनके अधिष्ठान एवं कर्मो का वर्णन करें।
7 मन का परिचय देते हुए उनके लक्षण, गुण कर्म को प्रतिपादित करें।

पाठ्यक्रम आयुर्वेद प्रबोध

प्रथम प्रश्न पत्र

इकाई –3

(धातु–उपधातु एवं मल–विज्ञान)

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु ।
   सप्तधातु परिचय।
   उपधातु एवं मल परिचय।
   दोष धातु मलो की क्षय वृद्धि कारण एवं लक्षण।
   दोष धातु मल मूलं ही शारीरम्।
   आहार रस से धातु उपधातु मलों का उत्पत्ति क्रम।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

उद्देश्य :— आप इस इकाई में शरीर को धारण करने वाले सप्तधातुओं के नाम एवं उनका परिचय का अध्ययन करेंगे। साथ ही उपधातु एवं मलों का संक्षिप्त परिचय उपरोक्त सभी तत्वों की क्षय वृद्धि का कारण एवं लक्षण का वर्णन है। इस इकाई के अध्ययन पश्चात् आप—

(1) मानव शरीर के मूलभूत पदार्थ धातु, उपधातु एवं मलों का विवेचन कर सकेंगे।

(2) इनके प्राकृत एवं विकृत अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकेगे।

(3) दोष धातु मल मूलं ही शरीरम्।

(4) भोजन से इन पदार्थो का क्रमशः पोषण की क्रिया को समझ सकेंगे।

<u>प्रस्तावना</u> :— आपने पूर्व में शरीर के मूल या आधारभूत पदार्थ दोषादि के बारे में अध्ययन किया। अब दोष के बाद धातु, उपधातु एवं मलों का अध्ययन करेंगे। साथ ही इसकी विकृत स्थिति तथा विकृति से उत्पन्न लक्षणों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन पश्चात छात्र अपने दैनिक व्यवहार में अपने ही शरीर की प्राकृत एवं विकृत अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। एवं अपने दैनिक क्रिया कलापों का सुधार कर जीवन स्वस्थ व्यतीत करेंगे।

धातु विवेचन :— धारणात् धातवः

जो शरीर का धारण करता है वह धातु है।

धातु शरीर के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। धातुयें शरीर को धारण करने का कार्य स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से करते हुये, अपने गुणकर्मो के द्वारा शरीर को सतत् पोषण प्रदान करती है। शरीर की, शरीर अवयवों की तथा शरीरगत अन्य भागों की वृद्धि एवं क्षय करने में समर्थ होती है।

धातुओं की संख्या एवं क्रम :— 1. रस 2. रक्त 3. मांस 4. मेद 5. अस्थि 6. मज्जा 7. शुक्र।

ये सभी धातुएं दोषों द्वारा दूषित की जाती है अतः इन्हें दूष्य भी कहते है। ये सातों धातुएं अपने भिन्न भिन्न कार्यो के द्वारा शरीर का उपकार करती हुई शरीर को स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान करती है।

<u>पंचमहाभूतों से धातु की उत्पत्ति</u> :—

धातु		महाभूत
1.रस (प्लाज्मा)+		जल महाभूत प्रधान (अन्य महाभूत सूक्ष्म रूप मे विद्यमान होते है)
2.	रक्त +	अग्नि,जल,पृथ्वी (वायु+आकाश सूक्ष्म रूप में)
3.	मांस +	पृथ्वी (चार महाभूत सूक्ष्म रूप में)
4.	भेद +	पृथ्वी + जल (तीन महाभूत सूक्ष्म रूप में)
5.	अस्थि +	पृथ्वी + आकाश (तीन महाभूत सूक्ष्म रूप में)
6.	मज्जा +	जल (चार महाभूत सूक्ष्म रूप में)
7.	शुक्र +	जल (चार महाभूत सूक्ष्म रूप में)

<u>उपधातु</u> :– शरीर में धातु के समान ही गुण कर्म करने वाले कुछ विशेष भाव होते है जिन्हें उपधातु कहा जाता है। ये धातु के ही रूप होते है एवं इनकी उत्पत्ति धातुओं से ही होती है। आहार रस से धातु की उत्पत्ति के समय उसके उपधातु तथा मलो का निर्माण होता है यह उपधातु भी शरीर के लिये उपयोगी होता हैं।

भोजन + पाचन = आहार रस + अग्नि – 13

1. जाठराग्नि – 1
2. पंचभूताग्नि – 5
3. धात्वाग्नि – 7

आहार रस के तीन भाग

1 प्रसाद 2 धातु 3 मल

क.	धातु	उपधातु	मल
1	रस	स्तन्य (स्त्री दुग्ध)	जीभ, नेत्र, आंसू का मल
2	रक्त	आर्तव	रंजक पित्त
3	मांस	वसा	कान का मैल
4	मेद (वसा)	स्वेद	जीभ, दांत, लिंग के मल
5	अस्थि	दांत	नाखून
6	मज्जा	केश	नेत्र के कीचड़
7	शुक्र	ओज	युवान पिड़िका, कील मुहासें

<u>दोष धातु मल मूलं ही शरीरम्:–</u> आयुर्वेद में इस विशिष्ठ मनुष्य शरीर में उपलब्ध होने वाले समस्त द्रव्यो को दोष (दोषवर्ग), धातु वर्ग, मल (मल वर्ग) में विभक्त करके वर्णित किया गया है।

तीनों ही वर्गो की उत्पति में पंच महाभूत कारण होते हैं। इन

तीनों वर्गो के द्रव्य अविकृत अवस्था में रहते हुये, शरीर का धारण पोषण करते हैं, तथा विकृत अवस्था में शरीर का विकार ग्रस्त एवं कभी–कभी नष्ट भी कर देते है। वात, पित्त, कफ तीन दोष, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातुएं एवं पुरिष, मूत्र, स्वेद ये तीन मल कहलाते है। इन द्रव्यों को संगठन एवं कार्य के दृष्टि से भिन्न–भिन्न नाम दिया गया है। इस विभाजन से रोगो के निदान एवं चिकित्सार्थ द्रव्यों की अशांश कल्पना में सहायता मिलती है।

वात पित्त कफ प्राकृत अवस्था में समस्त देह एवं देहगत धातु मलो का धारण पोषण करते है सम्पूर्ण दोष शरीर में व्याप्त होकर अपने–अपने विशिष्ट स्थानों में रहकर अपने–अपने विशिष्ट कर्मो को करते है।

धातु के सप्त द्रव्य शरीर का धारण पोषण करते है। तब इसे धातु कहते हैं। परन्तु जब दोषों से दूषित होते है, तब इन्हें दूष्य कहा जाता है। शरीर में बल, स्थिरता, दृढ़ता प्रदान करना धातुओं का कर्म है। इस तरह भिन्न–भिन्न नाम से धातुयें संपूर्ण शरीर का धारण एवं पोषण करती है। दोष धातु के समान ही मल भी मानव शरीर के लिए आवश्यक है। शरीर के निष्कृष्ट मात्र होते हुये भी मल एक निश्चित मात्रा में रहकर शरीर का धारण करने में सर्मथ होता हैं। पुरीष, स्वेद, मूत्र का एक निश्चित मात्रा शरीर के स्थिरता के लिए आवश्यक होता हैं।

शरीर का कोई भी अवयव दोष धातु मल से रहित नहीं है शरीर की समस्त रचनाओं एवं कियाओं का संचालन दोष धातु और मलो के द्वारा होता है इसलिए इसे शरीर का मूल कहा जाता हैं। इन तीनो का संयुक्त रूप ही शरीर हैं। ये तीनों उपादान स्वतंत्र रूप से शरीर को उपकृत करते रहते है, इससे यह सिद्ध होता है कि दोष धातु मल ही शरीर के मूल है।

धातु परिचय

1:– रस धातु – (प्लाज्मा) यह शरीर धातुओं में अग्रणी एवं महत्वपूर्ण है। आहार रस से सर्वप्रथम रस धातु की उत्पत्ति होती है, एवं रस के द्वारा ही रक्त, मांस आदि धातुओं का पोषण होता है।

जो प्रतिक्षण शरीर में गति करता है उसे रस धातु कहते है।

पंच भौतिक, चतुर्विध, षड्रस युक्त एवं शीत, उष्ण वीर्य प्रधान, भली भांति परिणाम को प्राप्त हुये आहार के सूक्ष्म रूप को रस कहा जाता है। इसका काम वायु के द्वारा हृदय से निकलने वाली धमनियों में प्रविष्ठ होकर, संपूर्ण शरीर में भ्रमण करते हुये शरीर एवं शरीरगत धातुओं का धारण, पोषण, तर्पण एवं यापन करता है।

रसक्षय के लक्षण :-

1. हृदय में घर्षण जैसा अनुभव होना।
2. थोड़ा परिश्रम से थकावट।
3. आंखों में अंधेरा छा जाना।
4. संपूर्ण शरीर में कंपन होना।
5. प्यास अधिक लगना।
6. शरीर में रूक्षता थकान और शोष आना।

रसवृद्धि लक्षण

1. अग्निमांद 2 बार-बार मुंह में पानी आना 3 आलस्य, ठंडापन, शरीर का श्वेत होना। 3 श्वास काश निद्राधिक्य 5 स्थूलता इत्यादि।

रक्त धातु :- तपाये हुये स्वर्ण या वीर बहूटी के वर्ण, कमल के वर्ण वाला रक्त शुद्ध होता है, रक्त शरीर का मूल है रस धातु से रक्त धातु की उत्पत्ति होती है।

रक्तक्षय के लक्षण :- 1: तापक्रम एवं रक्त दाब का कम होना।

2. शरीर में पीलापन होना।
3. निर्बलता एवं मृत्यु होना।
4. त्वचा कठोर फटी हुई मुरझाई और रूक्ष हो जाती है।

रक्त वृद्धि के लक्षण :- 1 नेत्र में रक्त वर्णता।
2. शिराओं का फूलना।
3 धमनियों का फटना।

मांस धातु :- शरीर में सबसे अधिक अंश मांस धातु का होता है शरीर का गठन, दृढ़ता, स्थिरता आदि मांस धातु का कार्य है।

अमाशय, यकृत, प्लीहा, स्तन आदि का निर्माण करता है

मांस क्षय लक्षण :-

1. शरीर में कृशता।

2. शरीर में रूक्षता, आलस्य, शिथिलता आदि।

3. नितम्ब, उदर, गर्दन में विशेष रूप से शुष्कता आती है।

मांसवृद्धि लक्षण :– शरीर के विभिन्न अंगों में मांस की वृद्धि होने से स्थूलता, भारीपन एवं मोटापा उत्पन्न होता हैं।

मेद धातु :– यह त्वचा के नीचे संचित होकर अस्थि धातु निर्माण में सहायक होता है। शरीर में स्नेह और क्लेद उत्पन्न करना, अस्थियों धातु निर्माण में सहायक होता है। शरीर में स्नेह और क्लेद उत्पन्न करना, अस्थियों को मजबूत बनाना अगों को स्निग्धता प्रदान करना इसका कार्य है।

मेद क्षय के लक्षण :–

1. शरीर में रूक्षता उत्पन्न करना।

2. प्लीहा वृद्धि।

3. संधियों में शुन्यता।

4. वायु का प्रकोप एवं थकावट ।

5. नेत्रो में ग्लानि।

6. उदर का पतला होना स्फुटन होना (आवाज आना)।

मेद वृद्धि का लक्षण :–

1. शरीर में बेडोल मोटापा।

2. अंगो में अधिक स्निग्धता।

3. श्वासकास विकार।

4. मल व पसीना में दुर्गंध।

अस्थि धातु :–इससे मानव शरीर का ढांचा तैयार होता है, एवं शरीर को दृढ़ता तथा आधार प्रदान करता है।

अस्थि क्षय के लक्षण :–

1. अस्थियों का टुटना

2. दांत और नख का भंग होना।

3. केश, नख, लोम, दांत का गिरना।

4. संधियों में शिथिलता।

5. शरीर में थकावट।

अस्थि वृद्धि के लक्षण :–

1. अस्थियों की विकृति।

2. शरीर के आकार की विकृति।

3. दांत के उपर दांत व नख के उपर नख की उत्पत्ति।

मज्जा धातु :–यह धातु बड़ी अस्थियों में पाया जाता है, जिसे बोन मेरो कहते है शुक्र धातु का निर्माण करना, त्वचा को स्निग्धता प्रदान करना इसके कर्म हैं।

मज्जा क्षय के लक्षण :–

1 शरीर में शुक्र की कमी।

2 संधियों में वेदना।

मज्जा वृद्धि के लक्षण :–

1 शरीर में चिकनाहट एवं भारीपन ।

शुक्र धातु :– सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हुये शरीर को बल प्रदान करता है। यह फिटकरी के रंग के समान श्वेत वर्ण का शहद जैसे गंध वाला द्रव्य है, जो क्रिया विशेष के परिणाम स्वरूप नर मनुष्यों के मूत्र मार्ग से बाहर निकलता है।

कार्य :–

1 शरीर का धारण करना।

2 शरीर को बल प्रदान करना।

3 संतानोत्पत्ति करना।

शुक्रक्षय के लक्षण :–

1 व्यक्ति में दुर्बलता, शरीर में पीलापन, आलस्य होना।

2 निश्तेज या मुख का सूखना, थकावट लगना।

3 शुक्र की प्रवृत्ति अल्प होना या कष्ट के साथ होना।

4 व्यक्ति में नपुन्सकता आना।

शुक्र वृद्धि कें लक्षण :–

1. शुक्र अस्मरी, अति शुक्र स्त्राव।

2. काम वासना में वृद्धि।

धातुवृद्धि एवं धातुक्षय

धातुओं की वृद्धि और क्षय जठराग्नि की स्थिति पर निर्भर करता हैं। पाचक अग्नि का उल्लेख करते हुए आगे यह स्पष्ट किया गया है कि तेरह प्रकार की अग्नियों में यदि सात धात्वग्नियां साम्यावस्था में होगी, तो रस, रक्तादि धातुएं भी अपनी साम्यावस्था में रहेंगी। अन्यथा इन धात्वग्नियों में अतिवृद्धि होने से धातुओं का अत्यधिक पाचन होने लगेगा। परिणामतः धातुक्षय के लक्षण उत्पन्न होंगे। इसके विपरीत, धात्वाग्नियों के क्षय से उस–उस धातु का पाचन ठीक प्रकार से न होकर उस धातु की वृद्धि होगी। उसके उत्तर वाले (आगे वाले) धातु के प्रमाण में अतिवृद्धि या क्षय के लक्षण उत्पन्न होंगे। अतः धात्वाग्नियों (पाचकाग्नियों) को साम्यावस्था में रखने से ही धातु साम्य रहेगा।

उपधातु परिचय

सप्तधातु के प्रकरण में बताया जाता है कि प्रत्येक धातु का सार (प्रसाद) भाग अपने अगले धातु की पुष्टि करता है। जैसे– रस, रक्त आदि शरीर का धारण भी करते हैं, और अपने अगले धातु का पोषण भी करते हैं, अतः धातु कहलाते है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्येक धातु के प्रसाद भाग से अपने–अपने उपधातु का भी पोषण होता है। उपधातु अर्थात् शरीर के वे अवयव जो शरीर का धारण करते हैं, परन्तु मात्रा में सूक्ष्म (अल्प) होने के कारण किसी अन्य धातु का पोषण नहीं करते, इन धातुओं के साथ आंशिक समता होने के कारण ही इनको धातुओ के उपधातु कहा जाता है।

उपधातुओं की पुष्टि :–

जिस प्रकार रस के प्रसाद भाग से उत्तर (अगले) धातु, रक्त का पोषण होता है, उसी प्रकार रस के प्रसाद अंश से ही स्तन्य (दुग्ध) और आर्तव की पुष्टि होती है। स्त्रियों के मासिक धर्म में योनिमार्ग से होने वाले रक्तस्त्राव को ''आर्तव'' या ''रज'' कहते हैं। सूक्ष्म होने के कारण आर्तव का पोषण एक मास में होता है, जबकि रक्त का पोषण तो नित्य होता ही रहता है। रक्त के प्रसाद अंश से

मांस धातु के अतिरिक्त कण्डराओं (स्थूल स्नायु) तथा शिराओं की पुष्टि होती है। मांस के प्रसाद अंश से मेद के अतिरिक्त वसा (मांस में स्थित स्नेह (स्निग्धता) तथा छः त्वचाओं का पोषण होता है। मेद से अस्थि के अतिरिक्त सूक्ष्म स्नायुओं और सन्धियों की पुष्टि होती है।

इस प्रकार स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, शिरा, वसा, त्वचा और स्नायु – ये सात उपधातु हैं। धातुओं से उत्पन्न होने के कारण भी इन्हें उपधातु कहा जाता है। इन उपधातुओं में केवल स्तन्य, आर्तव और त्वचा का वर्णन ही किया जा रहा है। क्योंकि स्त्रियों के प्रसंग में स्तन्य और आर्तव का तथा स्वेद (मल पदार्थ) के प्रसंग में त्वचा का सामान्य ज्ञान वांछनीय है।

त्वचा :–

त्वचा सारे शरीर को ढक कर रखती है। यह स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठान है। अर्थात् इसी की सहायता से शीत, उष्ण, गुरू, लघु, कठोर, मृदु आदि स्पर्शों का ज्ञान होता है।

भौतिक रचना :–

पंचभौतिक होते हुए भी त्वचा में वायु महाभूत की प्रधानता है। इसी कारण यह वायु महाभूत के स्पर्श गुण का ग्रहण करती है।

त्वचा की मुख्य कार्य :–

स्पर्श ज्ञान के अतिरिक्त त्वचा सारे शरीर के तापमान को सामान्य बनाये रखती है। तापमान का यह नियन्त्रण भ्राजक पित्त की सहायता से होता है। त्वचा लेपादि द्रव्यों को शरीर के अन्दर पहुचाती तथा शरीर को कान्ति प्रदान करती है। यह स्वेद (पसीना लाने वाली) ग्रन्थियों का भी आश्रय हैं। स्वेद मेदों धातु का मल है।

(अतः इसका वर्णन मल प्रकरण में किया जाएगा।)

शरीर के ताप का नियंत्रण :–

त्वचा के ताप का नियन्त्रण स्वेद (पसीना) की सहायता से होती है। हमारे शरीर का तापमान 98 से 99 फेरनहाइट रहता है। व्यायाम या श्रम के कारण शरीर में, तथा धूप या गर्मी के कारण जब वातावरण

में गर्मी बढ़ने लगती है, तो त्वचा की केशिकाओं में रक्त का प्रवाह भी बढ़ जाता है। रक्त के आधिक्य के कारण स्वेद ग्रन्थियों से स्वेद का स्त्राव भी अधिक होने लगता है। वायु लगने से यह पसीना भाप (वाष्प) बनकर उड़ जाता है। उस वाष्पीकरण के लिए आवश्यक ताप त्वचा से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार त्वचा का तापमान कम होने से शरीर की कोशिकाएं संकुचित होती हैं, जिससे रक्त का प्रवाह कम होता है। परिणामतः स्वेद (पसीना) भी कम आता है। इससे शरीर का ताप (उष्मा) कम नहीं होता । इस प्रकार तापमान सामान्य रहता है।

वैसे तो स्वेद का स्त्राव हमेशा होता रहता है, लेकिन सामान्यतः यह उड़ता रहता है। इसलिए उसका ज्ञान नहीं हो पाता। आर्द्र वातावरण (नमी वाले मौसम) में एवं अधिक पसीना आने पर ही इसका भान होता है।

पूर्वलिखित धातुओं के सदृश स्वेद की भी शरीर में निश्चित मात्रा होती है। इसमें वृद्धि या क्षय होने पर शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

स्वेदवृद्धि के लक्षण :–

स्वेद (पसीने) की अधिकता से त्वचा में दुर्गन्ध व खुजली उत्पन्न होती है।

स्वेदक्षय के लक्षण :–

स्वेद की न्यूनता होने पर रोमकूपों का अवरोध, त्वचा में रूक्षता, त्वचा का फटना, उचित स्पर्शज्ञान न होना तथा रोमपात ये लक्षण प्रकट होते है।

स्वेद क्षय होने पर मालिश, व्यायाम, वायुरहित स्थान में निवास, निद्रा, स्वेदन कर्म (उष्ण द्रव्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से सेक) तथा मद्य व स्वेदज द्रव्यों (जल आदि) का सेवन करना चाहिए।

स्तन्य :–

स्तन्य एवं आर्तव – इन दोनों उपधातुओं का संबंध स्त्रियों से है। इनमें स्तन्य शिशुओं का सर्वोत्तम आहार एवं पोषक है। अतः इसे जीवन कहा गया है। इसके प्रादुर्भाव के समय स्तनों का आकार बढ़

जाता है।

स्तन्य की उत्पत्ति अन्नरस (आहार से उत्पन्न रस) के मधुर सार (प्रसाद) भाग से होती है। यह भी शुक्र के सदृश सारे शरीर में स्थित होता है।

<u>शृद्ध स्तन्य (दुग्ध) के लक्षण :—</u>

जो दुग्ध जल पात्र में डालने पर जल से मिल जाता है, जो मधुर, वर्ण में पीलापन लिये हुए तथा गन्धरहित होता है, अविकृत, पुष्टिकारक ओर स्वास्थ्यवर्धक है।

<u>स्तन्य क्षय के लक्षण :—</u>

दुग्ध का क्षय होने पर स्तनों का सिकुड़ना, दुग्ध अल्प मात्रा में क्षरित होना अथवा बिल्कुल न आना—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इसका उपचार कफज द्रव्यों का सेवन करना है।

<u>स्तन्य वृद्धि के लक्षण :—</u>

स्तनों के आकार में वृद्धि, अधिक मात्रा में एवं बार—बार दुग्धस्राव तथा स्तनों में पीड़ा — ये स्तन्य वृद्धि के लक्षण हैं।

स्तन्यवृद्धि होने पर वृद्ध स्तन्य (बढ़े हुए दुग्ध) का संशोधन (चुसवाकर या ब्रेस्ट पम्प से निकालना) व लघु द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

<u>आर्तव :—</u>

बाहरवें वर्ष के पश्चात्, प्रति मास युवतियों के योनिमार्ग से रक्त का स्त्राव होता है। इसे ही आर्तव, रजोदर्शन या मासिक धर्म कहते हैं। यह तीन से पॉच दिन तक रहता है। चालीस—पचास वर्ष की आयु के लगभग यह स्त्राव बन्द हो जाता है। इस स्थिति को रजोनिवृत्ति कहते हैं।

<u>आर्तव का कार्य :—</u>

इसका विशेष कार्य गर्भोत्पत्ति करना है। आर्तव जीवनीय है। तथा इसके गुण रक्त के समान हैं।

<u>शुद्ध आर्तव के लक्षण :—</u>

जो आर्तव महिने में एक बार आए, जिसमें पिच्छ (श्लेष्मकला के

आभ्यान्तर स्तर के खण्ड–छिछले से) न हों, जिसमें दाह या वेदना न हो, जो मात्रा में न बहुत कम और न बहुत अधिक हो, जिसका रंग गुंजाफल, लाक्षारस या लाल कमल के समान हो, वस्त्र के ऊपर लगने पर धोने से जो सरलतापूर्वक साफ हो जाए तथा जो पांच दिन रात से अधिक समय तक न रहे – ये सब लक्षण शुद्ध आर्तव के हैं।

आर्तव वृद्धि के लक्षण :–

अधिक आर्तव से शरीर में दर्द (अंगमर्द), व अत्यधिक रक्तस्राव (रक्तप्रदर) होता है। यह दुर्गन्ध युक्त होता हें, इससे दुर्बलता आती है तथा रक्तगुल्म होता है।

आर्तव–क्षय के लक्षण :–

_क्षय होने पर रक्तस्त्राव बहुत कम अथवा नियमित समय पर नहीं होता, देर से होता है। योनि में पीड़ा होती है। इसका उपाय वमन, विरेचन तथा तीक्ष्ण व उष्ण द्रव्यों का सेवन है।

मल सिद्धांत :–

भोजन की पाचन किया के फलस्वरूप, अन्नरस के सार–भाग (प्रसाद) से धातुओं का निर्माण व पोषण होता है, तो उसके किट्ट (असार या मल) भाग से पुरीष, मूत्र, स्वेद आदि मलों का निर्माण होता है। चूंकि ये पदार्थ शरीर को मलिन करते हैं, अतः इन्हें मल कहा जाता है। इन्हें दूष्य भी कहते हैं, क्योंकि ये वातादि दोषों से दूषित होते है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए इन मलों का शरीर से बाहर विसर्जन अत्यावश्यक है। मल पदार्थो में निम्नलिखित तत्वों का समावेश किया जाता है :

1. वे पदार्थ जिनका निर्माण शरीर के विभिन्न स्थानों (आशयों) ऊतकों और अवयवों में होता है, तथा जो इन अवयवों आदि के छिद्रों, विसर्जन अंगो और स्त्रोतो के अन्दर एक प्रकार की परत, आवरण या लेप सा बना लेने हैं। इन पदार्थो का यह स्वभाव है कि ये एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर स्वयमेव ही शरीर से बाहर निकलने के लिए विसर्जक अंगो (मलाशय, मूत्राशय आदि) की ओर गति करने लगते हैं।

2. वे धातुऍ जो पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, नष्ट व

निर्जीव हो चुकी हैं।

3. अति प्रकुपित वात, पित्त व कफ दोष, तथा

4. शरीर के वे प्राकृतिक एवं बाह्य तत्व जो शरीर के लिए व्यर्थ व हानिकर हैं।

इन सब प्रकार के मल पदार्थो में पुरीष, मूत्र, स्वेद, नख, केश, शमश्रु (दाढ़ी मूँछ), लोम तथा नाक, कान, ऑखों, मुखादि से निकलने वाले पदार्थ शामिल हैं। इन उपरोक्त पदार्थो में पुरीष (मल), मूत्र एवं स्वेद (पसीना) मानव शरीर के तीन महत्वपूर्ण मल हैं। एक स्वस्थ शरीर के लिए इनका शरीर से उचित रूप से विसर्जन बहुत आवश्यक है।

पुरीष :–

प्रायः यह माना जाता है कि मल मनुष्य द्वारा ग्रहण किये गये भोजन का असार अथवा व्यर्थ का अंश मात्र है। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। भोजन के असार अंश के अतिरिक्त मल में शरीर की ऊतक , कोशिकाओं द्वारा विसर्जित तत्व भी शामिल होते हैं। यही कारण है कि वह व्यक्ति जिसने बहुत दिनों से उपवास रखा हो, उसमें भी और यहां तक कि गर्भ में पल रहे शिशु के अन्दर (जो कुछ भी नहीं खाता) भी मल का निर्माण होता रहता है। इसीलिए ऊतक, कोशिकाओ को स्वस्थ स्थिति में रखने के लिए इस मल का शरीर से उचित रूप से विसर्जन बहुत आवश्यक है। ऐसा ना होने पर, केवल जठरान्त्र प्रणाली ही रोगग्रस्त नहीं होती, अपितु शरीर के दूसरे अंग भी रोगी हो जाते हैं। इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेद में कटि वेदना, सन्धिवात, गृधसी, पक्षाघात या लकवा, कास तथा दमा जैसे रोगो की चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले, उचित रूप से मल विसर्जन की व्यवस्था करना आवश्यक माना गया है। इसीलिए सर्वप्रथम चिकित्सक इसके लिए आवश्यक उपाय बताता है। यदि ठीक प्रकार से मल का विसर्जन नहीं होता तो अनेक प्रकार के आन्त्र कृमियों को पनपने के लिए अनुकूल वातावरण मिल जाता है। बहुत बार ये बड़ी आंत में शरीर के लिए उपोगी जीवाणुओं की बढ़ोत्तरी न होने से व्यक्ति शरीर के इन उपयोगी तत्वों से वंचित रह जाता है। अतः मल का ठीक प्रकार से विसर्जन स्वस्थ शरीर के लिए

अत्यन्त आवश्यक है।

मूत्र :–

दूसरा महत्वपूर्ण मल पदार्थ है– मूत्र, जिसके माध्यम से शरीर के व्यर्थ उत्पाद बाहर निकल पाते हैं। यद्यपि बहुत अधिक मूत्र त्याग को एक प्रकार का रोग माना जाता है। फिर भी आयुर्वेद में इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि, मनुष्य को गर्मी और सर्दी दोनों ऋतुओं में अधिक मात्रा में जल पीना चाहिए, जिससे वह दिन में कम से कम छः बार मूत्रत्याग अवश्य कर सके।

स्वेद :–

तीसरा महत्वपूर्ण मल है– स्वेद अथवा पसीना, त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए पसीने का निकलना भी बहुत आवश्यक है। शारीरिक व्यायाम व सेक जैसी चिकित्सा क्रियाओं तथा कुछ औषधियों के सेवन से अधिक स्वेद लाया जा सकता है, जिसके द्वारा शरीर के बहुत से व्यर्थ पदार्थ बाहर निकल जाते है।

चयापचय अथवा धात्वाग्निपाक क्रिया के समय भी धातुओं से मल की उत्पत्ति होती है। वैसे तो मल, मूत्र और स्वेद में दुर्गन्ध होती ही है, परन्तु यदि दुर्गन्ध असह्य हो जाए तो यह रोग का सूचक है। इसे कम करने के लिए कुछ विशेष औषधियों का प्रयोग करना पड़ता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इन मल पदार्थों का शरीर से विसर्जन अत्यावश्यक है। व्यर्थ होते हुए भी ये पदार्थ शरीर का किसी न किसी प्रकार धारण करते हैं। शरीर में इनकी सन्तुलित मात्रा रहनी चाहिए। इस दृष्टि से यहॉ पुरीष और मूत्र इन मुख्य मल पदार्थों (स्वेद का वर्णन उपधातु प्रकरण में किया जा चुका है) के कार्य तथा वृद्धि व क्षय के लक्षणों का उल्लेख किया जा रहा है।

पुरीष का निर्माण अल्प मात्रा में (क्षय) होने पर ऑत, हृदयपदेश और पार्श्वों में पीड़ा तथा वायु का गड़गड़ाहट के साथ पेट में उपर नीचे और तिरछे गति करना (आध्मान) ये लक्षण प्रकट होते है।

पुरीष क्षय के ये लक्षण अतिसार, अतिविरेचन व लंघन से उत्पन्न होते है। इसके लिए उड़द, जौ, हरी सब्जी (पत्तेवाली), चोकरयुक्त आटा, आदि पुरीषवर्धक पदार्थों का सेवन करना चाहिए ।

<u>मूत्र का कार्य</u> :–

आहार के मल का द्रव भाग मूत्र कहलाता है। यह शरीर की अतिरिक्त आर्द्रता को कम करता है तथा, बस्ति (pelvic region) को आर्द्र तथा पूर्ण करता है।

<u>मूत्रवृद्धि के लक्षण</u> :–

मूत्र के प्रमाण में अधिकता होने पर वस्ति में दर्द, भारीपन व बेचैनी, अधिक मात्रा में मूत्र विसर्जन, मूत्र का बार–बार वेग आना तथा बस्ति में आफरा के लक्षण प्रकट होते हैं। मूत्र के वेग को रोकने व मूत्रवेग उपस्थित होने पर जल पीने से मूत्र में वृद्धि होती है।

<u>मूत्रक्षय के लक्षण</u> :–

मूत्र की मात्रा में कमी होने से वस्ति में चुभन सी दर्द, कम मात्रा में मूत्र का विसर्जन, मूत्र त्याग के समय दर्द (मूत्रकृच्छ्र), रूक–रूक कर मूत्र आना, मूत्र के रंग मे परिवर्तन या रक्तमिश्रित मूत्र, अधिक प्यास व मुखशोष के लक्षण दिखाई देते है। ऐसी स्थिति में गन्ने का रस, जलादि द्रव पदार्थो तथा मधुर, अम्ल व लक्षण रसयुक्त पदार्थो का सेवन करना चाहिए ।

कुछ विद्वान पित्त को भी मलरूप में मानते हैं। पित्त का यह रूप रक्त का मल माना जाता है। सम प्रमाण में रहते हुए यह पित्त अन्य मल पदार्थों के सदृश अनेक जीवनीय क्रियाएं सिद्ध करता है।

<u>पित्त मल</u>

<u>पित्त का कार्य</u> :–

पित्त का प्रधान कार्य स्नेहों के पाक में अग्न्याशय रस की सहायता करना है। कुछ अंश तक यह आंतों में जीवाणुओं का भी नाश करता

है। पक्व अन्न के सम्यक् आचूषण में भी यह सहायक है।

पित्तवृद्धि के लक्षण :–

पित्त की अधिक मात्रा से व्यक्ति की ऑखें, दांत व स्वेद पीले रंग के होते है। मुख का स्वाद कड़वा होता है।

पित्तक्षय के लक्षण :–

पित्त की कमी के कारण स्नेह द्रव्यों का पाचन व आचूषण ठीक प्रकार से नहीं होता । अतः ये पदार्थ अपक्व रूप में ही मलद्वार से बाहर निकल आते है।

पित्त स्त्रोतों में कफ प्रकोप आदि के कारण अवरोध होने पर कामला (पीलिया) रोग उत्पन्न होता है।

अन्य मल पदार्थ :–

इसी प्रकार नाक, मुंह, ऑख आदि से उत्पन्न मल पदार्थो की मात्रा भी एक आवश्यक प्रमाण में होनी चाहिए, जिससें इन अंगों की आर्द्रता आदि बनी रहें।

यदि इनकी अनापेक्षित मात्रा में वृद्धि हो जाए, तो इन अंगों से मल पदार्थ अधिक मात्रा में स्त्रावित होने लगते है। तथा उस–उस अंग में भारीपन अनुभव होता है।

मलों की मात्रा में कमी होने से इन अंगों में शुष्कता, दर्द, खालीपन (रिक्तता) तथा हल्कापन अनुभव होता है।

संक्षेप में मलों के एकत्र होने से उनकी मात्रा में वृद्धि होती है, तथा उनके अत्यधिक विसर्जन से क्षय होने लगता है।

यहॉ यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि यद्यपि इनकी अतिवृद्धि और क्षय दोनों ही हानिकर हैं, तथापि वृद्धि की अपेक्षा क्षय अधिक हानिप्रद है। क्योंकि मल पदार्थो की निश्चित मात्रा शरीर के धारण का कार्य किसी न किसी रूप में करती है। मात्रा में कमी होने से ये कार्य भी सम्पन्न नहीं हो पाते।

मल मार्ग :–

विभिन्न प्रकार के मलों का विसर्जन करने वाले अंग मलमार्ग

कहलाते है। इस दुष्टि से गुदा, मूत्रेन्द्रिय, नेत्र, दोनों नासिकाएं, कान, मुख तथा सारे शरीर में फैले असंख्य रोमकूप मलमार्ग कहलाते है।

जब अनुचित आहार अथवा दोषों के प्रकोप में मल प्रकुपित (दूषित) होते हैं तो ये अपने–अपने मलमार्गों या मलाशयो को दूषित करते है। परिणामतः रोगोत्पत्ति होती है।

दोष, धातु और मलों का परस्पर संबंध :–

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ये तीनों तत्व शरीर के निर्माण व धारण करने में निमित्त कारण है। स्वभावतः इनका पारस्परिक सम्बन्ध आवश्यक है। वायु (दोष) का निवास स्थान अस्थियॉ (धातु) हैं, पित्त (दोष) का रक्त (धातु) और स्वेद (मल), तथा कफ (दोष) का निवास अन्य धातुएँ । इस प्रकार दोषों और धातुओं का परस्पर आश्रय और आश्रयी का संबंध है। अतः दोषों की वृद्धि और क्षय के लिए जो चिकित्सा की जाती है, उसका वही प्रभाव धातुओं पर भी पड़ता है। परन्तु वायु और अस्थियों का संबंध में यह नियम लागू नहीं होता। क्योकिं साधारणतः वृद्धि के लिए तर्पण या बृहंण चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है तथा क्षय (बढ़े हुए दोष को कम करना) के लिए लंघन या अपतर्पण चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। इस आधार पर, दोष व धातु की वृद्धि होने पर लंघन चिकित्सा का तथा दोष व धातु का क्षय होने वाले रोगों में बृहंण चिकित्सा का और वायु क्षय से होने वाले रोगों में लंघन चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् वायु की वृद्धि के लिए लंघन चिकित्सा का तथा क्षय के लिए बृहंण चिकित्सा का प्रयोग होता है।

आहार रस से सप्त धातुओं का पोषण क्रम :–

आहार + जाठराग्नि + भूताग्नि = आहार रस एवं मलमूत्र स्वेद

आहार रस - भूताग्नि + धात्वाग्नि (रस धातु अग्नि)

↓

प्रसाद रस + भूताग्नि + रक्तधात्वाग्नि | *सार भाग — रसधातु + उपधातु लसिका स्तन्य* | *मलभाग कफ*

↓

प्रसाद ↓ *(भूताग्नि + मांस धात्वाग्नि)* | *सार (रक्त धातु) आर्तव उपधातु* | *मल*

↓

प्रसाद + भूताग्नि + मेद धात्वाग्नि | *सार भाग (मांसधातु उपधातु)* | *मल*

↓

प्रसाद + भूताग्नि अस्थि धात्वाग्नि | *सारभाग (मेदधातु + उपधातु)* | *मल*

↓

सारभाग + भूताग्नि + मज्जा धात्वाग्नि | *अस्थि धातु+ उपधातु* | *अस्थि धातु का मल*

↓

प्रसाद + पंचभूताग्नि + शुक्रधात्वाग्नि | *सारभाग मज्जाधातु+ उपधातु* | *मल*

↓

सारभाग (शुक्रधातु) | *(शुक्रधातु + उपधातु)* | *शुक्र धातु का मल नही बनता*

सारांश :– इस इकाई में आपने धातु, उपधातु एवं मलो का अध्ययन किया। जिससे आप अपने शरीर में उपर्युक्त तत्वो की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। धातु, उपधातु एवं मलो के क्षय वृद्धि के लक्षणो को पहचान सकेंगे एवं आहार रस से धातु, उपधातु एव मलो की पुष्टि करण को समझ पाऐंगे।

अभ्याश प्रश्न –:

1. धातुओ का परिचय देते हुए सभी धातुओं का संक्षिप्त विवरण लिखिए

2. उपधातु से आप क्या समझते हैं किन्ही दो का वर्णन करें।

3. मलो का परिचय देते हुए मलक्षय का लक्षण लिखिए।

4. दोषधातु मलमूलं ही शारीरं को सिद्ध कीजिए

आयुर्वेद प्रबोध

प्रथम प्रश्न–पत्र

ईकाई 4

शारीर विज्ञान

<u>इकाई की रूप रेखा</u>

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. विषय वस्तु

   आम, साम, निराम विवेचन

   अग्नि विवेचन एवं पाचन प्रक्रिया वर्णन

   शरीर की परिभाषा षड़गशरीर का सामान्य परिचय आदि

   स्त्रोतस् शिरा, धमनी, धमनीओ का सामान्य परिचय

   त्वचा, कला, मांसपेशी, अस्थि, संधियों का सामान्य परिचय

   ओज का सामान्य परिचय
4. सारांश
5. अभ्यास प्रश्न

उद्देश्य :–

आप इस इकाई में शरीर के महत्वपूर्ण अवयवो अग्नि, दोषो के आम, साम, निराम स्थिती का अध्ययन करेंगे। शरीर की परिभाषा षडंग शरीर, शिरा, धमनी, स्त्रोतस तथा त्वचा मांसपेशियां, अस्थि, अस्थिसंधियां, कला, आशय, कोष्टांग आदि का सामान्य परिचय करेंगे। साथ ही ओज का संक्षिप्त परिचय का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन पश्चात आपः–

1. शरीरगत् दोषों की आम, साम, निराम अवस्था में भेद जान पायेंगे, एवं अपने शरीर में दोषों की अवस्था को पहचान पाएंगे।
2. शरीर में स्थित अग्नियों का परिचय एवं कर्म उनक विकृत लक्षणों को पहचान पायेंगे।
3. शरीर में स्थित सभी अवयवो जैसे स्त्रोतस् शिरा धमनी, त्वचा, मांसपेशी, अस्थि, अस्थिसंधियो के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
4. शरीर में स्थित ओज की विशेषता से रूबरू हो कर अपने को स्वस्थ रख सकेंगे।

प्रस्तावना –

क्रमशः दोष, धातु, मलों के परिचय के अध्ययन पश्चात् दोषों की क्षय, वृद्धि, आम, साम, निराम अवस्था का अध्ययन करेंगे, साथ ही अग्नि स्त्रोतस् शिरा, धमनी, त्वचा, मांसपेशी, अस्थि आदि का परिचय एवं ओज की महत्ता को समझ सकेंगे।

विषय वस्तु –

आम, साम, निराम विवेचन :–

आम :– जाठराग्नि या पाचक पित्त की दुर्बलता से प्रथम धातु रस का परिपाक उत्तम रूप से नहीं होता यह अपक्व रस आमाशय में रहता है। और आम कहलाता है। इस आम से वात, पित्त, कफ तथा रक्त आदि धातु दूषित होकर साम कहलाता है। परिणाम स्वरूप दोष, दूष्य से मूछर्नाजन्य होने वाली व्याधियॉ भी इसमें संयुक्त

होकर आम दोष कहलाती है । यह आम जिस स्थान पर रहता है। शरीर में अपने कारणों से कुपित होकर एवं जिस दोष से दुषित रहता है उस दोष के विकृति लक्षणों के साथ आम जनित रोग उत्पन्न करते है।

साम वायु लक्षण :– पुरीष, मूत्र अधोवायु का निर्हरण नहीं होना, अग्नि भाव, आलस्य, आंतों में गुड़गुड़ाहट होना।

निराम :– आम रहित दोषों को निराम कहा जाता है। निराम दोषों के अलग–अलग लक्षण होते है। चिकित्सा की दृष्टि से आम निराम का प्रयोजन विशेष महत्व रखता है। आम दोष में पाचन एवं निराम दोष में शमन चिकित्सा किया जाता है।

निराम वात लक्षण :– विषद् या कसैला, रूक्ष, मलावरोध, शरीर वेदना आदि को उत्पन्न करती हैं। स्निग्ध पदार्थों के सेवन से शांति प्राप्त होती है।

निराम कफ लक्षण :– फेन युक्त, गांठदार, पीलापन लिये हुये सफेद गंध रहित होता है। कफ शामक द्रव्यों से शांति मिलती है।

साम वायु लक्षण :– दुर्गन्धयुक्त, खट्टा, स्थिर (जल आदि) द्रव्यों में न फैलने वाला, गाढ़ा, रंग में हरा या कालिमा युक्त होता है। इस समय खट्टा डकार तथा छाती व कण्ठ में जलन होती है।

साम कफ लक्षण :– आमयुक्त कफ, गन्दा, तन्तु युक्त (रेशे वाले), गाढ़ा (जल में डालने पर नीचे बैठने वाला) गले में फंसने वाला, दुर्गन्ध युक्त, भूख को कम करने वाला, डकार को रोकने वाला होता है।

अग्नि विवेचन :– शारीरिक शक्ति प्राप्त करने के लिए हम बाह्य जगत से जिन खाद्य पदार्थों का सेवन करते है। उनका शरीर में टूटना या सरलीकरण अवशोषण एवं स्वांगीकरण आदि क्रियाऍं सम्पन्न होती है। क्योंकि शरीर के अनुकूल उर्जा प्राप्त करने के लिए भोजन में उपस्थित विजातीय तत्वों का सजातीय तत्वों में परिवर्तन होना आवश्यक है शरीर में जो तत्व इन क्रियाओं को सम्पन्न कराती है उन्हें अग्नि कहा जाता है।

ये अग्नियॉं पाचक नलियॉं तथा धातु कोषों में अनेक

प्रकार के पाचक रसों को उत्पन्न करती हैं। इन रसों की सहायता से ही शरीर आशित (चबाये जाने वाला) खादित (अधिक चबाये जाने वाला) लीढ़ (चाटने योग्य) पीत (पीने योग्य) ये चार प्रकार के भोजन का पाचन एवं शरीर का पोषण करते है। अर्थात् संतुलित भोजन के द्वारा ही शरीर को उर्जा एवं प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन्स आदि (आहार के पोषक तत्व) आवश्यक तत्वों की प्राप्ति होती है, और इन तत्वों के द्वारा ही शरीर में शक्ति, पुष्टि वर्ण एवं दीर्घायु की वृद्धि होती है।

शरीर को स्वस्थ रखने में अग्नि का महत्वपूर्ण स्थान है यदि अग्नि विकृत हो जाय तो रोग एवं नष्ट होन पर मृत्यु हो जाती है। अर्थात शरीर में ग्रहण किये हुए आहार का अग्नि द्वारा पाचन क्रिया नहीं होती तब तक कोई भी भाव स्वतः परिणाम को प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः उस आहार सत्व का शरीर के लिए उपयोग नहीं हो पाता है।

परिणाम प्राप्ति का अभिप्राय यह है कि, आहार शरीर में जिस रूप में पहुॅचता है वह इस योग्य हो जाय कि उसका शरीर में अवशोषण हो सके । मनुष्यों द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार अग्नि के द्वारा शरीर में शोषण लायक बनता हैं।

अग्नि की तीन प्रकार की होती हैं

1. जठराग्नि–ः इनके चार अवस्थाए होती हैं

<u>अ. तीक्ष्णाग्नि</u> :– इसमें वात एवं पित्त दोष की प्रधानता होती हैं, जिससे कि खाए हुए भोजन की शीघ्रता से पाचन हो जाता हैं। यह अग्नि धातुओ को भी तीक्ष्णता से पचाने लगती हैं।

<u>ब. मंदाग्नि</u> :– इस अवस्था में जाठराग्नि की क्रिया पर कफ दोष की प्रधानता होती है। अग्नि की इस अवस्था को मन्दाग्नि कहते है। यह अग्नि खाये हुये सामान्य भोजन का भी पाचन ठीक प्रकार से नहीं कर पाता है। इसके परिणाम स्वरूप, पेट एवं सिर में भारीपन खॉसी, स्वास, मुॅह से लार बहना, उल्टी, शरीर की दुर्बलता जैसे कष्ट होते है।

<u>स. समाग्नि</u> :– अग्नि की इस अवस्था में, एवं अग्नि की क्रिया में

वात, पित्त तथा कफ सभी दोष सम या समान रूप से रहते है, इसलिए अग्नि की इस अवस्था को समाग्नि कहते है। इस अवस्था में अग्नि समय पर खाए हुए भोजन को भली भॉति पाचन कर देती है और शरीर को स्वस्थ रखती है।

द. विषमाग्नि –: इस अवस्था में तीनो दोषो की प्रधानता होती हैं जिसके कारण कभी भोजन का पाचन सही होता हैं कभी जल्दी होता हैं एवं कभी देर से होता हैं।

2. भूताग्नियॉ :– दूसरे प्रकार की अग्नि को भूताग्नि कहते है। पंच महाभूतों के आधार पर ये अग्नियॉ भी पॉच होती है।

1. आकाशाग्नि 2. वायव्याग्नि 3. आग्नेयाग्नि

4. आप्याग्नि 5. भौमाग्नि

ये अग्नियॉ शरीर के अंदर भोजन रस में रहने वाले वायु, पृथ्वी आदि भूतों के अंशों का पाचन करती है और शरीर के पंच भौतिक अंशों का पोषण करती है।

3. धात्वग्नियॉ – जाठराग्नि की क्रिया के परिणाम स्वरूप पक्व हुआ अन्नरस जब विभिन्न धातुओं के आशय में पहुॅचता है तो वहॉ मौजूद धात्वाग्नि अपने अंश का पाचन कर, उस धातु का पोषण करती है। जैसे हृदय में रस धातु का स्थान है। वहॉ स्थित धात्वाग्नि अन्नरस पर क्रिया करके रस धातु का निर्माण करती है एवं आगे उस आहार रस में अन्य धात्वग्नि की क्रिया के परिणाम स्वरूप उस धातु का निर्माण एवं पोषण होता है। ये धात्वाग्नि सात होती है।

1. रसाग्नि 2. रक्ताग्नि 3. मांसग्नि

4. मेदाग्नि 5. अस्थाग्नि 6. मज्जाग्नि

7. शुक्राग्नि अथवा स्त्रियों में आर्तवाग्नि ।

इस प्रकार प्रत्येक धात्वाग्नि, भूताग्नि के सहयोग से अपने अगले धातु एवं मलों का पोषण करती है, धात्वाग्नि की मंदता से धातु की वृद्धि तथा अति तीव्रता से धातु का क्षय होता है।

पाचन–प्रक्रिया :– संतुलित भोजन को ग्रहण करने के पश्चात् भोजन को चबाते समय जिभ्या से उपस्थित बोधक कफ भोजन में

मिल जाता है और उसमें स्थित षडरसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय) का ज्ञान कराता है। कण्ठ (गले) में स्थित बोधक कफ से मिल कर प्राण वायु के द्वारा यह भोजन कोष्ठ या अमाशय में ले जाया जाता है यहॉ पर क्लेदक कफ और समान वायु की उत्तेजना से भोजन के ठोस अंश में तरल एवं पाचक रस मिलता है इससे भोजन का क्लेदन होकर मुलायम लुगदी बनती है। पाचन की इस अवस्था में भोजन में मधुर रस होता है। इसमें झागयुक्त कफ की उत्पत्ति होती है। इसे भोजन पाक की प्रथम अवस्था कहते है जिसमें कफ दोष की प्रधानता होती है।

आमाशय में कुछ अंश में पका यह अपक्व आहार ग्रहणी में पहुॅचता है। इस आशय में जाठराग्नि, समानवायु और पाचक पित्त ये तीनों भोजन के उपर अपनी क्रिया करते है। इसके परिणाम स्वरूप खाद्य रस विदग्ध (अम्ल. खट्टापन) अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार भोजन पाक की इस द्वितीय अवस्था में पित्त दोष की प्रधानता होती है। इस प्रकार भोजन पाक की यह द्वितीय अवस्था होती है।

इसके पश्चात् भोजन का अपक्व अंश पक्वाशय में पहुॅच जाता है। पाचक पित्त का स्थान पक्वाशय होता है। अतः यहॉ पाचक पित्त आहार रस का पाक करते हुये उसमें से जलीय अंश को पूर्णतः सोख लेता है। इस प्रकार आहार रस ठोस रूप में परिवर्तित हो जाता है। जिसे पिण्ड कहते है। इस अवस्था में कटु रस और वायु की प्रधानता रहती है इसी स्थिति में यह खाद्य रस दो भागों में विभक्त होता है। 1. सार या प्रसाद भाग 2. असार या किट्ट भाग । इसमें पर्याप्त मात्रा में जो तरल द्रव्य होती है जिससे रसधातु का निर्माण होता है साथ इनके उपधातु स्तन्य एवं मलो का निर्माण होता है तत्पश्चात शेष सारभाग में रक्त धात्वाग्नि एवं भुताग्नि की क्रिया होती है जिससे रक्त धातु एवं उसके उपधातु व मल का निर्माण होता है इसी तरह शुक्र धातु तक पोषण या निर्माण कर्म चलता रहता है।

यदि जाठराग्नि एवं अन्य अग्नियों की विकृति से खाद्य रस का सम्यकपाचन नहीं हो पाता तथा मधुर रस में परिवर्तित

न हो कर अम्ल एवं कटु रस युक्त हो जाता है। यह आहार रस विषैला और रोगोत्पादक होता है इसे ही आम रस या आम कहा जाता है। मूल रूप में मूत्र वस्ति में और पुरीष पक्वाशय के अंतिम भाग या मलाशय में एकत्रित होकर वेग आने पर शरीर से बाहर निकल जाता है।

<u>शरीर की परिभाषा</u> :–

1 . चेतना (आत्मा) की आश्रयभूत और पंच महाभूतो के विकार के सम्मलित रूप को शरीर कहते है। यह शरीर समयोग वाही होता है अर्थात् तीन दोष, सप्तधातु और मलों के सममात्रा में रहने से यह शरीर चलता है। जब इस शरीर में धातुएँ विषमता को प्राप्त होती है तब वह शरीर क्लेश (कष्ट) या विनाश (मृत्यु) को प्राप्त होता है।

2. जीवित और मृत दोनों ही अवस्था में पंच भौतिक समुदाय से निर्मित पदार्थ को शरीर कहा जाता है।

3. समय अनुसार जिसका निरन्तर क्षरण (नाश) होता है उसे शरीर कहते है।

4. जो गाति के कारण क्षरित होता है। उसे शरीर कहते है।

5. शुक्र शोणित के गर्भाशय में संयोग होने पर सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा का प्रवेश को शरीर कहते है।

शरीर की परिभाषा

1. जो विषय शरीर से संबंधित ज्ञान या दैहिक ज्ञान कराता है शरीर कहलाता है।

2. शरीर विज्ञान के रचना एवं क्रिया संबंधी विषयों का विवरण जिस शास्त्र में होता है। उसे शरीर कहते है।

षडंग शरीर

शरीर के अंगों के विभाजन को षडंगशरीर कहते है चरक एवं सश्रुत के अनुसार शरीर के छः अंग (विभाग) है आचार्य भाव प्रकाश आठ अंग मानते है ।

<u>आचार्य चरक अनुसार</u> :–

1. दो हाथ 2. दो पैर 3. शिर 4. ग्रीवा 5. मध्य शरीर

मध्य शरीर के अन्र्तगत उदर एवं वक्ष का समावेश होता है इस तरह शरीर के छः अंग होते है।

शरीर के निम्न अवयव होते है :–

(1.) त्वचा (2.) अस्थि (3.) इन्द्रिय (4.) प्राणायतन (5.) कोष्टांग (6) हृदय (7) नौ छिद्र (8) स्नायु शिरा (9) कूर्च (10) कण्डरा (11) जाल (12) संधात (13) सीमंत (14) सेवनी इत्यादि ।

1. त्वचा :– शरीर का आवरण त्वचा कहलाती है। यह संपूर्ण शरीर को ढकने वाली एवं स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठानभूत अवयव हैं। यह स्वेदवाहक स्त्रोतो, लोमो के साथ लोमकुपो का आश्रय स्थान हैं। त्वचा की संख्या 6 होती है । परन्तु सुश्रुत ने सात त्वचा मानी है।

1. उदकधरा – जो जल को धारण करती है, शरीर के काले, श्याम, गौर आदि वर्ण की प्रतीत इसी त्वचा पर होती है। सुश्रृत इसे अवमासिनी कहा है।

2. रक्तधरा :– इसमें रक्त वाहिनियॉ संलग्न रहती है। अतः इसका वर्ण रक्त होता है। आचार्य सुश्रृत ने इसे लोहित कहा है।

3. तीसरी त्वचा श्वेता है जिसमें सिघ्म, किलास रोग होता है।

4. चौथी त्वचा को आचार्य सुश्रुत ने ताम्रा माना है आचार्य चरक के अनुसार यह दद्रु, कुष्ठ का आश्रय है।

5. पॉचवी त्वचा :– अलजी और विद्रधि के स्थान मानते है।

6. छठी त्वचा :– जिसके कट जाने से मनुष्य के ऑखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। और स्थूलमूल वाली फुन्सियॉ का स्थान होता है। आचार्य सुश्रृत इस त्वचा को भगन्दर विद्रधि अर्श का स्थान मानते है।

अस्थि परिचय

अस्थियॉ :– शरीर में दूसरी महत्वपूर्ण अवयव अस्थि है जो शरीर को आकार एवं स्थिरता प्रदान करता है। आचार्य चरक 360 और आचार्य सुश्रुत 300 माने है।

1. दॉत 2. दन्तों उखल

3. नख	4 हाथ पैर की अस्थियॉ की संख्या
5. हाथ–पैर की शालाकास्थियॉ	6. हाथ पैर की आश्रय भूत
7. एड़ी की अस्थियॉ	8. पैर की गुल्फ की
9. हाथ के माणिबंध में	10. अरत्रि की अस्थियॉ
11. जंघां अस्थि	12. जान्व स्थियॉ
13. जानुकपाल	14. ऊर्वस्थि
15. बाहु की नलकास्थि	16. असं की अस्थि
17. असंफलक	18. अक्षकास्थि
19. जन्नु की अस्थि	20. तालु की अस्थि
21. श्रोणिफलक	22. भगास्थि
23. पी	24. गरदन की अस्थि
25. छाती की अस्थि	26. पर्शुकाएँ
27. स्थालक	28. हनुमूल
29. स्थालक अर्षुदं	30. हन्वस्थि
31. हनुमूल को बॉधने वाली अस्थि	32. गण्डकुटास्थि
33. ललाट अस्थि	34. शंखास्थियॉ
35. कपाल अस्थि	

अस्थिगणना :– चरक अष्टांग संग्रह, अष्टांग हृदय, एवं कश्यप संहिता में कुल 360 (तीन सौ साठ अस्थियॉ) इन्द्रिय अधिष्ठान (1) त्वचा (2) जिभ्या (3) नासिका (घ्राणेन्द्रिय) (4) चक्षु (5) श्रोत्र कुल पॉच कर्मेन्द्रिया होता है।

1. दो हाथ 2. दो पैर 3. गुदा 4. मूत्रेन्द्रिया 5. वाकेन्द्रिय (जिभ्या)

सुश्रुत और भावप्रकाश एवं भेल संहिता में अस्थियो की संख्या 360 बताई गई हैं। षडंग शरीर की दृष्टि से सुश्रुत अनुसार

शाखा में	–	120
मध्य शरीर में	–	117
ग्रीवा में	–	63

कुल योग	–	300
चरक अनुसार :–		
चारो शाखाओ में	–	128
मध्य शरीर में	–	140
ग्रीवा के उपर	–	92
कुल	–	360
आधुनिक मतानुसार :–		
शाखाओ में	–	120
मध्य शरीर में	–	50
ग्रीवा के उपर	–	36
कुल	–	206

स्त्रोतस

मानव शरीर में अनेक स्त्रोतस (द्रव्यों का वहन या संचार करने वाले नलिकाओं जैसे रचना) है जिसके माध्यम से त्रिदोष, धातु तथा मल पदार्थ शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान तक निरंतर गति करते रहते है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए इन स्त्रोतों का स्वस्थ रहना आवश्यक है जिससे की शारीरिक द्रव्यों का संचार निर्विघ्न चलता रहे।

दोषों के समान ही शरीर का स्वास्थ्य स्थिर रहने में स्त्रोतों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ये स्त्रोत, आहार, रस, धातु, दोष, मल, प्राण आदि सभी तत्वों को वहन करते है। रस धातु को वहन करके ये शरीर के अन्य धातुओं का पोषण करता है। इसी तरह मल पदार्थो का इनके निज स्त्रोतों द्वारा शरीर से निर्हरण तथा प्राण का वहन कर, जीवन को स्थिर रखते है। मन एवं चेष्टाओं का वहन करके शरीर की क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायक होती है। शरीर में किसी भी द्रव्य की पुष्टि (वृद्धि) या क्षय इन स्त्रोतों पर ही निर्भर करता हैं जब तक ये दोष, धातु आदि के समान, प्राकृत अवस्था में रहते है। रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। जब एक भी स्त्रोत दूषित होता है वह अपने निकटवर्ती अन्य स्त्रोतों को भी दूषित कर

रोग उत्पन्न करते हैं। जैसे कान का पीड़ा, सिर के रोग फेफड़े के रोग उत्पन्न करता है।

स्त्रोत की रचना :– चुकि सृष्टि के समस्त द्रव्य पंचमहाभूतों से बना है। अतः शरीर गत् स्त्रोतों का निर्माण भी महाभूतों से हुआ है। आकाश महाभूत की प्रधानता वाले अंदर से अवकाश (पोली) दृश्य एवं अदृश्य तत्वों को स्त्रोत कहते है। जो क्रमशः दोष, धातु, मल, अन्न, जल, शब्दादि विषय, मन के विषय को धारण एवं परिवहन करते है या शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचाते है इस धारण स्त्रवण गुण के कारण इन्हें स्त्रोत कहते है।

ये स्त्रोत अवकाश युक्त (पोले या खाली, वृत्ताकार नलिका की सी आकृति वाले) कुछ चौड़े, कुछ पतले, कुछ लंबे, कुछ लताओं के समान शाखा या प्रशाखों वाले होते हैं ये जिस द्रव्य को वहन करते है उसके सदृश्य ही उनका रंग होता है।

स्त्रोत दूष्टि का कारण – वायु, अस्थि, आदि रूक्ष गुण वाले दोष या धातु की वृद्धि होने पर स्त्रोतों में संकुचन और स्तंभन या संकोच प्रसार की गति के अभाव होने से कफ, मेद, शुक्र आदि स्निग्ध तत्व की वृद्धि से स्त्रोत में अवरोध उत्पन्न होता है इसी तरह पित्त, रक्त आदि उष्ण व तीक्ष्ण गुणों वाले तत्वों की वृद्धि से स्त्रोतों में पाक होता है। इन तीनों कर्मों के परिणाम स्वरूप स्त्रोतों के अंदर अवकाश कम हो जाता है। जिससे दोष आगे गति नहीं कर सकते। और उसी स्थान पर अटक कर स्थान अनुसार लक्षण उत्पन्न करते है। यही अवस्था स्थान संश्रय कहलाता है।

लक्षण –

इन विकृति के परिणाम स्वरूप स्त्रोत में स्थित द्रव्यो के बाहर निकलने वाले गति अवरूद्ध होगी शिराओं में गांठे बन जाऐंगी तथा द्रव्य का विपरीत मार्ग में गमन या अन्य द्रव्य के मार्ग में गमन हो सकती है । इसका तात्पर्य यह है कि वायु आदि दोषों की समता, वृद्धि और क्षय का प्रभाव, स्त्रोतों की विकृति और प्राकृत का प्रभाव दोषों धातुओं पर पड़ता है। तथा इस अवस्था का प्रभाव शरीर के आरोग्य तथ अनारोग्यता पर पड़ता है।

स्त्रोतों का कार्य – 1. भोजन से निर्मित रस रक्तादि पदार्थों को ग्रहण करना, तथा उनका प्रत्येक धातु तक पहुँचाता है।

2. मलों को, पुरीष, मूत्र आदि को वहन कर उन्हें उनके निज छिद्रों के माध्यम से शरीर से बाहर निकालता है।

3. प्राण का वहन कर जीवन को स्थिर रखते है।

स्त्रोतस – आयुर्वेद मतानुसार पुरूषों में जितनी मूर्तिभाव विशेष (वस्तु) है उतने ही स्त्रोतस माने गये है स्त्रोत जिन्हें आंखों से देख सकते है। जैसे जठर, आंत, धमनीयां, शिराएं, लसीका एवं जनन तंत्र, मूत्र प्रणाली तथा सूक्ष्म स्त्रोत जैसे – सूक्ष्म कोशिकाएं शामिल है। जिनकी गणना संभव नहीं है। सुविधा के लिए मुख्य स्त्रोतों की संख्या 13 मानी गई है।

स्त्रोत की संख्या– ये संख्या में 13 होते है।

1. प्राणवह् स्त्रोतस्
2. उद्कवह् स्त्रोतस्
3. अन्नवह् स्त्रोतस्
4. रसवह् स्त्रोतस्
5. भांसवह् स्त्रोतस्
6. भेदोवह् स्त्रोतस्
7. अस्थिवह् स्त्रोतस्
8. भज्जावह् स्त्रोतस्
9. शुक्रवह् स्त्रोतस्
10. मूत्रवह् स्त्रोतस्
11. पुरीषवह् स्त्रोतस्
12. रक्तवह् स्त्रोतस्
13. स्वेदवह् स्त्रोतस्

सम्पूर्ण शरीर में गति करने वाले दोष, वात, पित्त, कफ ये सभी स्त्रोतों में चलते है।

ये स्त्रोत जब तक प्राकृतिक रूप में रहते है। शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु स्त्रोतों की विकृति की स्थिति में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते है।

1. प्राणवह स्त्रोत का स्थान विकृति का कारण लक्षण–

स्थान :– वह स्त्रोत जो रक्तधारा में प्राणवायु (आक्सीजन) का वहन करता है प्राणवह स्त्रोत कहलाता है। प्राणवह स्त्रोत का मूल स्थान हृदय एवं महा स्त्रोत हैं

विकृति का कारण :–दुर्बलता, वेगावरोध, रूक्ष(रूक्षता), पदार्थों का अधिक प्रयोग भूखे पेट व्यायाम करने से।

लक्षण – 1. हृदय की कमजोरी ।

2. स्वास लेने में कष्ट की अनुभूति या दर्द होना ।

3. स्वास की अनियमितता ।

2. उदक वह स्त्रोत का स्थान विकृति का करण लक्षण :– ये स्त्रोत सीरम और लसीका का वहन करते है इनका मूल स्थान तालु तथा क्लोम है।

विकृति कारण – अधिक गर्मी व लू लगना, अपच, शराब का अधिक सेवन, अत्यन्त रूक्ष भोजन का अति सेवन अधिक प्यास सहन करना ।

लक्षण – तालु, ओष्ठ, जिभ्या तथा कंठ का बार–बार सुखना ।

अन्न वह स्त्रोत का स्थान, विकृति का करण लक्षणः–

स्थान :– मुख के द्वारा खाये गये अन्न को वहन करने वाला स्त्रोत अन्नवह स्रोतस कहलाता है। इसका मूल स्थान आमाशय है।

विकृति का कारण – असमय व अधिक मात्रा में भोजन करना। अपथ्य आहार का सेवन करना । जाठराग्नि का मंद होना इत्यादि।

लक्षण :–

1. भूख न लगना।
2. भोजन में रूचि न होना ।
3. खाये हुए भोजन का वमन हो जाना ।

रस वह स्त्रोत का स्थान विकृति का कारण लक्षण :–

स्थान– आहार रस, लसिका आदि को वहन करने वाला स्त्रोतस, रसवह स्त्रोतस कहलाता है। हृदय, हृदय से संबंधित दस वाहिनियॉ। इसका मूल स्थान है।

विकृति का कारण – अत्यधिक चिन्ता, अत्यंत शीत व रूक्ष भोजन का सेवन करना से।

लक्षण –

1. अरूचि या भोजन में रूचि का न होना ।
2. जी मितलाना या वमन जैसा लगना ।
3. शरीर में भारीपन ।
4. तन्द्रा (आलस्य) बेहोशी।
5. रक्त की कमी।
6. नपुंसकता ।

रक्त वह स्त्रोतस् का स्थान विकृति का कारण एवं लक्षण :–

स्थान :– रक्त को वहन या हीमोग्लोबिन का वहन करने वाला स्त्रोत् रक्त वह स्त्रोत कहलाता हैं यकृत प्लीहा इसका मूल स्थान है।

विकृति का कारण :–अति तीक्षण, अतिउष्ण व स्निग्ध भोजन का सेवन, धूप व आग का अति सेवन ।

लक्षण :–

1. भयानक चर्म विकार (चर्म रोग)।
2. शरीर के छिद्रों या धमनी शिरा से रक्त स्त्राव।
3. त्वचा में घाव उत्पन्न होना ।
4. गुदा एवं जननांगों में सुजन ।

मांस वह स्त्रोतस् का स्थान विकृति का कारण एवं लक्षण :–

स्थान– मांस तंतुओं के तत्वों को वहन करने वाले स्त्रोत को मांस वह स्त्रोत कहा जाता है। कण्डराएं, चर्म, अस्थि बंधक, स्नायु आदि इसके मूल स्थान है।

विकृति का कारण 1. भोजन के तुरंत बाद सो जाना ।
2. बार बार अधिक मात्रा में भोजन करना ।
3. गुरू एवं ठोस भोजन का अधिक मात्रा में सेवन करना।

लक्षण –

अर्बुद (पिण्ड), मांसार्बुद (मांस का पिण्ड या अर्श तालुशेध (सुजन)

गलगण्ड (गले की थाईराईड ग्रंथि का बढ़ जाना) अन्य अर्बुद।

मेदों वह स्त्रोतस् का स्थान विकृति का कारण एवं लक्षण– वसा तत्वों को वहन करने वाले स्त्रोत को मेदोवह स्त्रोतम् कहते है। इसका मूल स्थान गत् मेद, वृक्क है।

विकृति का कारण :– 1. दिन में सोना ।

2. व्यायाम न करना ।

3. अति स्निग्ध भोजन व मदिरा (शराब) का सेवन करना ।

लक्षण :– 1. मूत्र संबंधी विकार उत्पन्न होना।

2. मूत्र का कष्ट के साथ निकलना ।

3. प्रमेह या मधुमेह रोग होना ।

अस्थि वह स्त्रोतस् का स्थान, विकृति का कारण एवं लक्षण :–

अस्थि के पोषण करने वाले तत्वों को वहन करने वाले स्त्रोतस् को अस्थि वह स्त्रोतस् कहते है। कटि या कमर की अस्थियां इसके मूल स्थान है।

विकृति का कारण :–

1. अधिक व्यायाम करना ।
2. अस्थियों का आपस में रगड़ खाना ।
3. वातिक आहार का अधिक सेवन ।

लक्षण :–

1. नाखूनों व दांतों का टूटना ।
2. हड्डियों में पीड़ा होना ।
3. बालों मे रंग परिवर्तन होना ।

मज्जा वह स्त्रोतस् स्थान विकृति का कारण एवं लक्षण :–

स्थान :– अस्थियों का संधियों संबंधी पौष्टिक तत्व या स्नेहांश को वहन करने वाले स्त्रोत को मज्जा वह स्त्रोतस् कहते है।

विकृति का कारण :– अस्थियां व संधियां इसका मूल स्थान है।

1. विरूद्धाहार अर्थात मछली संग, दूध या अन्य गर्म पदार्थ का सेवन करना ।

2. कुचले जाने या दबाव आदि से मज्जा में चोट लगना।

लक्षण :– 1. संधियों में पीड़ा ।

2. भ्रम (विभ्रमित होना)

3. आंखों के आगे अंधेरा छा जाना ।

4. गंभीर विद्रधि (गहराई में मूल वाले घाव)

शुक्रवह स्त्रोतस् का स्थान, विकृति का कारण, लक्षण :– शुक्र व रज(आर्तव) तथा उनके लिए पोषकत्व को वहन करने वाली स्त्रोत को शुक वह स्त्रोत कहते है। अण्डाशय व डिम्बाशय इसके मूल स्थान है।

विकृति का कारण :– 1. असमय में सहवास करना ।

2. अप्राकृतिक ढंग से सहवास करना।

3. सहवास का आधिक्य ।

4. सहवास की इच्छा को दबाना ।

मूत्र वह स्त्रोतस् का स्थान, विकृति का कारण एवं लक्षण :– मूत्र को वहन करने वाले स्त्रोतस् का मूत्र वह स्त्रोत कहते है। वृक्क एवं वस्ति इसका मूत्र स्थान है।

विकृति का कारण :–

1. मूत्र के वेग को रोकना ।

2. मूत्र के वेग को रोकना और मूत्रवेग के समय में भोजन करना, पेय पदार्थों का सेवन करना

3. मूत्र वेग को रोक कर सहवास करना ।

ये उपर्युक्त कारणों से मूत्र वह स्त्रोतस् विकृत या अवरूद्ध होते है।

लक्षण 1. अधिक मात्रा में पेशाब (मूत्र) होना ।

2. मूत्र का बिलकुल न होना ।

3. बार बार मूत्र का त्याग करना ।

4. मूत्र का गाढ़ा होना ।

पुरिष वह स्त्रोत का स्थान, विकृति का कारण एवं लक्षण :–

स्थान :– पुरीष (भोजन का असारभाग जो मल द्वार से बाहर निकलता है) का वहन करने वाले स्त्रोतस् को पुरीष वह स्त्रोतस् कहते है। इसका मूल बृहद् आंत्र व मलाशय है।

<u>विकृति का कारण :–</u> 1. पुरीष के वेग को रोकना ।

2. पहले किये गये भोजन के पचने से पूर्व दुबारा भोजन करना।

3. जाठराग्नि का मंद होना ।

<u>लक्षण :–</u> 1. मल का अधिक मात्रा में होना ।

2. कड़ा मल का निकलना ।

<u>स्वेद वह स्त्रोतस् का स्थान, विकृति का कारण एवं लक्षण</u> :–

<u>स्थान</u>– स्वेद (पसीना) का वहन वाले स्त्रोतस् स्वेदवह स्त्रोतस कहलाते है। वसा तंतु व रोमकुप इसके मूल है।

<u>विकृति का कारण –</u>

1. अधिक व्यायाम करना ।
2. तेज धूप में अधिक देर तक रहना ।
3. क्रोध, शोक व भय से ग्रस्त होन पर ।

<u>लक्षण –</u>

1. अत्यधिक पसीना का निकलना ।
2. पसीना का बिल्कुल नां निकलना ।
3. त्वचा में रूक्षता (रूखापन) ।
4. रोमांच (रोमों का खड़ा हो जाना) ।

संधि परीचय लक्षण एवं परीभाषा :–

1. अस्थि संयोग स्थान को संधि कहा जाता हैं।

2. जिस स्थान पर दो अंगो का संधान होता है उस स्थान को संधि कहते हैं।

3. जब दो या दो से अधिक अस्थियों के सिरे जब आपस में मिलते हैं उस संयोग को संधि कहते हैं।

संधि संख्या :–

1. आचार्य चरक ने संधियो की संख्या 290 बताई हैं।

2. अष्टांग हृदय में सभी संधियो की संख्या 2000 माना हैं। इसमें पेशीय सिरा आदि की संधिया आती हैं।

3. सुश्रुत ने षडंगो में 210 मानी हैं ।

चारो शाखाओ में –68

मध्य शरीर में –59

ग्रीवा के उपर –83

कुल :–210।

<u>मांसपेशीय परिचय :–</u> अस्थियो के संधि स्थान को दृढ करने एवं उसकी गति में सहायक होने से मांसपेशी का शरीर की दृष्टि से विशेष महत्व हैं। शरीर के प्रत्येक अंग एवं प्रत्यंगो में आच्छादित होकर संपूर्ण शरीर के अवयवो की रक्षा करती हैं। ये पेशीयॉ शरीर की सभी प्रकार की चेष्टाओ में सहायक है। इनका निर्माण शरीर के मांस धातु से होता हैं। सभी पेशीयों का मूल कार्य आकुंचन प्रसारण हैं।

स्वरूप :– सुश्रुत के मतानुार पित्त युक्त वायु मांस में प्रवेश करके उसे पेशीयों में विभक्त करती हैं। या वायु के प्रवेश होने पर जब मांस विभक्त हो जाता हैं तब मांस के उसी विभागो को पेशी कहते हैं।

परिभाषा :– शरीर में लाल रंग की रेशेदार आकुंचन प्रसरणशील जो मांस धातु हैं उस मांस पिण्ड को पेशी कहा जाती हैं।

पेशीयो की चेष्टाऐं :– शरीर की सभी चेष्टाए पेशीयो पर आधारित हैं।

1. आर्कषण 2. अपकर्षण 3. उन्नमन 4. अवनमन 5. संकोचन 6. प्रसारण 7. मुद्रण 8. विस्फारण आदि नाम की होती हैं। इनमें आकर्षण का अर्थ मध्य रेखा की ओर खींचना हैं। अपकर्षण मध्य रेखा से बाहर की तरफ खींचना हैं। उन्नमन उपरी की ओर खीचना हैं। इसी को कही उत्कर्षण या कर्षण भी कहते हैं। अवनमन नीचे

को झुकाने का नाम हैं। संकोचन अंगुली आदि को हांथ–पांव की ओर खींचना हैं। इसके विपरीत प्रसारण हैं ।

पेशीय की संख्या :–

सुश्रुत संपूर्ण शरीर में 500 पेशीय लिखते हैं।

शाखाओ में	– 400
धड़ में	– 66
गर्दन व सिर में	– 34
कुल	–500

स्त्रियो में 20 अधिक होने से संख्या 520 हो जाती हैं। ये अधिक पेशी गर्भाशय और स्तनो में पाई जाती हैं।

सिरा परिचय एवं सिरा की परिभाषा :– वे सभी प्रणालियां जो शरीर के रक्त को हृदय की तरफ ले जाती हैं, उन्हें ही सिरा कहते हैं। ये संपूर्ण शरीर में फैली हुई अशुद्ध रक्त को वहन करने वाली होती हैं।

जिनमें सरण होता हैं उन्हे सिरा कहा जाता हैं। सिराओ के आकुंचन और प्रसारण के द्वारा शरीर का उपस्नेह और परिपालन होता हैं। इसके अनेक शाखाएं होती हैं। इनका उद्गम स्थान नाभि हैं और वही से सारे शरीर में फैलती हैं। इसका वर्ण अरूण, नीला, शुक्ल, रक्त वर्ण का होता हैं तथा स्पंदनहीन होता हैं।

सिरा संख्या :–

संपूर्ण शरीर में 700 सिराए होती हैं जिनमें मूल सिराएं 40 होती हैं जिन्हें चार भागो में बांटा गया हैं।

वातवह सिरा	10
पित्तवह सिरा	10
कफवह सिरा	10
रक्तवह सिरा	10

प्रत्येक का स्थानगत 175–175 कुल 700 सिराएं होती हैं।

धमनी परिचय :– सामान्य रूप में धमनी शब्द से अभिप्राय संपूर्ण शरीर में में शुद्ध रक्त को बहाने वाली प्रणालीयो से हैं। इन सभी

का मूल स्थान हृदय हैं। हृदय धमनियो के द्वारा ही संपूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त का संचार करता हैं।

परिभाषा :— 1. *आचार्य चरक अनुसार :* ध्मान और धमन क्रिया द्वारा जो रक्त को हृदय से सर्वशरीरगत गति कराती हैं वह धमनी हैं।

2. धमन के साथ गति करने वाली तथा जो शुद्ध रक्त के साथ शरीर की पूरण और पोषण करती है वे धमनीयां कहलाती हैं।

धमनीयो की संख्या :— हमारे शरीर में कुल 24 धमनीयां होती हैं

1. उर्ध्वगामी धमनीयां 10

2. अधोगामी धमनीयां 10

3. तिर्यकगामी धमनीयां 04

कला परिचय :— 1. दो धात्वाशयों के मध्य में शरीर की गर्मी से परिपक्व हुआ जो क्लिन्न सा भाग है उसे कला कहते हैं।

2. शारीरिक धातुओं एवं आशयो में पृथकता या भिन्नता करनेवाला मध्य का आवरणयुक्त जो भाग हैं उसे कला कहा जाता हैं।

कला की संख्याा :— कलाओ की संख्या 7 होती हैं।

1. मांसधरा कला
2. रक्तधरा कला
3. मेदोधरा कला
4. श्लेष्मधरा कला
5. पूरीषधरा कला
6. पित्तधरा कला
7. शुक्रधरा कला

कोष्ट एवं कोष्टांग :—

सुश्रुत के अनुसार आठ अवयवो को एक जगह मिलाकर उसे कोष्ट कहा गया हैं। अर्थात आमाशय, अग्नाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रूधिराशय, उण्डूक और दोनो फुफ्फूस

शरीर के अवकाश स्थान को कोष्ठ कहते हैं। आयुर्वेद में महास्त्रोतो को कोष्ठ कहते हैं। कोष्ठ में स्थित अवयवो को कोष्ठांग कहा जाता हैं।

चरक अनुसार :– 1. नाभि 2. हृदय 3. क्लोम 4. यकृत 5. प्लीहा 6. दोनो वृक्क 7. वस्ति 8. पूरीषाधार 9. आमाशय 10. पक्वाशय 11. उत्तर गूद 12. अधर गुद 13. क्षुद्रान्त 14. स्थूलांत्र 15. वपावहन

सुश्रुत के अनुसार :– 1. हृदय 2. रूधिर स्थान 3. मूत्रस्थान 4. उण्डूक 5. आमस्थान 6. पक्वस्थान 7. फुफ्फुस 8. अग्निस्थान

आशय परिचय :–

1. जिसमें कोई वस्तु आश्रय लेकर रहती हो उसे आशय कहा जाता हैं।

2. दोषो के अधिष्ठान को आशय कहते हैं।

3. जो आकाश युक्त अवयव हो उसे आशय कहा जात हैं।

आशय की संख्या आठ होती हैं :

1. वाताशय 2. पित्ताशय 3. श्लेष्माशय 4. रक्ताशय
5. आमाशय 6. पक्वाशय 7. मूत्राशय 8. गर्भाशय

<u>मर्म परिचय</u> :–

शरीर के वे स्थान जहा आघात या चोट के कारण मृत्यु हो जाए मर्म कहलाते हैं।

मर्म की संख्या : इनकी संख्या पांच बताई गई हैं।

1. मांस मर्म 2. सिरामर्म 3. स्नायू मर्म 4. अस्थि मर्म
5. संधि मर्म

कुल मर्मो की संख्या 107 हैं।

परिणाम अनुसार मर्मो की संख्या पांच होती हैं

1. सद्यप्राणहर

2. कालांतर प्राणहर

3 . विशल्यहन

4 . वैकल्यकर

5 . रूजाकर

त्रिमर्म : वस्ति, हृदय एवं सिर को प्रधान मर्म माना गया हैं।

ओजस

ओजस या ओज सब धातुओं का सार होने के कारण वास्तविक बल का कारण होता है। यह रस से लेकर शुक्र तक सभी धातुओं में व्याप्त रहता है। ओज की पुष्टि भी रसादि धातुओ के सदृश आहार रस से ही होता हैं इसे सब धातुओ का सार या उत्कृष्ट अंश कहा गया हैं। यही कारण हैं कि दोषादि चाहे साम्यावस्था में हों, परंतु ओज के अभाव में वे भी शरीर को धारण नही करते। अर्थात् ओजो के नाश होने पर शरीर का भी नाश हो जाता हैं। ओज से ही सभी धातुओ की स्थिरता और उनके उत्तरोत्तर धातुओ का पोषण संभव हैं। मनुष्य के कायिक (शारीरिक), मानसिक व वाचिक सभी कार्य, कर्मेन्द्रियो व ज्ञानेन्द्रियो की कार्य सामर्थ्य एवं मन, बुद्धि व अहंकार के संकल्प आदि कार्यो का संपादन भी ओज के कारण ही संभव हैं। इसी सार तत्व के कारण ही व्यक्ति सुख दूखादि द्वन्दो में स्थिर रह सकता हैं। ओज से स्वर और वर्ण श्रेष्ठ बनते हैं। रोग प्रतिरोधक शक्ति भी ओज द्वारा प्राप्त होती हैं। संक्षेप में, प्राणो का आधार यह ओज ही माना गया हैं।

शरीर में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी इसका विशेष स्थान हृदय ही माना गया हैं। क्योकि हृदय से निकलने वाली धमनियो ओर उनकी शाखा प्रशाखाओ द्वारा ही सारे शरीर में फैलता हैं। कुछ विद्वान ओज को उपधातु भी मानते हैं। क्योकि ओज धातुओ के सदृश शरीर का धारण तो करता है, परंतु अल्पमात्रा में होने के कारण किसी धातु का पोषण नही कर पाता।

ओजक्षय के लक्षण :–

ओजक्षय के कारण व्यक्ति सर्वदा दूसरो के आगे दबा रहता हैं। उसका शरीर और मन बलहीन, इंद्रिया, हमेशा थकी हुई, शरीर निश्तेज, रूक्ष, कृश, उत्साहहीन व मन चिंता से ग्रस्त होता हैं।

ओजक्षय के कारण

धातुक्षय (एक या एकाधिक दोष, धातु या मलो का क्षय), क्रोध, शोक, चिंता, भय आदि मानसिक आवेग, रूक्ष भोजन व पेय पदार्थो का सेवन, उपवास इत्यादि।

ओज का पोषण :–

मन को हमेंशा प्रसन्न रखना तथा मन के अनुकूल आनंददायक आहार विहार का सेवन ओज की वृद्धि के प्रमुख उपाय हैं। मधुर, शीतवीर्य, स्निग्ध , लघु तथा सात्म्य आहार से ओज का पोषण होता हैं। दूध, मांसरस, जीवनीय गण के औषधि द्रव्य, रसायन एवं बाजीकरण औषधियो के सेवन से ओज की वृद्धि होती हैं। इन उपायो के साथ ही पुरीषादि मलो और रसादि धातुओ के स्त्रोतो को भी शुद्ध रखना चाहिए। बालको को ओजोवर्द्धक आहार–विहार का विशेष रूप से सेवन कराना चाहिए।

सारांश

इस इकाई में आपने

1. अग्नि का सामान्य परिचय ।

2. दोषो के आम, साम, निराम लक्षण।

3. शरीर विज्ञान का संक्षिप्त परिचय।

4. ओज का संक्षिप्त परिचय।

का अध्ययन किया जिससे उपर्युक्त विषयो के अनुसार आप अपने स्वास्थ्य का अध्यय मिून कर सकते हैं

अभ्याश प्रश्न

1. अग्नि की परिभाषा लिखकर उसके भेदो का संक्षिप्त परिचय लिखिए

2. शरीर की परिभाषा लिखकर, संक्षिप्त में शरीर अवयवो का परिचय लिखे

3. ओज पर एक निबंध लिखिए ।

पाठक्रम आयुर्वेद प्रबोध
प्रथम प्रश्न पत्र
इकाई – 5
(स्वथ्यवृत–विज्ञान)

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु
   स्वस्थवृत की परिभाषा एवं स्वास्थ्य की परिभाषा।
   स्वस्थवृत को अनुसार, दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं निद्रा विमर्श।
   काल विभाजन एवं ऋतुचर्या।
   धारणीय – अधारणीय वेग परिचय, सदवृत परिचय।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न।

1. उद्देश्य –

यह आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम का अंतिम इकाई है। इस इकाई में हम आपको आयुर्वेद के स्वस्थवृत विज्ञान से परिचित करायेंगें। जिसके अध्ययन पश्चात आप –

(1) स्वस्थवृत के अनुसार दिनचर्या रात्रिचर्या का पालन कर अपने जीवन को सुखमय बनायेंगे।

(2) स्वास्थ्य के लक्षणों के अनुसार आप अपने स्वास्थ्य का निरीक्षण कर पायेंगे।

(3) ऋतु के अनुसार आहार–विहार का पालन कर ऋतुजन्य रोगों से मुक्त होंगे एवं अपने आप को बलशाली बनायेंगे।

(4) शारीरिक वर्गो की धारण–अधारण के नियम को पालन कर एवं परिवार को सचेत कर अपने परिवार एवं समाज को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक कर पायेंगे।

(5) सद्वृत का पालन कर समाज में प्रतिष्ठित होंगे।

2 प्रस्तावना –

पाठ्यकम से सम्बन्धित यह अंतिम एवं पांचवी इकाई है। इस इकाई को अध्ययन करने से पहले आप यह जान ले कि स्वस्थवृत विज्ञान क्या है।

यह वह विज्ञान है जो हमारे जीवन में घटने वाली प्रत्येक क्रियाओं का अवलोकन करता है जीने की कला सिखाती है। प्रतिदिन को कैसे आत्म सात कर पवित्र स्वस्थ एवं दीर्घव्यतीत जीवन कर सकते है। इसकी सही शिक्षा स्ववृत विज्ञान से प्राप्त होती है।

इस अध्याय के अन्तरगत दैनिक दिनचर्या रात्रिचर्या अर्थात् दिन की शुरूआत कैसे कर जिससे हमारा स्वास्थ अच्छा रहे तथा सोकर उठने से लेकर सोने के लिए बिस्तर पर जाने तक की समस्त क्रिया। इसी तरह वर्ष में आने वाले ऋतुओं (मौसमों) में खान–पान अन्य क्रियायें कैसी हो, जिससे हमें मौसमी रोगों से आक्रान्त न होना पड़े। इस तरह जीवन में चरितार्थ होने वाली सभी कहावतों का जो स्वास्थ्य से संबंधित है। पूर्ण रूप से आयुर्वेद स्ववृत विज्ञान से सहमत लगते है। इस इकाई के अध्ययन पश्चात आप अपनी स्वास्थ के प्रति जागरूक हो जायेंगे। तथा स्वस्थ जीवन जीने की कला सीख जायेंगे। इसी तरह हमारे शरीर जो मल, मूत्र, शुक्र आदि वेग

है, उनके वेगों को रोकना या ऐसे क्रोध लोभादि के वेगों जो धारण करना चाहिए। ऐसे वेगों के लिए वर्णित धारणीय एवं अधारणीय वेगों के नियमों को पालन करने से सामाजिक एवं पारिवारिक उपहास तथा मानसिक तनाव से बचा जा सकता है। इस तरह स्वास्थ की परिभाषा को अपने जीवन में उतार कर मन, इन्द्रिय एवं आत्मा को प्रसन्न रखा जा सकता है, एवं चूंकि पूर्व में अध्ययन कर चुके है कि दोष, धातु, मल ही शरीर के मूल है। और इनकी साम्य अवस्था, आरोग्य एवं विषम अवस्था रोग की स्थिति है। अतः दोष धातु मलों को साम्य अवस्था में तभी रखा जा सकता हैं। जब हम स्वस्थ वृत के अनुसार दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतु चर्या एवं धारणीय अधारणीय वेगों के सिद्धान्तों का पालन करें।

<u>स्वस्थवृत की परिचय</u>

आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार मानव शरीर का रोग–आरोग्य की अवस्था में रहना त्रिदोष (वात–पित्त–कफ) प्रधानता पर निर्भर रहता है। दोषों की प्रधानता वय, ऋतु, दिन–रात्रि भोजन (आहार–विहार) की अवस्था के अनुसार अलग–अलग होती है। जैसे–

दिन के आरंभ में कफ की प्रधानता।

मध्य दोपहर को पित्त की प्रधानता।

अन्त में (शाम) वात दोष की प्रधानता होती है

इसी तरह तरह–रात्रि के आदि में वात, मध्य में पित्त तथा तथा अंत में कफ की प्रधानता होती है। भोजन के पाचन के समय आरंभ (ग्रहण समय) में कफ, मध्य (पच्यमान) अवस्था में पित्त एवं पाचन पश्चात् वात दोष की प्रधानता होती है। इसी के आधार पर दोषों का संचय, प्रकोप व रोगोत्पत्ति होती है। इस रोगो की रोकथाम एवं स्वास्थ रक्षा के लिए आयुर्वेद में दिन–रात्रि, ऋतु अनुसार आहार–विहार का वर्णन है इस विभाग को स्वस्थ्यवृत्त कहा जाता है। स्वस्थ्यवृत्त चिकित्सा विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से इस विषय को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हो चुकी है। जनस्वास्थ्य की उन्नति, रोगों के रोकथाम, रोग निदान तथा चिकित्सा से अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। यदि सामुदायिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर जनस्वास्थ्य उन्नत नहीं होगा और नाना प्रकार के

रोग उत्पन्न होते रहेंगे, तो राष्ट्र के धन, जन दोनों की हानि की संभावना बनी रहेगी। रोगों के रोकथाम में धन लगाना, रोग के निदान एवं चिकित्सा में धन लगाने से अधिक उपयोगी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने देशी चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों को स्वास्थ शिक्षा, रोग प्रतिरोधक कार्य में आगे आने का सुझाव दिया है। इस परिक्षेत्र में में आयुर्वेद की भूमिका महत्वपूर्ण है क्योंकि आयुर्वेद सभी चिकित्सा पद्धति में अग्रणी हैं आयुर्वेद के उद्देश्य है।

(1) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ की रक्षा करना है।

(2) आतुर के विकार का प्रशमन करना है।

अतः प्रथम प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ की रक्षा करना ही स्वस्थवृत का विषय वस्तु है। अंतरगत स्वस्थ वृत के सौद्धांतिक एवं व्यवहारिक मूल्य का वर्णन है। आयुर्वेद में आयु की परिभाषा बताते हुये कहा गया है कि शरीर–इन्द्रिय, आत्मा के संयोग को आयु कहा गया है। और सुखमय जिन्दगी को आरोग्य कहा जाता है और इसी आरोग्य की रक्षा स्वस्थ्यवृत्त द्वारा की जाती है। अर्थात् पूर्ण स्वस्थ्य के वैशिष्ठ्य का विवेचन, उन्नयन के उपायों का उपदेश स्वस्थ वृत विज्ञान का प्रयोजन है।

<u>स्वस्थवृत की परिभाषा –</u> दिनचर्या (ब्रम्ह मुहुर्त से, प्रतिदन सोकर उठने से लेकर रात्रि विश्राम के लिए जाने तक) रात्रिचर्या (आहार–निद्रा) ऋतुचर्या (आहार–विहार का पालन करना) में तीनों विषय का वर्ग स्वस्थवृत कहलाता है।

स्वस्थवृत के पालन से रोग दूर रहता है। जिससे मनुष्य आरोग्य पूर्वक, सप्रयोजन जीवन यापन करता है। और त्रै–ऐष्णाओं एवं पुरूषार्थ चतुष्ठय की प्राप्ति की जा सकती है।

<u>तीन ऐष्णायें –</u>

मन, बुद्धि, शक्ति से युक्त मनुष्यों की इस लोक और परलोक में कल्याण चाहने की इच्छा (एष्णा) होती है।

(1) प्राण – एषणा (2) धन – एषणा (3) परलोक – एषणा

<u>(1) प्राण–एषणा–</u>

प्राण की रक्षा के लिए स्वस्थ मनुष्य का स्वस्थवृत के नियमों को मानकर जीवन निर्वाह करना एवं अपने प्राण या स्वास्थ को बनाये रखना प्राण एषणा है।

(2) <u>धन एषणा–</u>

जीवन रहने पर धन की आवश्यकता होती है अतः धन प्राप्ति के साधनों को प्राप्त करने के लिए काम करना धन एषणा है। जैसे –

(1) कृषि करना। (2) नौकरी करना।(3) व्यवसाय करना

(3) <u>परलोक एषणा –</u>

दीर्घ आयु और धन प्राप्ति के बाद परलोक एषणा का स्थान है। जिससे प्राप्ति के लिए मनुष्य मन, वचन एवं कर्म में पवित्रता रखता है जो पूर्व कर्म के पापों से बचा रहता है। पुनः जन्म लेने पर सम्पन्न एवं स्वस्थ्य जीवन व्यतीत करें। यही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन भी है, क्योंकि मृत्यु तो अवश्य होता है उसको झुठलाया नहीं जा सकता, फिर भी कुछ कर्मो के द्वारा रोग दूर किये जा सकते है। इसी उद्देश्य से आयुर्वेद में स्वस्थवृत विज्ञान का विकास किया गया है। अतः बुद्धिमान पुरूष को अपनी स्वास्थ्य रक्षा में हमेशा तत्पर रहना चाहिए।

पुरूषार्थ – चतुष्ठक (1) धर्म (2) अर्थ (3) काम (4) मोक्ष

आयुर्वेद में स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या एवं आहार संहिता के पालन का विधान दिया है। जिसके पालन से मनुष्य, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

<u>स्वास्थ्य की परिभाषा –</u>

सम दोषः समाग्निश्च समधातु मलः किया।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।

1. <u>समदोष :–</u>

शरीर में तीन दोष होते है। वात, पित्त, कफ। ये जब सम (प्राकृत रूप से न ज्यादा, न कम) अवस्था में रहते है, तब शरीर स्वस्थ रहता है। यदि शरीर में इन दोषों की अवस्था में क्षीण (कम) वृद्धि (ज्यादा) हो तो विभिन्न वातज (दोषज) रोग उत्पन्न होते है।

2. <u>समाग्नि :–</u>

प्राणियों की शरीर में पाचन के लिए जो ऊर्जा होती है। उसे अग्नि कहा जाता है। अर्थात् शरीरगतॅ पाचन किया को पूर्ण करने वाली शक्ति अग्नि कहलाती है अतः इस शरीर में इसकी तीव्रता का

ह्रास (कम) वृद्धि (ज्यादा) होना, रोग उत्पन्न करता है। इस अग्नि को पाचाग्नि या जठराग्नि कहते है।

3. समधातु :–

शरीर में सात धातुएं होती है यह शरीर का धारण पोषण करती है अतः धातु कहलाते है ये सप्त धातुएं निम्न है :–

(1) रस (2) रक्त (3) मांस (4) मेद (5) अस्थि

(6) मज्जा (7) शुक्र

शरीर में इनकी उपस्थिति का क्षय (कम) वृद्धि (बढ़) जाना, रोग का कारण होता है। धातुएं की क्षय, वृद्धि उन्हीं के अनुरूप प्रतिकुल आहार, विहार सेवन करने से होती है।

4. मलमूत्र :–

आयुर्वेद के अनुसार आहार का मुख्य या प्रसाद अंश से धातुओ का निर्माण होता है और वह अंश जो शरीर में अवशोषित नहीं होता उसे मल कहते है। ठोस मल को पुरीष एवं तथा जलीय मल को मूत्र एवं स्वेद कहा जाता है। ये मल–मूत्र शरीर से बाहर निकलते है। शरीर से बाहर निकलते है। शरीर से निकलने की क्रिया एवं मात्रा में अधिक या अल्प (कम) होना रोग की अवस्था मानी जाती है। अतः सामान्य रूप से बिना किसी रूकावट के बिना मल मूत्र का शरीर से बाहर निकलना स्वस्थ शरीर का लक्षण है।

5. आत्मा, मन और इन्द्रियों का स्वस्थ रहना अर्थात् मन में उत्साह हो, उमंग हो, खुशी हो, इन्द्रियों (कान, ऑख, नाक, रसना, त्वचा) का अपने अपने विषय (देखना, सुनना, सुंघना, स्वाद, स्पर्श या संवेदना) को सम्यक रूप से ग्रहण करें।

अर्थात् इन सभी विषयों को जैसे दोष का सम (बराबर) अवस्था में रहना, शरीर में स्थित अग्नि अपनी प्राकृत कर्म (पाचन) कर रहा हो, सभी रसादि धातुएं सम अवस्था में हो, मल मूत्र का निर्बाध विसर्जन होता है मन का प्रसन्न रहना इन्द्रियों की प्राकृत कार्य सुचारू रूप से रहे इन सभी लक्षणों से युक्त पुरूष को स्वस्थ्य पुरूष कहते है। यही स्वास्थ्य की परिभाषा है।

नाक, मुख तथा चेहरे पर रात की उत्पन्न हुई मैल साफ हो जाती है। तथा व्यक्ति ताजगी महसूस करता है। मौसम के अनुसार

सर्दी के मौसम में गुनगुने जल से तथा गर्मी के मौसम में ठंडे जल से मुख धोना चाहिए।

दिनचर्या :–

प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को प्रातःकाल ब्रम्ह मुहूर्त(सुबह चार बजे) बिस्तर से उठ जाना चाहिए। इस समय की आध्यात्म जगत में बहुत महत्व हैं ब्रम्ह मुहुर्त में पूजा–जप इत्यादि पवित्र कार्य साधु संतो एवं गृहस्थों के द्वारा की जाती हैं। जिससे वातावरण में सात्विक तरंगे बहती है अतः इस समय जाग जाने पर यह तरंगे चेतन मन को भी पवित्र करती हैं। आचार्य चरक ने ब्रम्ह मुहुर्त में उठने के बाद निम्न कर्म करने कहा हैं।

1) मुख प्रक्षालन(धोना)
2) धुम्रपान
3) नस्य
4) दंतधावन
5) शौच (मल–मूत्र त्याग करना)
6) मुख में सुंगधित द्रव्यों का धारण
7) जिभ्या निर्लेखन
8) स्नेह गंडुष(तैल से कुल्ला करना)
9) सिर में तैल धारण करना या मालिश करना
10) कान में तैल डालना
11) शरीर में तैल मर्दन करना
12) शरीर को पोछना एवं स्नान करना।
13) स्वच्छ वस्त्र धारण करना।
14) सुगंधित द्रव्यों का लेप एवं माला धारण करना।
15) रत्न, आभूषण धारण करना
16) जूते एवं खड़ाउ धारण करना।
17) छाता एवं दंड धारण करना।

1 . मुख प्रच्छालनः–

प्रत्येक मौसम में बिस्तर छोड़ने के तत्काल बाद पानी से मुंह अवश्य धोना चाहिए। इससे आंखो, नाक, मुख, तथा चेहरे पर रात की उत्पन्न हुई मैल साफ हो जाती हैं। तथा व्यक्ति ताजगी महसूस करता हैं। मौसम के अनुसार सर्दी के मौसम में

गुनगुने जल से तथा गर्मी के मौसम में ठंडे जल से मुख धोना चाहिए।

(1) अंजन :–

नेत्र की सफाई एवं ज्योति को निर्मल करने के लिए अंजन का प्रयोग करते है। आयुर्वेद में पांच प्रकार के अंजन बताये है।

(1) सौवीरांजन (2) रसांजन (3) स्त्रोतोंजन
(4) पुष्पांजन (5) नीलांजन।

सौवीरांजन नेत्र के लिए उत्तम अंजन है, जिसका प्रयोग दिन में भी करते है बाकी अंजन का प्रयोग रात्रि में सोते समय करते है। नेत्र का संपर्क बाह्य वातावरण से अधिक होने के कारण इसको सदा स्वस्थ रखने के लिए आचार्य सुश्रुत ने (1)तर्पण, (2) पुटपाक, (3) सेक, (4) आश्च्योतन (5) अंजन, इन पांच क्रियाओं को स्वस्थ्य नेत्र के रक्षार्थ या नेत्ररोग के शमनार्थ प्रयोग करते है।

(1) तर्पण – वात, धूप और धूलि से रहित स्थान में रोगी को स्नान, शयन कराकर नेत्र के चारों तरफ उड़द की पीठी से दो अंगुल उंचा, छिद्र रहित गोलाकार घेरा बनाते है, एवं रोगी के नेत्र को बंद कर दें। फिर एक पात्र में गरम पानी रख कर उसके उपर पात्र रखकर घृत या औषधि के पकाये घृत जो नेत्र रोगों के लिए बनाये गये हो पिघलाते है तथा पीठी के घेरे में भरकर व्यक्ति को आंख खोलने के लिए कहा जाता है। पीठी के घर में इतना घृत भरते है कि नेत्र पलक डूब जाता है। तर्पन से सुखद नींद, सुखद स्वप्न, सही वर्ण का बोध होना, ज्योति का बढ़ना आदि लाभ होते है।

(2) पुटपाक – औषधि द्रव्यों को लेकर वाष्प में कपड़े के उपर रख कर पकाते है और फिर निचोड़ कर, द्रव को छान कर आंख में डालते है। पुटपाक का निर्माण –

(1)स्नेहन (नेत्रों की स्निग्धता) (2) रोपण (घाव को भरना)
(3) लेखन (दूषित पदार्थ को निकालना) कर्म के अनुसार करते है।

(3) सेक –यह सेक भी स्नेहन, रोपण एवं लेखन कर्म के अनुसार तीन प्रकार का होता है। आजकल बोरीक पावडर प्रयोग सेक के लिए किया जाता है।

(4) आश्च्योतन –औषधी द्रव्य का नेत्र बिन्दु तैयार कर नेत्रों में डालते है यह भी स्नेहन, रोपण एवं लेखन कर्म भेद से तीन प्रकार

का होता है।

उषाः पान – सो उठ कर खाली पेट पानी पीना। चेहरा और ऑखें धोने के पश्चात खाली पेट में 1 से 3 गिलास पानी पीना चाहिये ये क्रिया सभी ऋतु में लाभदायक होता है। आंत में फंसे मल, मलाशय में पहुंच कर आसानी से बाहर निकलता है इसी तरह मूत्र भी ठीक तरह विसर्जित होता है तांबा का प्रयोग (भस्म या औषधि रूप में) उदर (पेट) रोगों के लिए फायदेमंद होता है अतः तांबा के पात्र में रात भर रखा जल पीने से आंतों की क्रिया को बढ़ाता है, एवं शौच क्रिया सम्यक एवं बिना तकलीफ की होती है।

धूम्रपान – अनेक प्रकार की रोगों की चिकित्सा एवं रोकथाम के लिए आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के धूम्रवर्ति (सिगरेट, सिगार) का निर्माण करते है वर्ती वनस्पति औषधि से बनाया जाता है इसमें तम्बाखु आदि का प्रयोग नहीं करते है।

धूमवर्ति में प्रयोग होने वाले द्रव्य –

रेणुका, प्रियंगु, चन्दन, तेजपत्र, दालचीनी, छोटी इलायची, गुगुल, खस, पद्यमाख, बरगद की छाल, गुलर की छाल, पीपल की छाल, पाकड़ (डुमर) की छाल, नागर मोथा, राल, कमल, नीलकमल इत्यादि औषधियों को गीली पीसकर एक अंगुठे इतनी मोटी लकड़ी में लपेटकर छाया में सुखाते है सुख जाने पर सींक निकालकर घृत, तैल में डुबा कर सिंगार पाइप या इसी तरह के होल्डर में रख कर अग्नि डालकर सेवन करते है।

स्वस्थवृत के अन्तरगत तीन प्रकार के धुम्र बताये है।

(1) प्रायोगिकी

(2) स्नैहिकी

(3) शिरोवैरेचनिकी

धुम्रपान से लाभ :– धुम्रपान करने से शिर का भारीपन, शिःरशुल, पीनस, अर्धावभेदक, कान और नेत्र का शूल कास, हिचकी, दमा, गल ग्रह, दांतों की दुर्बलता, कान, नाम, नेत्रों से दोषजन्य स्त्राव होना। मुंह से नाक, कान से दुर्गन्ध निकलना। केशों का पकना, झड़ना, छीक आना, अधिक तन्द्रा, ज्ञानेद्रियों का दूषित होना, अधिक निद्रा आदि रोग शान्त होते है।

धुम्रपान के प्रायोगिक काल – चूंकि धुम्रपान से वात आदि दोषों का

निर्हरण होता है अतः इसके प्रयोग के आठ काल बताये है।

(1) स्नान करने के बाद (2) भोजन करने के बाद
(3) वमन करने के बाद (4) छींक आने के बाद
(5) दातौन करने के बाद (6) नस्य लेने के बाद
(7) अंजन के बाद (8) निद्रा से उठने के बाद।

उपरोक्त धूम्रपान से शिर के उर्ध्व (उपर) भाग में होने वाले रोगों से रक्षा होती है। आचार्य चरक का निर्देश है कि प्रायोगिक धूम्र का प्रयोग एक बार में तीन सुट (कश) पीना चाहिए। इस तरह दिन में तीन बार और एक दिन में कुल नौ बार धूम्रपान करना चाहिए।

मात्रा एवं काल – (1) स्नैहिक धूम्रपान 1–1 बार पीना चाहिए।
(2) प्रायोगिक धूम–केवल दोबार
(3) विरेचनिक धूम – तीन या चार बार।

सम्यक धूम्रपान लक्षण – सही तरीके से धूम्रपान होने पर –

(1) हृदय (छाती) में हल्कापन आता है।
(2) कण्ठ एवं सिर में हल्कापन आना।
(3) सभी इन्द्रियों का शुद्धि होना।
(4) बढ़े हुये कफ आदि दोषो का शांत होना।

अपर्याप्त धूम्रपान का लक्षण – यदि धूम्रपान मात्रा में कम हुआ है तो (1) व्यक्ति की आवाज क्षीण होती है। (2) सिर में भारीपन होना। (3) गले में कफ (बलगम) फंसा महसूस होना।

अति धूम्रपान के लक्षण – यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धूम्रपान कर लेता है तो निम्न लक्षण मिलते है।

(1) तालु, सिर, गला का गर्म होना।
(2) मुख में शुष्कता (सुखापन) आना।
(3) सभी ज्ञानेन्द्रियों (कान, नाक आदि) का गर्म हो जाना।
    (1) अत्यधिक प्यास लगना।
    (2) व्यक्ति का बेहोश हो जाना।
    (3) चक्कर एवं मुर्च्छित होना।
    (4) उसके अंगों से रक्त स्त्राव होना।

उपाय – अकाल में एवं अतिमात्रा में धूम्रपान करने वाले व्यक्ति में उत्पन्न विकृत लक्षण (विकार) को शांत करने के लिए –

(1) घी पीना।
(2) घी का नस्य एवं डालना छींक निकालना।
(3) तर्पण (आंख, कान में घी से तर्पण करना)
(4) अंजन – घी को आंखों में लगाना।

इसी तरह रक्त, पित्त दूषित होने पर शीतल द्रव्यों से सिद्ध घृत (औषधि द्रव्यों को घी में पकाकर फिर छान कर प्रयोग करते है।) का पान भस्म, अंजन एवं तर्पण का प्रयोग करते है।

<u>यदि कफ –</u> पित्त दूषित है तो रूक्ष द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान नस्य अंजन एवं तर्पण का प्रयोग करते है।

चूंकि धूम्रपान से उत्पन्न विकारों में वात, रक्त और कफ मुख्य रूप से दूषित (प्रकोपित) रहता है और पित्त का साथ में अनुबंध होता है अतः वात कफ की चिकित्सा करनी चाहिए।

<u>धूम्रपान के अयोग्य व्यक्ति –</u> कुछ रोग या व्यक्ति ऐसे भी होते है जिन्हें धूम्रपान नहीं करना चाहिए।

जैसे :–

(1) विरेचन (शोधन) कर्म के बाद।
(2) रक्त पित्त (शरीर के छिद्रों से रक्त निकलना) के रोगी।
(3) विषपीड़ित, दुःखी, थकावट के बाद।
(4) गर्भिणी स्त्री को।
(5) शराब सेवन के बाद।
(6) आमदोष (भोजन का अपचन) होने पर।
(7) रात्रि जागरण के बाद।
(8) बेहोशी, चक्कर, प्यास, कमजोर व्यक्ति।
(9) दूध, घी, मधु, पीने के बाद, क्रोध में।

सिर में आघात लगने पर धूम्रपान नहीं करना चाहिए इससे भयंकर रोग उत्पन्न होते है।

<u>धूम्रनेत्र (Pipe or Holder)</u> – जिस नली के द्वारा औषधि धूपवर्ती (बत्ती) रख कर पीते है उसकी लंबाई धूम्र भेद के अनुसार अलग–अलग होती है।

(1) स्नैहिक के लिए – 32 अंगुली लम्बा।
(2) प्रायोगिक धूम्र के लिए – 16 अंगुली लम्बा।
(3) वैरेचर्निक धूम्र के लिए – 24 अंगुली लम्बा नेत्र का प्रयोग

करते है। धूम्रनेत्र सोना, चांदी, तांबा आदि धातु से बनाना चाहिए। नस्यः– वर्षा, शस्य और बसंत ऋतु में जब आकाश में बादल न हो तो अणु तैल, घी, सरसो तेल का नस्य (दो बुंद नाक में डालना) लेना चाहिए। नस्य के प्रयोग से, नेत्र नाक, कान आदि शुद्ध होते है इसमें किसी भी दोष का प्रकोप नहीं होता। सिर, दाढ़ी के केश वाले होते है। केश बढ़ते है। साथ ही सिर, नाक, आंख, कान में होने वाले रोगों की रोकथाम हो पाती है। शिर की सन्धियॉ, मांसपेशी, कण्डरा, स्नायु मजबूत होते है। स्वर गंभीर वाणी स्पष्ट होती है। शौचक्रिया – प्रत्येक व्यक्ति को बिस्तर से उठने पश्चात मल त्याग की नियमित रूप से आदत डालनी चाहिए। वर्तमान भाग दौड़ के जीवन में अधिकांश व्यक्ति में मल वेग की सामान्य अनुभूति नहीं होती। जिसके निम्न कारण होते है।

(1) रात्रि में खोये हुये भोजन का ठीक से पाचन नहीं होने पर।
(2) रात्रि में नींद का पूरा न होना।
(3) अत्यधिक चिंता, कोध, संवेदनशील होना।
(4) असंतुलित स्वभाव का होना।
(5) मसाले, तेल की अधिकता वाले भोजन करना।
(6) वायु या गैस उत्पन्न करने वाली भोजन करना।
(7) कार्यो में अत्यधिक व्यस्त रहने से।

उपरोक्त कारणों से कब्ज (मल, कान निकलना या कम निकलना) होता है और विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न होते है अतः आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य नित्य प्रति नियमित रूप से मल त्याग की क्रिया भली प्रकार हो। इसके लिए उसे खान पान एवं नींद लेने में सावधानी बरतनी चाहिए। मल क्रिया को नियमित एवं सम्यक मल त्याग के लिए बनने वाली सब्जियां – पालक, मेथी, बथुआ, तोराई, पपीता, सेब खीरा आदि का सेवन ज्यादा करना चाहिए। प्रातः काल खाली पेट पानी पीने की आदत, व्यायाम, सुबह की सैर आदि आवश्यक कर्म करना चाहिए। मल का वेग यदि दिन भर में 2 या 3 बार में आये तो उसे रोकना नहीं चाहिए। मल मूत्र के वेगों को रोकने से विभिन्न प्रकार की व्याधियॉ उत्पन्न होती है।

दन्तधावन (दातौन करना)

स्वस्थ वृत के नियम के अनुसार शौच के बाद प्रतिदिन दन्तध ावन या दातौन कर के दांतों की सफाई करना चाहिए। दन्तधावन सुबह और सोने से पहले करना चाहिए।

<u>दातौन –</u> दातौन के लिए काष्ट या टहनी का प्रयोग करते है, जो कटु (चरपरा) तिक्त (कड़वा) कषाय (कसैला) रस वाले वनस्पति की टहनी प्रयोग करना चाहिए। बबुल, खरंज, करवीर, आक, नीम, अर्जुन की लकड़ी प्रयोग करते है। इस लकड़ी की लम्बाई 6'' एवं मोटाई छोटी अंगुली के बराबर होना चाहिए। जिसका एक छोर कुट कर या दांतों से काट कर अच्छी तरह ब्रुश जैसा बना हो। इस तरह दांतों एवं मसुड़ों पर आघात नहीं पहुंचता। दांतों की सफाई से मुॅह का दुर्गन्ध, जिभ्या, दॉत, मुॅह के विषैले पदार्थ या मलो की सफाई होती है।

दातौन करने से मुख रोग, दन्त, मसुड़े एवं जिभ्या के रोग नहीं होते। दन्त, मसुड़े एवं रसांकुर स्वस्थ होते है सही मात्रा में लार ग्रन्थियों क्रियाशील होती है एवं भोजन का स्वाद का ज्ञान तथा पाचन सही प्रकार से होती है। वर्तमान में खनिज एवं केमिकल से बने पेस्ट का प्रयोग एवं प्लास्टिक ब्रश का प्रयोग दॉत साफ करने में प्रयोग करते है।

<u>जिभ्या निर्लेखन</u> (रगड़ना) या जीभ साफ करना। खाये हुये पदार्थ जीभ में मैल के रूप में जमा हो जाते है। जिस को अगर साफ न करे तो दुर्गन्ध आने लगती है। अतः प्रतिदिन दातौन के बाद जीभ की सफाई करना चाहिए। इसके लिए दातौन वाली लकड़ी या सोना, चांदी, तांबा, स्टील धातु से बना जीभी का प्रयोग करते है। यह बिना धार का घुमाव (यु आकार) वाला होता है जीभ साफ करने से मुख की दुर्गन्ध दूर होती है। एवं मुख का रोग नहीं होता, स्वाद का सही ज्ञान होता है।

<u>मुख प्रच्छालन या गण्डुष धारण</u> – विभिन्न औषधी द्रव्यों के जल या ठंडा पानी से मुख का कुल्ला करना चाहिए। इस क्रिया से दांतों, गला, जिभ्या, मुख में एकत्रित मल साफ होता है, तथा मुख का दुर्गन्ध दूर होता है गले में, मुख में लिपटकर कफ बाहर निकलता है। आयुर्वेद में आचार्यो ने विभिन्न औषधियों में पकाये तैलों का कुल्ला (गरारा) करने का विधान बताये है इन तैलों से सिर्फ तिल के

तैल को कुल्ला के लिए प्रयोग कर सकते है। गण्डषधारण (कुल्ला करना) करने से गले का सुखना, ओठो का फटना आदि शिकायत दूर होती है। दांत मजबूत होते है जिससे वह व्यक्ति कड़ी चीज चबा सकता है। दांतों में कीड़ा नहीं लगता। दांतहर्ष (ठंडा–गरम खाने से तकलीफ होना) आदि नहीं होते हैं। कटु या कषाय (लौंग अर्जुन) आदि का उबाला जल भी प्रयोग कर सकते है।

<u>सिर पर तेल लगाना</u> – जो मनुष्य प्रतिदिन सिर पर तिल का तैल लगाता है उसे सिरदर्द, सिर के बालों का झड़ना, बालों का पकना आदि शिकायतें नहीं सिर पर तैल मालिश से बाल लम्बे, काले, चमकीले होते है नाक, कान आदि स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनते है चेहरे की त्वचा में चमक आती है एवं स्मरण, शक्ति, बुद्धि बढ़ती है तथा अच्छी नींद आती है।

<u>कान में तेल डालना –</u> प्रतिदिन कानों में तेल डालने से वातज् कान के रोग नहीं होते। कान के रोग मन्यास्तम्भ हतुस्तम्भ है। ऊँचा सुनना या बहरापन आदि रोगों से बचा जा सकता है। कानों में तेल डालकर कानों के मूल को हाथों से मालिश करते रहना चाहिए। सौ तक की गिनती गिनते तक तेल को कान में धारण करना चाहिए।

<u>शरीर में तेल मालिश –</u> आचार्यो ने कहा है कि जिस प्रकार घड़े पर तेल या घी लगाने से तथा रथ और मोटरगाड़ियों की धुरी में तेल डालने से पहिये मजबूत और अधिक गति करने में समर्थ होते है। उसी तरह शरीर में तेल मालिश करने से शरीर की त्वचा चमकदार कोमल मजबूत बनती है। शरीर अधिक परिश्रम, व्यायाम करने में सक्षम होता है। वायुदोष से उत्पन्न रोग नहीं हो पाते। त्वचा में वृद्धावस्था में होने वाली झुर्रिया का प्रभाव कम होता है। शरीर की संधिया मजबूत होती है। पैरा के तलुवो पर मालिश करने से पैरो का खुरदुरापन, शुष्कता, स्थिलता, थकावट, शून्यता दूर होते है। पैरो में बल तथा स्थिरता आती है ऑखों की रोशनी तेज होती है।

<u>व्यायाम –</u> शरीर की वह क्रिया जो इच्छापूर्वक की जाती है, तथा जो शरीर में स्थिरता और वल प्रदान करती है, उसे शरीरिक व्यायाम कहते है। प्रत्येक मनुष्य को अपने शरीर के अनुरूप व्यायाम करने का

अभ्यास अवश्य डालना चाहिए।

व्यायाम से लाभ – शारीरिक व्यायाम करने से शरीर से स्फूर्ति, कार्य करने की क्षमता, स्थिरता व कष्ट सहने की शक्ति आती है तथा प्रकुपित हुए दोष (विशेषतः कफ दोष) शान्त होते है। व्यायाम से पाचन शक्ति में भी वृद्धि होती है।

अति व्यायाम के दुष्प्रभाव – यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर की सामर्थ्य की अपेक्षा अधिक व्यायाम करता है, तो इसके परिणाम स्वरूप उसे थकावट परिश्रम क्षय प्यास रक्त पित्त (शरीर के विभिन्न अंगो से रक्तस्त्राव होना) प्रतमक श्वास (बहुत अधिक मांस फूलना) खांसी ज्वर तथा वमन आदि रोग हो सकते है

उचित व्यायाम के लक्षण – उचित ढंग से तथा उचित मात्रा में व्यायाम करने में शरीर से पसीना निकलता है तथा श्वास तेजी से लिया जाता है। शरीर में हल्कापन तथा स्फूर्ति आती है हृदय तथा शरीर के दूसरे अवयव भी ठीक प्रकार से कार्य करते है।

प्रत्येक मनुष्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे शारीरिक व्यायाम हॅसना, बोलना, पैदल चलना संभोग तथा रात्रि में चलना आदि क्रियाएं बहुत अधिक मात्रा में नहीं करनी चाहिए।

व्यायाम के अयोग्य व्यक्ति– जो मनुष्य अत्यधिक संभोग करने, बोझ उठाने तथा पैदल चलने से कुछ दुबले हो गए है तथा जो क्रोध, शोक, डर तथा थकावट से ग्रस्त है, वातिक प्रकृति वाले, जिनके कार्य बहुत अधिक बोलने का है उन्हें व्यायाम नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त भूख और प्यास से पीड़ित एवं बूढ़े और बच्चों को भी व्यायाम में दूर रहना चाहिए।

स्नान – स्नान मानव शरीर को जीवन प्रदान करने वाली किया है। इससे शरीर में पवित्रता आदि तथा थकावट, पसीना, दुर्गन्ध और गंदगी दूर होती है। स्नान से शरीर में शक्ति आती है। यह शरीर में जीवनी शक्ति और कामोत्तेजना बढ़ाने का उत्तम साधन है। प्रतिदिन स्नान करना शरीर में बल और ओज को बढ़ाने वाला होता है। प्रातः स्नान करने से पाप से मुक्ति, बुरे स्वप्न से मुक्ति, एवं शरीर आकर्षक तथा त्वचा चमकदार बनती हैं पाचक अग्नि तीव्र होती है। स्वस्थवृत की दृष्टि से शीतकाल में उष्ण जल से उष्णकाल में शीतल जल से स्नान करना चाहिए आधुनिक

वैज्ञानिक तैराकी को श्रेष्ठ व्यायाम मानते है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि उष्ण जल से सिर से नहाना नुकसान दायक होता है। परन्तु शीतल जल से सिर से नहाना नेत्र की ज्योति बढ़ाने वाला होता है। अतिसार ज्वर कर्णशूल पेट का फूलना अजीर्ण अरूचि में स्नान करना अहित कारक माना गया है।

वस्त्र धारण – स्नान के बाद प्रत्येक मनुष्य को स्वच्छ वस्त्र पहनने चाहिए। साफ वस्त्र पहनने से शरीर में आकर्षण व सुन्दरता तो आती ही है। इसके साथ मनुष्य के सम्मान व आयु में भी वृद्धि होती है। अच्छा परिधान व्यक्ति में प्रसन्नता, सुन्दरता, सभाओं आदि में उपस्थित होने की योग्यता एवं अच्छा व्यक्तित्व प्रदान करता है यह उसकी अशुभ अथवा अमंगल से भी रक्षा करता है। ऋतु के अनुसार योग्य वस्त्रो को ही धारण करना चाहिए। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सुती के कपड़े एवं हल्के रंग का प्रयोग करना चाहिए वर्षा ऋतु में भी हल्के कपड़े एवं हल्के रंगों का प्रयोग। सर्दी के मौसम में मोटे या उनी कपड़े तथा गहरे रंग का प्रयोग करना चाहिए।

सुगंन्धि द्रव्यों के लेप एवं माला धारण – वस्त्र धारण करने के बाद सुगन्धित द्रव्यों का एवं चन्दन का शरीर में लेप करना चाहिए। वर्तमान में इत्रो का प्रयोग किया जाता है साथ सुगन्धि पुष्पों की मालाएं धारण करना चाहिए। इस काम में उर्जा बढ़ता है शरीर से पसीने की दुर्गन्ध नहीं आती, मन प्रसन्न होता है तथा सुन्दरता और ओज की वृद्धि होती है।

क्षौर कर्म – स्नान से पूर्व क्षौर कर्म (शिर के बाल दाड़ी के बाल) नख आदि काटने चाहिए। इससे शरीर इससे शरीर पवित्र होता है सुन्दरता बढ़ती है। मन प्रसन्न होता है।

जुते खड़ाउ या चप्पल पहनना– जुते और चप्पल पहनना नेत्रों एवं त्वचा के लिये हितकर होता है पैर में चोट लगना, फटना, कटना आदि से रक्षा होती है। यह बल, वर्ण, पराक्रम एवं आयु को बढ़ाने वाला होता है।

छाता धारण करना– आचरण के अनुसार छाता धारण करने से धूप, धूल, वर्षा से शरीर की रक्षा होती है। यह शरीर का आवरण जैसा कार्य करता है। इससे रोग की शान्ति, बल वर्ण की वृद्धि होती है।

भोजन– प्रत्येक मनुष्य को उचित मात्रा समय में भोजन करना चाहिए भोजन की मात्रा अपने पाचन शक्ति के अनुरूप में ना चाहिए। अतः वह मात्रा जो शरीर की रस आदि सप्त धातुओं ओर त्रिदोष की साम्यावस्था में किसी प्रकार का असन्तुलन उत्पन्न नहीं करती है अथा जिसका पाचन एवं चयापचन ठीक समय पर सम्पन्न हो जाते है उसे उचित मात्रा कहते है।

सामान्य शिष्टाचार– स्वस्थवृत में व्यक्ति के आदत व्यवहार का बहुत महत्व होता है दिनचर्या का यह एक महत्व पूर्ण कर्म होता है इसके निम्न स्वरों पर पालन करना चाहिए।

(1) मानसिक रूप से सन्तुलित एवं स्थिर रहना चाहिए।

(2) कभी झुठ नहीं बोलना चाहिए।

(3) दूसरी की स्त्री एवं सम्पत्ति पर अधिकार नहीं जमाना चाहिए।

(4) किसी प्रकार का दूराचार, पाप एवं घृणित कर्म नहीं करना चाहिए।

(5) किसी दूसरे की गुप्त एवं दोषों का बखान नहीं करना चाहिए।

(6) विश्वासघाती, कपटी, अधर्मी, दूराचारी, कंजुस लोगों की संगति नहीं करना चाहिए।

सामान्य आचार व्यवहार

(1) किसी भी व्यक्ति को मान्य सिद्धान्तों को तोड़ना नहीं चाहिए।

(2) समाज द्वारा मान्य सिद्धान्तों का उल्लघंन नहीं करना।

(3) रात्रि में श्मशान, तालाब, नदी जैसे जगहों में नहीं जाना चाहिए

(4) प्रातः एवं सायं की सन्धि बेला में भोजन करना, अध्ययन करना, सोना, मैथुन क्रिया नहीं करना चाहिए।

(5) बच्चों, बुढ़ो, लालची, मुर्ख नंपुंसक से के साथ मित्रता नहीं करना चाहिए।

(6) मद्यपान, जुआं वैश्याओं से दूर रहना चाहिए।

(7) अपने गुप्तागों का सार्वजनिक जगहों पर प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

(8) दुसरों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(9) झुठ नहीं बोलना चाहिए।

(10) परिवार के प्रति जवाब दार होना चाहिए।

अध्ययन – व्यस्त दिनचर्या के बावजुद भी धार्मिक ग्रन्थों अच्छे साहित्य एवं अन्य ज्ञानवर्धन पत्र–पत्रिकाओं का अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन न अति तेज न कम रोशनी में न करें। गुरू एवं अध्यापक से दीक्षा ले कर, उचित मुद्रा में बैठ कर, आखोंसे उचित दुरी पर रखकर अध्ययन करना चाहिए। बस, रेल एवं अन्य सवारी गाड़ीयों में अध्ययन नहीं करना चाहिए। शब्दों का सही उच्चारण के साथ, संयम अवाज में अध्ययन करना चाहिए।

योग्य मित्र

(1) आयु, बुद्धि, ज्ञान, विवेक, शुद्ध आचार विचार धैर्य, स्मृति और एकाग्रता आदि गुणों से युक्त व्यक्ति के साथ मित्रता करनी चाहिए।

(2) ऐसे व्यक्ति जो मानसिक रूप से परिपक्व हो जो बुद्धि मान एवं परिपक्व व्यक्तियों की संगति में रहता हो ऐसे व्यक्ति से मित्रता करनी चाहिए।

(3) जो चिन्ता मुक्त हो। सचरित्र, उच्चकुल के व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए।

रात्रिचर्या

रात्रिचर्या का मुख्य विषय आहार निंद्रा है आयुर्वेद में आहर, निद्रा एवं ब्रम्हचर्य को तीन उपस्तभ माने गये है इनका युक्तिपूर्वक सेवन करना दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का महत्वपूर्ण अंग है। रात्रिचर्या को तीन भागों में बांटा गया है।

(1) सायंकालीन चर्या– सायंकाल में पूजा–बंदन आदि का कर्म आयुर्वेद में हितकर माना है।

(2) रात्रिकालीन चर्या – जिसमें भोजन का महत्व है।

(3) शयन – सारी तनाव को दूर करने का एक मात्र साधन शयन है।

रात्रि भोज के मुख्य नियम –

यह बात सभी लोग जानते है कि भोजन का गहरा सम्बन्ध नींद से होता है भोजन का सही पाचन न होने पर, नींद में बाधा

उत्पन्न होती है। अतः रात्रि में यथा संभव जल्दी भोजन कर लेना चाहिए। भोजन के समय एवं सोने के समय के बीच कम से कम एक घंटा का अंतर होना चाहिए। रात्रि का भोजन सुपाच्य एवं हल्का होना चाहिए। भोजन के पश्चात कुछ दूर पैदल भ्रमण करना चाहिए। इससे भोजन का पाचन अच्छा होता है और नींद भी अच्छी आती है।

रात्रि में दही का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह शरीर के अंदर स्थित स्त्रोतों में रूकावट उत्पन्न करता हैं। चूंकि रात्रि भोजन के बाद व्यक्ति सो जाता है और पाचन किया सोये अवस्था में चलती जाती है जो धीमी होती है परिणामतः स्त्रोतों में अवरोध होने से नींद बाधित होता है पाचन की किया बाधित होती है।

रात्रि के समय अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उचित प्रकाश की व्यवस्था हो। कम प्रकाश की उपस्थिति में नेत्रों पर जोर पड़ने से नेत्र ज्योति प्रभावित होती है।

दर्शन शक्ति कम होती जाती है जहां तक हो सके रात में कम से कम पढ़ना चाहिए। आवश्यकता पढ़ने पर लेखन कार्य करे। परंतु कई विद्वानों का मत है कि सोते समय अध्ययन करना नींद अच्छी आती है। अतः सोते समय मन पसन्द साहित्यों का अध्ययन जरूर करना चाहिए।

संभोग क्रिया

गृहस्थ जीवन में मैथुन क्रिया एक आवश्यक चर्या होती है परंतु आयर्वेद में आचार्यो ने इसके लिए भी नियम बनाये है। जैसे –

(1) किसी भी पुरूष को अपनी पत्नी से ही शारीरिक सम्बन्ध बनाना चाहिए। सामाजिक मर्यादा का पालन करने से जीवन सुखमय होता है।

(2) ऋतुमती स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए।

(3) किसी रोग से पीड़ित होने पर, किसी संक्रामक रोगों की उपस्थित में संभोग नहीं करना चाहिए।

(4) दुश्चरित्र स्त्री, नीच, अशिष्ट व्यवहार वाली, जिसे काम की इच्छा न हो। जो अन्य पुरूष के प्रति आकर्षित हो। ऐसे स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए।

(5) जो स्त्री दूसरे की विवाहिता हो अपने से नीच जाति की हो,

ऐसे स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए।

(6) पवित्र वृक्षों के नीचे, पवित्र स्थान में, सार्वजनिक स्थान, श्मशान घाट में, नदी, नाले, तालाब के किनारे संभोग नहीं करना चाहिए।

(7) प्रातः संध्या के संधि बेला में प्रतिप्रदा (पक्ष का पहला दिन) पूर्णिमा, अमावश्या, अन्य पवित्र, त्यौहारों में।

(8) मूत्र, मल की तीव्र वेग होने पर, थकावट होने पर, उपवास में, संभोग नहीं करना चाहिए।

निद्रा(शयन) विमर्श :–

रात्रि चर्या में अंतिम एवं महत्वपूर्ण कर्म शमन या नींद लेना होता है। शरीर के स्वास्थ को बनाये रखने के लिए नींद का बहुत बड़ा योगदान है। सारे दिन की विभिन्न क्रियाओं के पश्चात जब मनुष्य का शरीर एवं मस्तिष्क बहुत थक जाता है अतः शरीर के सभी अंगों एवं मन को आराम देने के लिए नींद अति आवश्यक है, मन, मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रिय जब शिथिल हो जाता है तथा निष्क्रिय हो जाता है उसे नींद कहते है या मन की ऐसी स्थिति जिसमें उसका सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों और कर्मोन्द्रियों से दूर जाता है वह अवस्था निद्रा कहलाता है। जब मन एवं मस्तिष्क थक जाते है तो स्वतः ही कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञनेन्द्रिय से उसका संपर्क टूट जाता है परिणाम स्वरूप कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेनिद्रय स्वयं निष्क्रिय हो जाती है। इस अवस्था में श्वास–प्रश्वास तथा रक्त संचार, हृदय की गति, पाचन जैसे महत्वपूर्ण क्रियाऐं चलती होती है। शरीर की उर्जा में वृद्धि होती है तथा व्यक्ति अपने आप को स्वस्थ, ताजा व उत्साहित महसूस करता है। इस दौरान शरीर के कोशिकाओं का नया निर्माण भी होता है।

शारीरिक दोषों में कफ दोष की तथा मानसिक दोषों में तमस दोष की प्रधानता होने पर नींद आती है। रात्रि का समय निद्रा के लिए अनुकूल होता है क्योंकि इस समय, अंधकार, शोर की कमी, वातावरण शीतल होने से नींद जल्दी और अच्छी आती है इसी तरह अच्छी नींद के लिए जहां शारीरिक श्रम, थकावट का होना भी आवश्यक है। वहीं मानसिक रूप से पूर्णतः शान्त रहना अर्थात् क्रोध, शोक, भय, चिन्ता आदि मानसिक विकारो से मुक्ती भी होना चाहिए।

अच्छे स्वास्थ के लिए नींद अत्यंत आवश्यक कर्म है। जिन व्यक्तियों को नींद नहीं आती। वे अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों से पीड़ित होते है एवं अनिद्रा रोग से ग्रसित होते है। ठीक इससे विपरीत, ज्यादा नींद भी आलस्य, निष्क्रियता, कफ प्रकोप, मोटापा, मन्दाग्नि आदि रोगों से पीड़ित होते है। एवं कुपोषण, दुर्बलता, अजीर्ण विषाक्तता आदि उत्पन्न होता है।

अवस्था भेद से नींद का समय :–

(1) नवजात शिशु को 24 में 20 घंटा सोना आवश्यक है क्योंकि इससे उनकी शारीरिक वृद्धि तीव्र गति से होती है।

(2) साधारण स्वस्थ व्यक्ति को 6–8 घंटा का नींद पर्याप्त है।

(3) वृद्धजनों को चार से छः घंटे की नींद पर्याप्त है।

कहावत है कि रोगी को आठ घंटा, भोगी (यौवनावस्था में) को छः घंटा, जोगी (साधु–संत वृद्ध) को चार घंटा नींद लेना चाहिए।

उचित समय तक गहरी नींद सोने से मनुष्य में प्रसन्नता, पुष्टि, शक्ति, पौरूषत्व, ज्ञान और आयु की वृद्धि होती हैं इसके विपरीत पर्याप्त नींद न लेने से व्यक्ति, दुर्बल, कमजोर, कुपोषित, नपुंसक जड़बुद्धि हो जाता है।

और भिन्न रोगों से ग्रसित हो मृत्यु को प्राप्त होता है।

शयन के लिए निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए –

(1) स्वच्छ एवं हवादार कमरा हो, जहां वर्षा में पानी ठंड में ठंडी हवा तथा ग्रीष्म ऋतु में गरम हवा का शीध्र प्रवेश न हो।

(2) साथ सुथरे–बिछावन हो, सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

(3) रूचि अनुसार संगीत सुनना या साहित्य पढ़ना।

(4) बिछावन में सिर दिशा पूर्व या दक्षिण की ओर होना चाहिए।

(5) मन को शांत रखे, आदि।

(6) सोते समय शरीर पर मालिश, दूध, मिठाई आदि खाना चाहिए।

इस तरह रात्रि चर्या का पालन करने से दोष धातु, मल अवस्था में मन एवं इन्द्रिय प्रसन्न रहती है। और व्यक्ति आरोग्य रहता है। आहार का वर्णन आहार प्रकरण में किया गया हैं।

ऋतुचर्या– स्वस्थवृत में ऋतुचर्या एक महत्वपूर्ण विषय है जिस

व्यक्ति की आहार–विहार ऋतु के अनुसार होता है। वही स्वस्थ रहकर जीवन का सुख भोग सकता है। क्योंकि मनुष्यों के स्वास्थ्य का विभिन्न ऋतुओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। त्रिदोष प्रकरण में बता चुके है कि त्रिदोष (वात–पित्त, कफ) का विभिन्न ऋतुओं में संचय, प्रकोप, प्रसर होता है अतः इन दोषों का संचय प्रकोप अवस्था न हो एवं रोग उत्पन्न न हो इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को ऋतुचर्या का पालन करना चाहिए। ऋतु के अनुसार सात्म्य होने वाले आहार–विहार करना ही ऋतुचर्या है।

काल विभाजन – पूरे वर्ष में बाहर माह होते है।

इनके सर्वप्रथम दो कालों में बांटा गया है –

(1) आदान काल (2) विसर्ग काल

सूर्य सिद्धान्त में संक्रांति के अनुसार दो अयन निर्धारित है :–

(1) दक्षिणायन (2) उत्तरायण

दक्षिणायन को विसर्ग काल एवं उत्तरायण को आदान काल कहा जाता है। आयुर्वेदाचार्यो ने एक संवत्सर (वर्ष) छः ऋतुएं मानी है। शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद हेमन्त काल और अयन एवं माह के अनुसार निम्न क्रम बनता है।

विसर्ग काल या दक्षिणायन –

विसर्ग काल मेंवायु में रूक्षता कम होती है शीतलता होती है। इस काल में वर्षा, श्दत् एवं हेमन्त ऋतुओं का समवेश होता है। विसर्ग काल में चन्द्रमा सौम्य शीतल एवं बलवान होता है सृष्टि के समस्त द्रव्यों को तृप्त करता है अतः विसर्ग काल को सौम्य काल या शीतल काल कहते है। इन ऋतुओं में जब दक्षिण दिशा की ओर गमन करना आरंभ करता है उस मेद्य, वायु, वर्षा से पृथ्वी तृप्त रहती है मधुर, अम्ल, लवण आदि स्निग्ध रसों की उत्पत्ति होती है मनुष्य के बल बढ़ता है। सूर्य की किरणें सौम्य होती है।

आदान काल या उत्तरायण – आदान काल को आग्नेय कहा जाता है। सूर्य, वायु तेज होती है यह अतिरूक्ष काल होता है। वायु योगवाही (साथ में मिल जाने वाला) होने के कारण सूर्य से मिलकर

आदान काल को रूक्ष बनाता है। इस काल में सूर्य अपनी तेज किरणों से पृथ्वी के जीव एवं वनस्पति स्नेह को सोख लेते है। अर्थात सूर्य और वायू रूक्ष होकर पृथ्वी के पदार्थो के जातीयांश एवं स्नेह का शोषण करता हैं इस काल में क्रमशः शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं का आगमन होता है। इस ऋतुओं में सभी वनस्पतियों में कटु–तिक्त कषाय रसों की प्रधानता होती हैं चूंकि इन सभी रसों का स्वभाव शुष्क (सुखापन) होता है शरीर का बल कम होता है। व्यक्ति दुर्बल होता है।

काल के अनुसार मनुष्यों के बल की स्थिति –

(1) विसर्ग काल के प्रारीा एवं आदन काल के अंत में मनुष्यों का बल दुर्बल होता है।

(2) दोनों काल के मध्य में बल मध्यम होता है।

(3) विसर्ग काल के अंत में एवं आदानकाल के आरंभ के दौरान मनुष्यों बल अधिक होता है।

ऋतुचर्या –

हेमन्त एवं शिशिर ऋतु – हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में काफी ठंडी होती है इस ऋतु में मनुष्यों का स्वास्थ्य सामान्यतः अच्छा रहता है तथा भोजन का पाचन अच्छे होने के कारण मनुष्यों में शक्ति बढ़ती है। अतः दोनों ऋतुओं में एक प्रकार का आहार–विहार करना चाहिए।

अन्य सभी ऋतुओं में किसी न किसी दोष का या प्रकोप होता है परंतु हेमन्त ऋतु में किसी भी दोष का संचय प्रकोप नहीं होता है। हेमन्त ऋतु में शीतलता अधिक तथा गुरू भोजन का भी सम्पूर्ण पाचन होकर बल में वृद्धि होती है आचार्यो का मत है कि यदि इस ऋतु में व्यक्ति पर्याप्त भोजन नहीं करता तो पाचकाग्नि अपने भोजन रूपी ईधन के न मिलने पर अग्नि शरीर के पोषक तत्वों को ही जलाती है और शरीर के स्नेह अंश कम होने से वात दोष की वृद्धि होती है। इस ऋतु में वायु शीतल एवं रूक्ष होती है।

पथ्य आहार एवं विहार –

आहार –

(1) स्निग्ध, मीठे, खट्टे और लवण युक्त पदार्थों का सेवन, करना चाहिए। दुध का व्यंजन उड़ददाल, भैस का दूध, सुअर, जलीय प्राणी का मांस, बिलों में रहने वाले गोधा–साही आदि का मांस, बाज – कौआ आदि का भूना मांस खाना चाहिए।

(2) मदिरा, मधु–दही मलाई, रबड़ी, खीर, ईख से बने गुड़, राब, चीनी, मिशी, वसा, तेल नया चावलों का व्यन या ऑत करवाना चाहिए।

(3) गरम जल से स्नान एवं गुनगुना जल पीना चाहिए।

विहार –

(1) तैल से मालिस, उबटन, शिरा पर तैल का मालिश।

(2) आग तापना, धूप तापना, उष्ण घर में रहना।

(3) रजाई एवं उन से बने कपड़ों को पहनना, ओढ़ना, बिछाना इसी तरह मोटे कपड़े या जुट आदि का आसन का प्रयोग करना।

(4) शीतल हवा से बचाव करना चाहिए।

गर्म कपड़ों, कम्बल तथा रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। गर्म वस्त्र पहनने चाहिए ताकि शरीर गर्म रहे शरीर पर अगुरू का चूर्ण मलना चाहिए। सोते समय रजाई, कंबल आदि उनी वस्त्र ओढ़ने चाहिए। अग्नि व धूप रोकना हितकर है। धूप पीठ की ओर से तथा आग आगे से रोकनी चाहिए। सर्दी के मौसम में मनुष्य अधिक मैथुन कर सकता है। पुरूष को एक स्वस्थ, शरीर पर अगुरू का लेप किये हुए तथा उन्नत वक्षों वाली स्त्री के साथ आलिंगन करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को भारी, स्निग्ध और वृष्य खाद्य पदार्थों एवं पेयों का सेवन करना चाहिए। रात को सोते समय दूध मलाई या रबड़ी का प्रयोग लाभकारी है।

अपथ्य आहार–विहार

हल्के और वायुवर्द्धक खाद्यों और पेयों का सेवन नहीं करना चाहिए। आवश्यकता से कम नहीं खाना चाहिए। ठंडे खाद्य एवं पेय पदार्थ तथा आइसक्रीम नहीं लेनी चाहिए। इस प्रकार आहार विहार का सेवन करने से मनुष्य सर्दी से होने वाले रोगों से बचा रहता है।

इस ऋतु में ठंड लगने से जुकाम, बुखार, निमोनिया आदि की शिकायत हो सकती है। त्वचा के रूक्ष एवं वायु के शीतल होने

से वायु प्रकोप व तज्जन्य कास, श्वास, दमा, संधिवात, आमवात जैसे रोगों की आशंका रहती है। त्वचा की रूक्षता से खुजली एवं अन्य चर्मरोग भी हो सकते है। परंतु उपरोक्त सावधानियों व नियमों के पालन से इन रोगों से बचा जा सकता है। हेमंत (नवम्बर–जनवरी) तथा शिशिर (जनवरी–मार्च) ऋतुओं में प्रायः एक जैसी ही मौसम होता है। एक अंतर केवल यही है कि शिशिर ऋतु में मौसम में आर्द्रता की कमी के कारण रूक्षता रहती है तथा बादलों, हवा तथा वर्षा के कारण शीतलता होती हैं इस ऋतु में वनस्पतियों के शीतल, भारी व मधुरपाकी होने के कारण इनके सेवन करने से शरीर में कफ का संचय होता है। अतः हेमंत ऋतु के लिए उल्लेखित आहार–विहार तथा सावधानियों का पालन ही शिशिर ऋतु में भी करना चाहिए। शिशिर ऋतु में हवा एवं ठंड से अधिक बचाव रखना चाहिए। व्यक्ति को अधिक गर्म स्थान पर रहना चाहिए। कटु, तिक्त तथा कषाय रस वाले खाद्य और पेय पदार्थ हल्के होते हैं, इसलिए वायु बढ़ाते है। अतः इस प्रकार के पदार्थो से परहेज रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त शीतल खाद्यों और पेयों का सेवन भी नहीं करना चाहिए। उपवास एवं हल्के तथा रूक्ष आहार का सेवन भी शिशिर ऋतु में नहीं करना चाहिए।

वसन्त ऋतु में आहार–विहार

वसन्त ऋतु में सर्वत्र प्रकृति का सौन्दर्य व्याप्त होता है। वातावरण पुष्पों की सुगंध व पक्षियों की कलरव से तथा पृथ्वी रंग विरंगे फूलों की सुन्दरता से व्याप्त होती है सारी प्रकृति प्रसन्न मुद्रा में दिखाई देती है। मलय पर्वत से आने वाली हवाओं से वातावरण और अधिक सुगन्धित हो जाता है।

बसंत ऋतु का प्रभाव

शारीरिक दृष्टि से इस ऋतु में कफ दोष प्रकुपित हो जाता है क्योंकि शरीर में संचित हुआ कफ सूर्य की गर्मी से पिघल जाता है इससे पाचन शक्ति में विकार उत्पन्न हो जाते है। परिणामतः अग्निमांद्य तथा हृल्लास (वमन) जैसे रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते है। सूर्य अपनी किरणों से वातावरण में चिकनाई को सोख लेता है। इससे रूक्षता उत्पन्न होती है जो दौर्बल्यकारक है। इस ऋतु में अम्ल मधुर एवं लवण रस युक्त पदार्थो के सेवन से कफ की वृद्धि होती

है। अतः खॉसी, जुकाम आदि रोग विशेषकर आक्रमण करते है।

पथ्य आहार–विहार

प्रकुपित कफ को संतुलित किरने के लिए वमन चिकित्सा तथा तीव्र नस्य चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। भारी, स्निग्ध, खट्टे तथा मीठे भोज्य पदाथों का सेवन बिलकुल नहीं करना चाहिए। दिन में सोना बंद कर देना चाहिए। स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए नियमित रूप से हल्का व्यायाम, उबटन औषधि निर्मित धूम्रपान, आंखों में अंजन आदि का उपयोग करना चाहिए। शरीर के मलविसर्जक अंगों (मूत्राशय, मलाशय आदि) की गुनगुने पानी से भली प्रकार सफाई करनी चाहिए। सूर्योदय से पूर्ण भ्रमण करना स्वास्थ्यवर्धक है। सूती वस्त्र जो ढीले हों (परंतु चटकीले रंगों में न हो) पहनने चाहिए। सिर पर टोपी व छाते का प्रयोग करें। पुराने अनाज, सुपाच्य, कटु तीक्ष्ण और कषाय रस युक्त पदाथों का सेवन करना चाहिए। भीगा व अंकुरित चना, मक्खन लगी डबलरोटी, हरी सब्जियों का सूप, पुराने गेहूं, चावल, चना और जौ की रोटी, मूंग, चना, जौ, राई, सरसों का तेल, सब्जियों में – करेला, लहसून, केले के फूल, जिमींकद व सोंठ, पीपल, काली मिर्च, हरड़, बरेड़ा, ऑवला, धान की खील, खस का जल, लौकी, पालक नीबू तथा शहद का सेवन हितकर है। मांसाहारियों के लिए खरगोश, हिरण, लाव जैसे जानवारों का मांस हितकर है। इस ऋतु में आसव, अरिष्ट, सीधु, (द्राक्षा से तैयार) जैसे मादक द्रवों का सेवन बहुत उपयोगी रहता है। जल का सेवन पर्याप्त मात्रा में करना चाहिए। अदरक के साथ उबाला हुआ, शहद मिला हुआ जल तथा आन्तरिक्ष (वर्षा का) जल लाभकारी है। हरड़ के चूर्ण के साथ शहद मिलाकर लेना विशेष उपयोगी है। बसन्त ऋतु में लघु और रूक्ष पदार्थो का सेवन ही हितकर माना जाता है। स्नान के पश्चात शरीर पर कपूर, चन्दन, अगुरू, कुंकुम आदि सुगंधित पदार्थो का लेप करना चाहिए। बाग–बगीचों में प्राकृतिक छटा के साथ–साथ भ्रमण भी मन व शरीर को प्रसन्न रखते है। इस ऋतु में सायं समय दुबारा स्नान किया जा सकता है।

अपथ्य आहार–विहार

बसन्त ऋतु में मसालेदार आहार लें, तेल की मालिश, दिन में सोना, नये अन्न का सेवन, उड़द, मिष्ठान्न, दूध से बनी रबड़ी आदि गरिष्ठ भोजन खजूर का फल, नारियल का पानी आदि भारी खाद्य पदार्थो का सेवन एवं धूप में घूमना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

ग्रीष्म ऋतु में आहार–विहार

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीक्ष्ण, रूक्ष एवं उष्ण किरणें पृथ्वी का सारा जलीय अंश सोख लेती है। इससे वातावरण में सर्वत्र नीरसता व रूक्षता दिखाई देती है। पृथ्वी का तापमान एकदम बढ़ जाता है तथा सब जगह उष्णता महसूस होती है।

ग्रीष्म ऋतु का प्रभाव

इस ऋतु में वातावरण के साथ शरीर में भी उष्मावृद्धि के कारण भूख कम हो जाती है। पसीना अधिक मात्रा में आता है। मूत्र उत्सर्ग न्यून मात्रा में तथा दाहयुक्त होता है। प्यास बहुत अधिक लगती है। अत्यधिक जल ग्रहण के कारण ऑतों में उपस्थित एसिड (अम्ल) की मात्रा जल में घुलकर कम हो जाती है। परिणामतः जीवाणु संक्रमण अतिशीघ्र होकर वमन, अतिसार, पेचिश आदि रोगों की आशंका रहती है। शरीर में पित्त का प्रकोप, कफ दोष का क्षय दोष का क्षय व वायु का संचय होने लगता हैं पित्त प्रकोप के कारण तृषा, ज्वर, दाह, रक्तपित्त, चक्कर, सिरदर्द आदि रोग भी आक्रमण करने लगते है।

पथ्य आहार –विहार

ग्रीष्म ऋतु में लघु, स्निग्ध, मधुर रस युक्त एवं शीतल पदाथों, विशेषतः तरल पदार्थो का सेवन अधिक मात्रा में करना चाहिए। जल को उबालकर फिज या घड़े में ठण्डा करके पीना चाहिए, परंतु बर्फ का (विशेषतः बाजार की) प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस ऋतु में मन्थ, चीनी, घी, शालि धान्य, दूध मट्ठा, गेहूं, मूंग, पूराने जौ, अरहर, एवं सेंधा नमक से तैयार की गई पेस्ट्री, सब्जियों में – चौलाई, करेला, परवल, प्याज, नींबू, पुदीना, सफेद पेठा व फलों में – खजूर, सेब, अनार, आम, तरबूज, खरबूजा, फालसा व अंगूर तथा ऑवले का मुरब्बा हितकर है। ग्रीष्म ऋतु में ताजे और उष्ण भोजन का ही सेवन करना चाहिए। भोजन निश्चित समय पर तथा पाचन शक्ति के अनुसार करना चाहिए। द्रव पदार्थो

में चीनी युक्त शर्बत, लस्सी, बेल का शर्बत, बच्चे आम से तैयार किया गया पानक, गन्ने, सेब और मीठे संतरे का रस, फालसा, चंदन, खसखस व गुलाब का शर्वत (स्कवैश) ठण्डाई (बादाम, चारमगज आदि से तैयार) पाटला के पुष्पों से सुगन्धित एवं कपूर से ठण्डा किया हुआ जल, नारियल का पानी, चीनी मिला हुआ भैंस का दूध तथा चन्द्रमा की किरणों में रखकर ठण्डा किया हुआ जल, नारियल का पानी, चीनी मिला हुआ भैंस का दूध तथा चन्द्रमा की किरणों में रखकर ठण्डा किया हुआ जल, बहुत उपयोगी है। आइस्क्रीम और कुल्फी जैसे शीतल पदार्थो का सेवन इस ऋतु में किया जा सकता है। वृक्षों से भरे हुए वनों उपवनों एवं बाग–बगीचों (पार्कों) में भ्रमण करना स्वास्थवर्धक है। कारण, ऐसे स्थानों में सूर्य की तीखी व गर्म किरणे सीधी पृथ्वी पर नहीं पहुंच पाती, अतः वातारण अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है निवास स्थान विशेष कर शयन कक्ष पानी के फव्वारों, पंखों, कूलर अथवा वातानुकूलित यंत्र (एयर कंडीशनर) से ठण्डा कर लेना चाहिए। रात्रि के समय ऐसे स्थान पर सोना चाहिए जहां वातावरण ताजी हवा और चन्द्रमा की किरणों से शीतल हो। शरीर पर चन्दन का लेप करना चाहिए, आभूषण पहनने चाहिए। आराम कुर्सी आदि पर बैठकर पंखे व कूलर की ठण्डी हवा का सेवन करना चाहिए। बिस्तर पर केले, कमल, आदि के पत्ते बिछाने चाहिए। पहनने के लिए सूती व सफेद अथवा हल्के रंग के वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। बहुत गर्मी व धूप होने के कारण दिन के समय सोना भी इस ऋतु में हितकर है। इस समय बाहर धूप में नहीं घूमना चाहिए। यदि बाहर जाना हो तो पैरों में जूते पहनकर, सिर ढककर अथवा छाता लेकर जाना चाहिए।

अपथ्य आहार–विहार

ग्रीष्म ऋतु में भोजन में लवणयुक्त, खट्टे कटु तथा उष्ण पदार्थों का सेवन कम से कम करना चाहिए। बाजार में बिकने वाली चाट–चाटनी, गरिष्ठ व मसालेदार पदार्थो, अत्यधिक खुट्टे पदार्थो तथा खोवा से बने पदार्थो का एवं उड़द की पिट्ठी के व्यंजनों का सेवन बिलकुल नहीं करना चाहिए। लहसुन, काले चने मद्य पदार्थ व बाजार में बर्फ का सेवन ना करे तथा धूप में घूमना हानिकारक है। शारीरिक व्यायाम भी छोड़ देना चाहिए। इस मौसम में जहां तक

सम्भव हो मैथुन क्रिया से भी दूर रहना चाहिए। परन्तु ठंडे जल, उपवनों तथा पुष्पों में विहार करना चाहिए। मद्य पदार्थों का सेवन इस ऋतु में बहुत हानिकारक है। यदि करना ही हो, तो पर्याप्त मात्रा में जल मिला लेना चाहिए।

वर्षा ऋतु में आहार–विहार

वर्षा ऋतु में आकाश व दिशाएं बादल से युक्त होती है। प्रकृति में सर्वत्र हरियाली दिखाई देती है। अनेक प्रकार के पुष्प खिलते है। जिससे मोर, हिरण आदि प्राणी भी बहुत प्रसन्न दिखाई देते है।

वर्षा ऋतु का प्रभाव

वातावरण में नमी एवं रूक्षता भर जाती है। इसके कारण शरीर में भी नमी बढ़ जाती है। गर्मी के मौसम में सूर्य की तीव्र व उष्ण किरणों के प्रभाव के कारण शरीर में वात दोष प्रकुपित होता है। जिसके कारण दुर्बल पाचन शक्ति और अधिक दुर्बल हो जाती है। इसके अतिरिक्त मौसम के प्रभाव से पृथ्वी से बाहर निकलने वाली गैस, वर्षा की बौछारों तथा जल में अम्लता की अधिकता, धूल और धूएं से युक्त वायु का कुप्रभाव भी पाचन शक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार शरीर में वात तथा धुंए से युक्त वायु का कुप्रभाव भी पाचन शक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार शरीर में वात तथा दूसरे दोष भी प्रकुपित हो जाते है। गेहूं शालि आदि विभिन्न प्रकार के अनाजों की सेवन करना चाहिए।

इस ऋतु में गंदगी के कारण मलेरिया, फाइलेरिया बुखार, कभी गर्मी व कभी सर्दी होने से सर्दी, जुकाम, पाचन ठीक न होने से आमदोषज दस्त, पेचिश, हैजा, आन्त्र शोध, अलसक आदि रोग आमदोष के कारण आमवात, उच्च रक्तचाप, गठिया एवं विकृत जल से फुंसियॉं, दाद, खुजली आदि रोंगों की शिकायत रहती है।

पथ्य आहार–विहार

प्रकृति तथा शरीर की इन उपरोक्त विशेषताओं के कारण इस मौसम में साधारण प्रकार के आहार–विहार की सलाह दी जाती है। हल्का, सुपाच्य, ताजा व गर्म और अग्निवर्द्धक भोजन हितकर है। पाचन–शक्ति को ठीक बनाये रखने के लिए मांसाहारियां के लिए मरूस्थल में रहने वाले पशुओं के मांस रस, सब्जियों के सूप के

साथ पुराने जौ, गेहूँ एवं शालि धान्य, साठी चावल, सरसों, राई, खीरा, खिचड़ी, दही मट्ठा, मूंग व अरहर की दाल, तोरई, लौकी, भिंडी, टमाटर, पोदीना व प्याज की चटनी सेब, केला, अनार, नाशपती, तथा घी व तेल से बने नमकीन उपयोगी है। आम (विशेषतः देशी आम) का प्रयोग करना चाहिए। आम और दूध का सेवन विशेष लाभप्रद है। अजीर्ण या मन्दाग्नि वाले रोगी को भोजन से पहले 5–10 ग्राम अदरक के टुकड़े के साथ सेंधा नमक का तथा कब्ज रहने पर काला नमक मिलाकर हरड़ का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, दधि, मण्ड अथवा मट्ठे में लौंग, अनारदाना, त्रयउष्ण (सोंठ, पिप्पली और काली मिर्च), सैन्धव, अंजवाइन तथा काला नमक आदि डालकर सेवन करने से भी पाचन शक्ति ठीक होती है। सामान्यतः वर्षा ऋतु में वायु और कफ दोषों को शांत करने के लिए कड़वे, खट्टे और क्षार पदार्थ लेने चाहिए। पुराने मादक द्रवों जैसे – माध्वीक, आसव और अरिष्ट आदि का प्रयोग किया जा सकता है। लहसुन की चटनी तथा दही का सेवन भी हितकर है। पीने के लिए वर्षा का शुद्ध जल अथवा तालाब और कुएं का जल उबाल कर, ठण्डा करके तथा शहद मिलाकर प्रयोग में लाना चाहिए। यदि अधिक वर्षा और आंधी से मौसम ज्यादा ठण्डा हो गया हो, तो खट्टे नमकीन तथा स्निग्ध खाद्य पदार्थ और द्रवों का विशेष रूप से सेवन करना चाहिए। इससे वात दोष शान्त होने में सहायता मिलती है। शहद को विभिन्न खाद्य पदार्थों में मिलाकर अधिक मात्रा में सेवन करना चाहिए। शरीर पर उबटन मलना, मालिश व सेक करना लाभप्रद रहता है। इस मौसम में स्वच्छ और हल्के वस्त्र पहनने चाहिए। ऐसे स्थान में सोना चाहिए जहां अधिक हवा न आये तथा नमी भी न हो। भोजन भूख लगने पर ही निर्धारित समय पर करना चाहिए। रात्रि को भोजन जल्दी करें।

अपथ्य आहार–विहार

वर्षा ऋतु में नदियों और तालाबों का जल गन्दा हो जाता है। अतः इस जल को बिना उबाले नहीं पीना चाहिए। पत्तेवाली सब्जियॉ, ठडे व रूक्ष पदार्थो का सेवन, चना, मोठ, उड़द, जौ, मटर, मसूर, ज्वार, मक्का आलू, कसेरू, कटहल, सिंघाड़ा, करेला आदि हानिप्रद है। इसके अतिरिक्त दिन में सोना, धूप में घूमना व सोना,

अधिक मैथुन तथा अधिक शरीरिक व्यायाम नहीं करना चाहिए। भारी भोजन भी स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। बार–बार भोजन करना, भूख न लगने पर भी भोजन करना तथा रात्रि में दही या मट्ठा का सेवन रोगकारक है। गीले व नमीयुक्त वस्त्रों तथा शैया का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

शरद ऋतु में आहार–विहार

शरद ऋतु में बादल बहुत सुन्दर और स्वच्छ हो जाते हैं। रसों में अम्ल रस की प्रधानता होती है। चन्द्रमा की किरणें अधिक प्रभावशाली, स्वच्छ तथा स्निग्ध हो जाती है और मन को आनंद प्रदान करती है। नदियों, झीलों व तालाबों का पानी चन्द्रमा की किरणों के प्रभाव से स्वच्छ हो जाता है।

शरद ऋतु का प्रभाव

इस ऋतु से पूर्व ऋतु में शरीर वर्षा और उसकी शीतलता सहन करने का अभ्यस्त हो चुका होता है। परन्तु इस ऋतु में सूर्य अपने पूरे तेज से चमकने लगता है, जिसकी उष्णता के परिणामस्वरूप वर्षा ऋतु के दौरान शरीर में जमा हुआ पित्त दोष एकदम प्रकुपित हो उठता है। इससे रक्त भी दूषित हो जाता है। फलतः पित्त और रक्त के रोग उत्पन्न होते है। बुखार, फोड़े, त्वचा पर चकते, कण्ठमाला, खुजली आदि चर्म विकार इस ऋतु के विशेष रोग है। इस ऋतु में मनुष्य मध्यम बल युक्त होता है।

पथ्य आहार–विहार

पित्त दोष को शान्त करने के लिए घी और तिक्त पदार्थो का सेवन करना चाहिए। इसके साथ ही विरेचन और रक्त–मोक्षण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। इससे दूषित रक्त की मात्रा कम होकर रोगों से छुटकारा मिलता है। इसके अतिरिक्त मीठे, हल्के, सुपाच्य, शीतल एवं तिक्त रसयुक्त खाद्य और पेय पदार्थ, जो पित्त को शांत करने में सहायक है विशेष रूप से प्रयोग में लाने चाहिए। शालि धान्य, मूंग, चीनी, परवल, शहद, उबला हुआ दूध, दही, मक्खन, घी, मलाई श्रीखण्ड गेहूं जौ सब्जियों में चौलाई, बथुआ, लौकी तोरई, फूल गोभी, मूली, पालक, सोया, आंवला व सेम, फलों में – अनार, केला, सिंघाड़ा, मुनक्का व कमलगट्टा और मांसाहारियों के लिए लावा, कपिज्जल, एण, भेड़, खरगोश तथा शरभ का मांस

भोजन में लेना चाहिए। इस ऋतु में हरड़ के शहद, मिश्री या गुड़ के साथ मिलाकर नियमित रूप से सेवन करना चाहिए। ऑवले को शक्कर के साथ लेना भी उपयोगी है। तिक्त पदार्थों के साथ उबालकर तैयार किया हुआ घी प्रयोग में लाना चाहिए। दिन के समय सूर्य की किरणों तथा रात्रि के समय चन्द्रमा की शीतल किरणों में रखा हुआ जल जो अगस्त्य तारे के प्रभाव से विषमुक्त हो जाता है।, बहुत उपयोगी होता है। इस जल को ''हंसोदक'' अथवा ''अंशदूक'' कहते है। पीने के लिए, स्नान करने के लिए तथा तैरने के लिए इसी जल का प्रयोग करना चाहिए। यह अमृत के समान हितकारी होता है। आभूषणों के लिए इस ऋतु में खिलने वाले फूलों का तथा स्वच्छ वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों का सेवन भी स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता है।

अपथ्य

शरद ऋतु में दिन के समय सोना बंद कर देना चाहिए। धूप का सेवन नहीं करना चाहिए। खाने में वसायुक्त पदार्थ, तेल, मट्ठा, सौंफ, लहसुन, बैंगन, करेला, हींग, काली मिर्च, पीपल, सरसों का तेल, उड़द से बने गरिष्ठ पदार्थ, कढ़ी जैसे खट्टे पदार्थ, जलीय और दलदलीय पशुओं का मांस, क्षारीय पदार्थ, तीव्र मादक द्रव, दही और लवण रस युक्त पदार्थ अधिक नहीं लेने चाहिए। ओस व पूर्व की ओर से आने वाली हवा से भी बचना चाहिए। भूख लगे बिना भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक व्यायाम और सहवास भी हानिकर है।

ऋतुचर्या में वर्णित आहार–विहार का पालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि पहली ऋतु के अंतिम सप्ताह तथा आगे आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह (इस समयावधि ा को ऋतुसंधि कहते है) के बीच पहली ऋतु के लिए निर्दिष्ट आहार विहारों को धीरे–धीरे छोड़कर ही नई ऋतु के लिए निर्दिष्ट आहार–विहार का सेवन प्रारंभ नही करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार से असात्म्य के कारण रोग उत्पन्न हो सकते है।

धारणीय एवं अधारणीय वेग

प्रत्येक चेतन प्राणी में दो प्रकार की इच्छाएं पाई जाती है :–
(1) स्वभाविक (2) कृत्रिम

स्वाभाविक इच्छाएं आवेगों के रूप में स्वतः प्रगट होती है। जिसकी समय अनुसार पूर्ति करना आवश्यक होती है। आयुर्वेद संहिता में स्वास्थ्य रक्षा के लिए तथा रोगों के निवारण हेतु कुछ शारीरिक एवं मानसिक वेगों का उल्लेख है जिन्हें दो वर्गो में बांटा गया है।

(1) धारणीय वेग –

जीवित अवस्था में एवं मृत्यु के पश्चात् अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को कुछ मन, वचन एवं कर्मो के निहित वेगों को धारण करना चाहिए।

(1) मानसिक धारणीय वेग – लोभ, शोक, भय, कोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिप्रेम आदि मानस रोगों को मन में ही रोक रखना चाहिए।

(2) बुरे वाचिक धारणीय वेग – अत्यंत कठोर वचन, चुगली करना, झूठ बोलना अकाल वचन (जहॉ जो नहीं बोलना चाहिए) ऐसे वेगों को शरीर में ही धारण करना चाहिए।

(3) शारीरिक धारणीय वेग – दूसरों को चोट पहुंचाना, पर स्त्री संभोग, चोरी, हिंसा इत्यादि।

उपर्युक्त आवेगों के धारण करने से मनुष्यों के मन, वचन, और कर्म पापरहित हो जाते है। और वह व्यक्ति पुण्य का भागी होता है। तथा सुखपूर्वक धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति करता है।

(2) अधारणीय वेग –

हितकर आहार–विहार, सेवन किये जाने के बाद भोजन सम्यक, पाचन होकर, अपने सार अंश से रस रक्तादि धातुओं का निर्माण कर, मल मूत्र अदि द्वारा विभिन्न रूप में जब शरीर से बाहर निकल जाते है। तब स्वास्थ्य ठीक रहता है। परंतु मल मूत्रादि के वेगों को रोकने पर विभिन्न तकलीफ उत्पन्न होती है। अतः इन मल–मूत्रादि के वेगों को नहीं रोकना चाहिए। अधारणीय वेग तेरह मानते है।

(1) मूत्र (2) पुरीष (3) शुक्र (4)वात (अपानवायु)
(5) वमन
(6) क्षवयु (छींक) (7) उद्धार (डकार) (8) जृम्भा (जॅभाई)

(9) क्षुधा (भूख) (10) पिपासा (प्यास) (11) वाष्प (ऑसु)

(12) निद्रा (13) परिश्रम से उत्पन्न श्वास का वेग।

उपरोक्त तेरह वेग किसी न किसी शारीरिक क्रिया के प्रतीक है अतः इसको रोकने से हानि होने की संभावना बनी रहती है। इससे कोई न कोई विकृति स्थाई रूप ले लेती है।

<u>वेग एवं रोकने से हानियॉं</u>

(1) मूत्र वेग रोकने से हानियॉ –

आये हुये मूत्र वेग को रोकने से मूत्राशय एवं लिंग में पीड़ा, कष्ट से मूत्र निकलना, सिर में दर्द कमर के भाग में सूजन ये तकलीफ उत्पन्न होते है। (उपचार के लिए – गुनगुना पानी के टफ में बैठना, नाक में घी डालना, उत्तर बस्ति का प्रयोग करते है)

(2) पुरीष वेग रोकने से हानि –

पुरीष का वेग, रोकने से पक्वाशय और सिर में वेदना, अपान वायु एवं मल का रूक जाना, जांघ पिण्डलियों में ऐंठन, पेट का फुलना, पेट में दर्द आदि रोगो की उत्पत्ति होती हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर उपचार के लिए पेट की सिकाई या शरीर के जिस भाग में जकड़न हो वहां सिकाई करना चाहिए। बस्ति क्रिया आदि शोधन कार्य करना चाहिए। भोजन में पपीता, हरी सब्जी, फाइबर वाले फल या विरेचक (दस्त करने वाले द्रव्य) द्रव्यों का प्रयोग करना।

(3) शुक्र वेग रोकने से हानि –

जब किसी व्यक्ति में काम इच्छा जागृत हो या उत्तेजना से वीर्य प्रवाह का वेग उत्पन्न हो और वह वीर्य का प्रवाह न होने दें तो परिणाम स्वरूप लिंग एवं अण्डकोषों में दर्द, घबराहट, हृदय प्रदेश में दर्द तथा मूत्र प्रवाह में रूकावट उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में मालिश, टब स्नान, मैथुन किया, मद्यपान से आराम मिलता है।

<u>अधोवायु का वेग रोकने से हानि–</u>

कई बार अपानवायु या अधोवायु का होने पर एवं व्यक्ति के द्वारा संकोचवश इस वेग के रोकने से वात दोष कुपित होकर निम्न

लक्षण उत्पन्न करता है। जैसे – मूत्र, पुरीष, अधोवायु के विसर्जन में रूकावट, पेट में अफरा, दर्द, थकावट तथा पेट की अन्य बीमारियॉ होती है ऐसी स्थिति में कटि सिकाई, वस्ति (एनिमा) का प्रयोग, पाचक एवं पेय पदार्थो का सेवन इत्यादि उपचार करते है।

वमन का वेग रोकने से हानि –

उल्टी का वेग उत्पन्न होने पर या उल्टी नहीं करता तो इसके परिणाम स्वरूप – कण्डु (खुजली), शीत पित भोजन में अरूचि, शरीर में सुजन, चेहरे में काले दाग रक्त अल्पता, ज्वर, जी मिचलाना, विसर्प (एक प्रकार का त्वचा रोग) तथा अन्य चर्म रोग उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में वमन क्रिया (औषधि देकर उल्टी कराना), धुम्रपान, उपवास, रक्तमोंक्षण (त्वचा रोग की जगह का रक्त निकालना) विरेचन (जुलाब) कर्म शारीरिक व्यायाम तथा रूक्ष खाद्य पदार्थो, रस का प्रयोग करना चाहिए।

छींक का वेग रोकने से हानियॉं –

छींक आने पर यदि उसे रोक दिया जाए तो सिरदर्द, लकवा मन्यास्तम्भ आधा सीसी (सिर में एक तरफ दर्द) दर्द, ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता आदि रोग होते है। इसकी चिकित्सा के लिए सिर से गर्दन तक मालिश चिकित्सा के लिए सिर से गर्दन तक मालिस तथा सिकाई करना धूम्रपान, नाक में तेल डालना, वात दोष को शांत करने वाला खाद्य पदार्थ जैसे घी से बना भोजन का प्रयोग करना चाहिए।

उदगार (डकार) के वेग अवरोध से हानि –

जब कोई व्यक्ति डकार आने पर उसे रोक लेता है तो परिणाम स्वरूप, हिचकी, स्वास कम्पन, भोजन में अरूचि, हृदय और फेफड़ा के कार्यो में शिथिलता आदि रोग उत्पन्न होते है। जिसमें सिर से गर्दन तक मालिश, सिकाई धूम्रपान आदि उपाय करते है।

जृम्भा (जॅभाई) को रोकने से हानि –

जॅभाई को रोकने से, शरीर का मुड़ना, आक्षेप (झटका) संकुचन (सिकुड़ना), सुप्तता, कम्पन आदि परेशानी होती है जिसके लिए वात शामक औषधि एवं खान पान का प्रयोग करते है।

क्षुधा (भूख) को रोकने से हानि –

भूख लगने पर जब व्यक्ति भोजन नहीं करता। तब शरीर में दुर्बलता, क्षीणता, घबराहट, बेचैनी, अरूचि, चक्कर आदि रोग होते है। ऐसे में रोगी को स्निग्ध (घी वाला) गर्म एवं सुपाच्य भोजन देना चाहिए।

प्यास का वेग रोकने पर हानि –

प्यास लगने पर भी यदि व्यक्ति पानी नहीं पीता। तो गला और मुख का सुखना बहरापन, थकावट, दुर्वलता, हृदय में दर्द आदि लक्षण होता है ऐसे में न ज्यादा ठंडा न ज्यादा गर्म पेय पदार्थो का सेवन करना चाहिए।

अश्रु (ऑसु) के वेग को रोकने से हानि –

ऑसुओं को रोकने से नासाशोथ नेत्ररोग, हृदय रोग भोजन में अरूचि तथा चक्कर आने लगते है। इन रोगों की चिकित्सा के लिए मद्य सेवन नींद तथा हंसी मजाक की बातचीत लाभदायक है।

निद्रा को रोकने से हानियॉ –

निद्रा को रोकने से (नींद आने पर यदि मनुष्य सो न पाये) होने से जम्भाइयॉ आने लगती है। व्यक्ति थकावट तथा तन्द्रा महसूस करता है। उसके सिर में दर्द तथा आंखों में भारीपन रहता है। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए पर्याप्त आराम करना चाहिए तथा वात–शामक आहार विहार का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार इन विभिन्न प्रकार के स्वभाविक वेगो के दमन करने (वेगावरोध) से व्यक्ति अनेक रोगों का शिकार हो जाता है। अतः इन रोगों से बचे रहने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने स्वाभाविक वेगों की पूर्ति उचित समय पर व उचित ढंग से करता रहे। इन आवेगों का दमन नहीं करना चाहिए।

दमन योग्य मानसिक प्रवृतियॉ –

जहॉ उपर लिखित स्वाभावित वेगों का दमन करने से व्यक्ति अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाता है, वही दूसरी ओर जीवन में एक अच्छा मनुष्य बनने के लिए उसे मानसिक, वाचिक, एवं शारीरिक, सभी प्रकार के कुकर्मो (पापकर्मो) और अविवेकपूर्ण इच्छाओं को नियंत्रित करना भी बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार, एक समझदार मनुष्य को ऐसी सभी इच्छाओं एवं कार्यो से भी दूर रहना चाहिए। जो लालच, भय, क्रोध, शोक, ईर्ष्या, अहंकार, निर्लज्जता और

अत्यधिक आसक्त होकर किये जाने हो। एक सभ्य मनुष्य को कठोर शब्द, गाली गलौच तथा असभ्य शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। दूसरों को शारीरिक एवं मानसिक रूप से कष्ट पहुंचाने वाले हिंसक परस्त्री–गमन तथा चोरी जैसे कार्यो से सर्वथा दूर रहना चाहिए। ऐसा धार्मिक व्यक्ति, जो मन, वचन और शारीरिक रूप से गलत कार्यो से बचा रहता है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है तथा धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति करके उनके फल को आनंद से भोगता है।

सद्वृत

हमें अपने दैनिक चर्या में या जीवन में कौन कौन से सद्कार्य (अच्छा कर्म) करना चाहिए और कौन कौन से कार्य नहीं करना चाहिए इस का विचार सदवृत के अंतर्गत होता है। आचार्य चरक ने अपने संहिता में इसका विस्तृत वर्णन किया है।

निम्न कर्म करना चाहिए –

(1) देवता, गौ, ब्राम्हण, गुरू, बुद्ध, सिद्ध, पुरूष या आचार्यो की पूजा करना।

(2) अग्नि उपासना (विधि पूर्वक हवन) उत्तम औषधियों का सेवन, प्रातः सायं स्नान एवं संध्यापासना।

(3) गुदा द्वार, मूत्र द्वार, हाथ पैर हमेशा स्वच्छ रखना, पक्ष में (15 दिनों में) तीन बार केश–दाढ़ी बनवाना।

(4) प्रतिदिन साफ कपड़े पहनना, सदा प्रसन्न रहना।

(5) सुगन्धित इत्र धारण करना, बालों में कंघी करना, सिर कान नाक में प्रतिदिन तेल लगाना।

(6) दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का पालन करना।

(7) गरीबो, वृद्धों, बच्चों की सहायता करना।

(8) सामर्थ्य के अनुसार दान करना।

(9) अतिथियों की पूजा करना, पितरो को पिण्डदान, मधुर वचन, बोलना।

(10) सभी प्राणियों से सहानुभूति रखना।

ये उपरोक्त सद्कर्म करने से व्यक्ति अपना यह लोक और परलोक दोनों को सुधारता है।

निम्न कर्म नहीं करना चाहिए –

(1) झूठ न बोले, दूसरे की स्त्री, धन पर आसक्त ना हो।

(2) शत्रुता, पाप कर्म, ईर्ष्या, अपशब्द बोलना।

(3) स्त्री, वृद्ध, बालकों को शारीरिक कष्ट देना।

(4) दूसरों की निंदा करना, दुराचारी को मित्र बनाना। राजा, देवता, ब्राम्हण, गुरू का अपमान करना।

(5) टुटी सवारी मतवाले बैल, हाथी घोड़े पर सवारी करना। उंचे नीचे आसन पर बैठना।

(6) गंदे बिस्तर, बिना तकिया, उत्तर एवं पश्चिम की तरफ सिर रख कर सोना।

(7) बदबुदार, अंधेरे, सीलन वाले जगहों पर रहना।

(8) पेड़, पर्वतों पर चढ़ना, वर्षा ऋतु में नदी–नालों को पार करना।

(9) सामाजिक जगहों पर मूत्र, पुरीष, अपान वायु, छींक आदि वेगों को निकालना।

(10) अंगुली को नाक में डालना, आवाज के साथ खाना, अन्य विकृत चेष्टा करना।

(11) अधिक चमकीले प्रकाश या सूर्य को देखना।

(12) हिंसक पशु, सर्प आदि विशैले – जंतुओं के पास जाना।

(13) स्नान के बाद उसी वस्त्र का धारण करना।

(14) मांगलिक द्रव्यों का स्पर्श किये बिना या गृह देवता को प्रणाम किये बिना घर से बाहर जाना।

(15) बिना स्नान, पुज्य जनो के भोजन से पहले भोजन करना। मेहमान, नौकर, गरीबों की खाने की व्यवस्था न करना।

(16) दक्षिण मुख किये, गंदे आसन, गंदी जगह भोजन करना। अभक्ष्य (न खाने योग्य वस्तुओं को खाना) पदार्थो का सेवन करना। बासी पदार्थ खाना।

(17) अधिक ठण्ड, अधिक गर्म, अतिभारी भोजन करना।

(18) वेश्या गमन, मद्यपान, चोरी, झूठ बोलना, पाप कर्म, प्राणी हत्या, पशु पक्षियों का अकारण वध करना।

(19) श्मशान भूमि में विचरण करना। इत्यादि

(20) अंधकार में अकाल में, अधिक उच्चारण अतिशीघ्रता से अध्ययन करना। अश्लील साहित्य, उत्तेजक साहित्य का अध्ययन करना।

(21) किसी संस्था, सामाजिक, शास्त्र के नियमों को भंग करना।

(22) हमेशा चिन्ता करना या असावधन रहना, उदण्डता, नौकरों के वेतन रोकना, निजी व्यक्तियों पर अविश्वास करना।

ये उपर्युक्त कर्म शास्त्रों में निंदनीय होता है अतः इनका बहिष्कार करना चाहिए। आयुर्वेद के आचार्यो के अनुसार आयुर्वेद का प्रयोजन चिकित्सा है अतः सद्वृत का पालन करना चाहिए।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम

भारत की स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र की स्वास्थ्य समस्याओं को हल करने और लोगों के स्वास्थ्य सुधारने के लिए अनेक राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये हैं। इनमें से अधिकांश कार्यक्रम अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे डब्लु एच ओ और युनीसेफ, यु एस ए आई डी की की सहायता से चल रहे हैं। वर्तमान में चालू राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

1. राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम –

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 1953 में यह कार्यक्रम मूलतः राष्ट्रीय मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम के रूप में प्रारम्भ हुआ । मलेरिया के नियंत्रण में शानदार सफलता के कारण देश से मलेरिया के सदा–सदा के उन्मूलन के उद्‌देश्य से 1958 में नियंत्रण कार्यक्रम को उन्मूलन कार्यकम में बदल दिया गया । तब से यह योजना कार्यान्वित की जा रही है और मलेरिया कम हो रहा था। फिर भी फेल्सीपेरम मलेरिया के प्रकरणों में लगातार वृद्धि हो रही थी । इसलिए ''राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यकम'' के अंतर्गत एक अन्य कार्यक्रम की फेल्सीपेरम मलेरिया की रोकथाम के लिए प्रारंभ किया गया।

सन् 1994 में मलेरिया के पुनः प्रसार ने सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की जाए जो समस्याग्रस्त क्षेत्रों में मलेरिया के प्रसार की पहचान करे तथा मलेरिया के विभिन्न प्रकारों के प्रति किए जाने वाले विशिष्ट उपायो के बारे में सलाह दे। वर्तमान में मलेरिया एक्शन कार्यक्रम चल रहा है जो निम्न हैं।

अ. खतरनाक व उलझे हुए मलेरिया प्रकरणों का प्रबंधन,

ब. अधिक खतरे वाले वर्गों में विशिष्ट उपायों से मृत्यु को रोकना,

स.	रोगोत्पादकता को कम करना,

द.	महामारी तथा रोग के उद्भव पर नियंत्रण,

इ.	पी, फेल्सीपेरम मलेरिया के प्रकरणों में कमी लाना तथा प्रतिरोधी औषधि से मलेरिया की रोकथाम।

फ.	रोग प्रकरणों के स्तर को कम बनाए रखना।

साथ ही यह निश्चित किया गया है कि, मानसून प्रारंभ होने से पूर्व वाले माह में, अर्थात् प्रतिवर्ष जून में मलेरिया विरोधी दिवस मनाया जाए।

2. राष्ट्रीय फाइलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम :–

राष्ट्रीय फाइलेरिया नियंत्रण कार्यकम 1955 में प्रारंम्भ किया गया। देश में फाइलेरिया के विस्तार की सही स्थिति के आकलन के लिए प्रारम्भ में देश के विभिन्न भागों में 22 फाइलेरिया सर्वेक्षण इकाईयां और 13 नियंत्रण इकाईयॉ स्थापित की गई । इन सर्वेक्षणों के परिणाम से अब यह अनुमान है कि, लगभग 4.12 करोड़ लोग फाइलेरिया क्षेत्रों में रहते हैं।

इस कार्यकम(एनएफसीपी) के अन्तर्गत मुख्य कार्य है :

1.	स्थानिक मारी क्षेत्रों में मच्छररोधी और इल्लीरोधी उपाय ।

2.	धनात्मक माइक्रोफाइलेरिया रोगियों के निदान और उपचार के लिए फाइलेरिया क्लिनिकों की स्थापना।

3.	अति स्थानिक मारी शहरों और भूमिगत नाली का प्रावधान।

आठवीं पंचवर्षीय योजना में प्रावधान रखा गया कि फाइलेरिया प्रभावित क्षेत्रों के ग्रामीण क्षेत्रों में फाइलेरिया विरोधी दवाओं का वितरण प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के माध्यम से किया जाए।

(3) राष्ट्रीय क्षय नियंत्रण कार्यक्रम :–

यह केन्द्र प्रवर्तित कार्यक्रम है । इसके कार्य है :–

1.	क्षय रोगियों का शीघ्र पता लगाना और घर में उपचार।

2.	शिशुओं और बच्चों को बी.सी.जी. टीका

3.	अलग रखने की व्यवस्था, विशेषकर उनके लिए जिन्हें शल्य किया या आपात उपचार की आवश्यकता है ।

4.	प्रशिक्षण एवं प्रदर्शन

5. पुनर्वास

6. अनुसंधान

"सीधी देखरेख द्वारा कम समय की" उपचार पद्धति द्वारा संक्रामक प्रकरणों के कम से कम 85 प्रतिशत का उपचार, कफ धनात्मक रोगियों के कम से कम 75 प्रतिशत का माइक्रोस्कोपिक परीक्षण से पता लगाना तथा समाजसेवी संस्थाओं की सूचना शिक्षण तथा जानकारी देने के क्षेत्रों में सहयोग लेना है। डाट्स उपचार स्वास्थ्य कर्मियों जैसे बहुउद्देशीय कार्यकर्ताओं तथा स्वयंसेवक कार्यकर्ताओं जैसे शिक्षक, आंगनबाड़ी कार्यकर्ता, दाइयाँ, पूर्वरोगी तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा दिया जाता है। इन्हें डाट एजेन्ट कहा जाता है।

4. राष्ट्रीय कुष्ठ उन्मूलन कार्यक्रम :–

कार्यक्रम के प्रमुख उद्देश्य हैं. कुष्ठ रोगियों का प्रारम्भिक अवस्था में पता लगाना और रोग के प्रसार को नियंत्रित करने के लिए बहु–औषध उपचार द्वारा घर में चिकित्सा।

देश में दो प्रकार की इकाईयाँ कार्य कर रही हैं – 1. राष्ट्रीय कुष्ठ नियंत्रण इकाईयाँ और 2. सर्वेक्षण, शिक्षा और उपचार केन्द्र । कुष्ठ नियंत्रण इकाईयाँ उच्च स्थानिककमारी वाले क्षेत्रों में स्थापित की जाती है। अन्य क्षेत्रों में SET केन्द्र स्थापित किये जाते हैं। सेट केन्द्र प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों से सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। कुष्ठ नियंत्रण इकाई 3–4 लाख जनसंख्या को देखती है ।

वर्तमान में कार्यरत संरचना इस प्रकार है। कुष्ठ नियंत्रण इकाईयों या सुधारी हुई कुष्ठ नियंत्रण इकाईयों एल सी यु/एम एल सी यू 778 ग्रामीण कुष्ठ केन्द्र, यू एल सी 907 सर्वे, प्रशिक्षण एवं उपचार केन्द्र एस ई टी 5744, अस्थायी उपचार वार्ड 290 अंग पुनर्निर्माण केन्द्र 75 सर्वेक्षण तथा आकलन केन्द्र 40 तथा चलित कुष्ठ उपचार इकाईयाँ 350।

1997 में भारत सरकार ने पुनरीक्षित कुष्ठ निवारण प्रायोजन सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए लागू किया।

5. **यौन संचारित रोग नियंत्रण कार्यक्रम**(STD) :–

इस कार्यक्रम के अंतर्गत सब यौन रोगियों का प्रारंभिक अवस्था में निदान और उपचार, आता है। अब तक 300 एस टी डीक्लिनिक राज्य में खुल चुके हैं। ये क्लिनिक सामान्यतः जिला अस्पतालों में स्थित हैं। कार्य योजना में 5 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र, 5 क्षेत्रीय प्रयोगशालायें और 5 सर्वेक्षण सह–चल यौन संचारित रोग इकाईयॉ, स्वास्थ्य शिक्षा तथा जिला अस्पतालों में VDRL परीक्षण स्थापित किया जाना प्रस्तावित हैं।

6. अंधत्व की रोकथाम के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम :–

नवम्बर 1976 में भारत सरकार ने अंधत्व की रोकथाम के लिए एक जन–आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस कार्यक्रम के अंतर्गत 1–5 वर्ष के बीच की आयु के बच्चों को विटामिन ए की 200,000 IU की मुख द्वारा मात्रा 6 माह में एक बार दी जा रही है। रोहा के कारण होने वाले अंधत्व के नियंत्रण के लिए 1963 में प्रारम्भ किया गया राष्ट्रीय रोहा नियंत्रण कार्यक्रम इस कार्यक्रम के साथ मिला दिया गया है। व्यापक नेत्र स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध करने के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, तहसील और जिला अस्पतालों को सदृढ़ किया जा रहा है। कार्यक्रम को मानीटर और निर्देशित करने के लिए नई दिल्ली में नेत्र विज्ञान का एक राष्ट्रीय संस्थान (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद नेत्र विज्ञान संस्थान) प्रारम्भ किया गया है।

7. अतिसार रोग नियंत्रण कार्यक्रम :–

मुखीय पुनर्जलयोजन चिकित्सा द्वारा अतिसार रोग नियंत्रण का राष्ट्रीय कार्यक्रम छठवीं योजना में प्रारंभ किया गया। सातवी योजना कार्यक्रम को ग्राम/उपकेन्द्र/प्राथमिकता स्वास्थ्य सुविधा के साथ समन्वित किया गया है। प्रत्येक ग्राम स्वास्थ्य मार्ग दर्शक को प्रति वर्ष 100 पैकेट मुखिया पुनर्जलयोजन लवण दिये जाते है। कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण घटक स्वास्थ्य शिक्षा है। राष्ट्रीय हैजा नियंत्रण कार्यक्रम इस कार्यक्रम के साथ समन्वित कर दिया गया है।

8. प्रतिरक्षण पर विस्तारित कार्यक्रम

प्रतिरक्षण द्वारा रोकथाम किये जा सकने वाले बच्चों के रोगों के अधिक प्रसार को ध्यान में रखते हुये जनवरी 1978 में भारत

शासन में समन्वित प्रतिरक्षण सुविधा उपलब्ध करने के लिए प्रतिरक्षण पर विस्तारित कार्यकम नामक कार्यकम EPI नामक कार्यक्रम प्रारम्भ किया। वर्ष 1990 तक 6 रोगों रोहिणी, कुकुरखांसी धनुस्तम्भ, क्षय, पोलियों और खसरा के विरूद्ध सब बच्चों को सुरक्षित करने के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन का यह विश्वव्यापी कार्यक्रम है। कार्यक्रम संशोधित नाम ''विश्वव्यापी प्रतिरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत चल रहा है।

९. राष्ट्रीय जल पूर्ति और स्वच्छता कार्यक्रम :–

यह कार्यक्रम 1954 में देश की सारी ग्रामीण और शहरी जनसंख्या को सुरक्षित जल पूर्ति और पर्याप्त जलनिकास व्यवस्था उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रारम्भ किया गया था। केन्द्र शासन राज्यों को नगरीय जलपूर्ति योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए दीर्घावधी ऋण और ग्रामीण जलपुर्ति योजना के कार्यान्वयन के लिए आधी लागत सीधे अनुदान के रूप में उपलब्ध कर रहा है।

10. राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम

1. मातृ स्वास्थ्य :– इस योजना का उद्देश्य माँ के स्वास्थ्य और पोषण स्थिति को उन्नत करना है। तथा प्रत्येक गर्भवती माँ को स्वास्थ शिशु का जन्म सुनिश्चित करना है। भारत में मातृत्व एवं शिशु कल्याण योजना 1880 में शुरू हुई है, और 1885 में डफरिन फण्ड कमेटी की स्थापना हुई और बम्बई, आगरा, मद्रास, दिल्ली, में अस्पताल स्थापित किये। 1919 में स्वयंसेवी संगठन ''मातृ एवं शिशु कल्याण कार्य के लिए लेडी चेम्सफोर्ड लींग की स्थापना हुई। 1948 में भारत शासन ने मातृ एवं शिशु कल्याण सम्बंधी स्वास्थ्य कार्यकमों का विकास हुआ जिसमें WHO और युनिसेफ से सहायता मिली और यह योजना अधिक प्रभावशाली बनी। भोर कमेटी ने मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य(M.C.H) को उच्च प्राथमिकता देने पर जोर दिया एवं कार्यरत महिलाओं को प्रसव के 6 सप्ताह पूर्व और पश्चात् वेतन अन्तों सहित प्रसूति अवकाश की स्वीकृति की सिफारिश की। प्रत्येक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के अन्तरगत् 66000 जनसंख्या रखी गई। प्रत्येक स्वास्थ्य केन्द्र के अन्तरगत् तीन उपकेन्द्र रखे। 1974 में मातृ एवं शिशु कल्याण कार्य के लिए बहुउद्देशीय कार्यकर्ता योजना शुरू

किया गया और इसके अन्तरगत् एक पुरूष और एक महिला स्वास्थ कार्यकर्ता नियुक्त किये । प्रत्येक 1000 जन संख्या के लिए एक आंगनबाड़ी कार्यकर्ता होता है जिनका निम्न काम होता है।

1. स्वास्थ परीक्षण
2. प्रतिरक्षण
3. पूरक पोषण
4. स्वास्थय शिक्षा
5. विशेषज्ञों के पास भेजना ।

c 1983 में भारतीय संसद द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य को उन्नत किया गया और परिवार नियोजन और टीकाकरण सेवायें को मिला दी गई ।

मातृत्व योजना में निम्न कार्य किया जाता है।

1. गर्भावस्था परीक्षण । 2. प्रसवपूर्ण देख रेख ।
3. अन्तः प्रसव देख रेख । 4.प्रसवोत्तर देख रेख ।

I. गर्भावस्था परीक्षण :–

इस परीक्षण में गर्भावस्था परीक्षण हार्मोन जांच, अल्ट्रासाउण्ड सोनोग्राफी से जांच करते हैं।

II. प्रसव पूर्व देखरेख :–

1. गर्भावस्था के दौरान मॉ की स्वास्थ्य और पोषण जन्य स्थिति को मजबूत करना ।
2. अधिक जोखिम वाली गर्भावस्था पर ध्यान देना ।
3. मॉ की उत्तम देखरेख ।
4. शारीरिक एवं मानसिक ओर सुविधा की दृष्टि से मॉ को प्रसव के लिए तैयार करना।
5. मॉ और शिशु की मृत्युदर को कम करना।
6. सुरक्षित प्रसव एवं जीवित, पुर्ण और स्वस्थ शिशु का जन्म सुनिश्चित करना।
7. मॉ को अपनी और अपने नवजात शिशु की देखभाल में शिक्षित करना।
8. गर्भवती मा से इतिवृत (प्रश्न द्वारा)लेना। जैसेः–सामान्य स्वास्थ्य, पारिवारिक इतिहास, वातावरण एवं सामाजिक इतिहास, पूर्व प्रसव

की इतिहास, एवं वर्तमान गर्भावस्था का इतिवृत।

<u>प्रसव पुर्व परीक्षण</u> :–

अ. सामान्य परिक्षण : तापमान, नाड़ी, श्वसन, रक्तदाब, मूत्र में एल्ब्युमिन और शक्कर परीक्षण, कृमि के लिए मल परीक्षा, हिमोग्लोबीन, रक्तवर्ग, आर एच परीक्षा, वी.डी.आर.एल. परीक्षा इत्यादि।

ब. शारीरिक – हृदय, फेफड़े, सिर से पैर तक अवयव परीक्षा ।

स. प्रसूति परीक्षण ।

द. प्रसव की सम्भावित तारीख की गणना ।

2. <u>अन्तः प्रसव देख रेख</u>

यह देखभाल प्रसव पीड़ा के समय शुरू होती है, जो प्रसव प्रारम्भ से लेकर शिशु जन्म के बाद समाप्त होती है जो विशेषज्ञ या प्रशिक्षित दाई या नर्स के देखरेख में सम्पन्न होती है।

3. <u>प्रसवोत्तर देख भाल</u>

यह काल प्रसव के छः सप्ताह तक रहता है जिसमें

1. जननांग परीक्षण और सूतिका स्त्राव पर ध्यान दिया जाता है।
2. नाड़ी परीक्षण
3. तापमान ।
4. गर्भाशय की ऊंचाई परीक्षा
5. सुतिका स्त्राव परीक्षण ।
6. मूलाधार की देखभाल ।
7. स्तन परीक्षण।
8. मूत्राशय परीक्षा ।
9. कोष्ठ बद्धता ।
10. चलना फिरना ।
11. रक्त अल्पता के लिए रक्त परीक्षण ।
12. माँ को आहार, व्यायाम परिवार नियोजन शिशु टीकाकरण की शिक्षा देना ।

शिशु की देख रेख

सामान्यतः एम.सी.एच. सेवा 5 वर्ष तक की आयु के बालक, बालिकाओं की देखरेख करती है। जिसमें :–

1. सद्य उत्पन्न बालक शिशु की देखरेख ।
2. एपगर स्कोर इसके अन्तरगत् हृदय दर श्वसन दर, पेशियों

की अवस्था, वर्ण का परीक्षण करते है।

3. नाभिनाल की देखरेख ।

4. नेत्रों की देखरेख ।

5. त्वचा परीक्षा।

6. तापक्रम।

7. शिशु के वजन का नाप ।

8. लम्बाई ऊंचाई का नाप ।

9. सिर की परिधि नाप ।

10. आहार या स्तन्य पान का देख रेख ।

11. शिशु टीका करण इसके अन्तरगत् राष्ट्रीय प्रतिरक्षा समय सारिणी निम्न हैः–

अ. जन्म के समय – BCG, OPV-O

ब. छः सप्ताह बाद – BCG, DPT, 1st Dose OPV-1

स. 10 सप्ताह बाद – DPT-1, OPV-2

द. 14 सप्ताह में – DPT-2,OPV-3

इ. 9 माह में – खसरा का टीकाकरण

ई. 16 से 24 माह में – DPT, OPV.

जी. 5 से 6 वर्ष आयु में – DT

एफ. 10 वर्ष से 16 वर्ष में – टेटेनस टाक्साइड (टी.टी.) की पहली खुराक एवं दूसरे माह दूसरे माह में दूसरी खुराक ।

गर्भवती महिलाओं के लिए –

गर्भावस्था के पहले तीन माह में टी.टी. के प्रथम खुराक दूसरे माह के उसी तारीख बाद दूसरा खुराक देना चाहिए।

परिवार नियोजनएवं परिवार कल्याण :–

परिवार नियोजन का अर्थ होता है संतति निग्रह है या जब वे प्रक्रियाएं जो व्यक्तियों और दंपत्तियों को निम्न उद्देश्यो में सहायता करें।

1. अवांछित जन्म को रोकने के लिए।
2. वांक्षित संतति प्राप्त करने के लिए।
3. बच्चो में अंतराल रखने के लिए।
4. परिवार में बच्चो की संख्या निर्धारित करना ।

1977 में भारत शासन ने राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम की स्थापना रखी

गर्भ निरोधक विधियां :–

अ. अंतराल विधियां

1. पुरूषो में कण्डोम प्रयोग।

2. महिलाओ के लिए लुप कापर टी का प्रयोग

हार्मोन गर्भनिरोधक गोलियो का प्रयोग या इंजेक्शन का प्रयोग डायफाम योनि में रखने वाली गोली कीम का प्रयोग आवर्तन प्रणाली अपनाना

ब. अंतिम विधियां

1. पुरूष नसबंदी

2. महिला नसबंदी

<u>आयोडिन की कमी से संबंधित विकारो का नियंत्रण कार्यक्रम</u> :-

1962 में आयोडिनयुक्त नमक के आधार पर एक राष्ट्रीय गलगण्ड नियंत्रण कार्यक्रम प्रारंभ किया गया था। कार्यक्रम के 20 वर्ष बाद भी गलगण्ड के प्रसार में कमी नही आई है। आइ सी एम आर द्वारा समस्या के पुनर्मूल्यांकन से पता चला कि देश में गलगण्ड का प्रसार पारंपरिक हिमालय क्षेत्र में स्थानिकमारी के अलावा भी अधिक हैं। परिणामस्वरूप वृहद राष्ट्रीय कार्यकम प्रारंभ किया गया । राष्ट्रीय नीति के रूप में अब देश में 1992 तक समयबद्ध तरीके से केवल आयोडिनयुक्त नमक की पूर्ति करने का निर्णय लिया गया है।

राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यकम :–

भारत शासन ने 1987 में एक एड्स नियंत्रण कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। एड्स नियंत्रण संबंधी सब कार्यो को समन्वित करने के लिए स्वास्थ्य सेवाओ के महानिदेशालय में एक एड्स प्रकोष्ठ स्थापित किया गया। अब तक एड्स के शंकास्पद मामलो की छानबीन के लिए 27 निगरानी और 4 संदर्भ केंद्र स्थापित किए गए हैं। इस तरह उपरोक्त सारे कार्यक्रम राष्ट्रीय स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंतरगत संपादित किया जाता हैं।

सारांश

1. वर्तमान जीवन में समय की कमी के अनुसार स्वस्थ वृत का पालन कर स्वास्थ्य को स्थिर रख सकते है।

2 . स्वास्थ्य की परिभाष रूपी कसौटी में अपना स्वयं का स्वास्थ्य परीक्षण कर सकेंगे।

3 . दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, जीवन का ऐसा मापदण्ड निर्धारित करनता हैं कि आप निरोग रूपी वरदान को प्राप्ति कर सकते है।

4 . शारीरिक वेगों की धारण अधारण के नियमों का पालन कर रोगों से बच सकते है साथ ही सद्वृत का पालन समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्पन्नता, प्रसिद्धि एवं मोक्ष का रास्ता दिखलाता है और जब आप इस लोक में जन्म लिये है तो अपने जन्म को सार्थक कर सकते है।

अभ्यास –

1. स्वस्थ वृत की परिचय एवं परिभाषा बताये हुये स्वास्थ की व्याख्या कीजिये।
2. संवत्सर एवं काल का अर्थ समझाते हुये स्वस्थ वृत के अनुसार दिनचर्या का वर्णन करें।
3. रात्रिचर्या क्या है? समझाते हुये नींद की आवश्यकता को प्रतिपादित करे।
4. हेमन्त एवं वर्षा ऋतु चर्या का विस्तृत वर्णन करे।
5. अधारणीय एवं धारणीय वेगों का उल्लेख करते हुये, मूत्र, पुरीष, शुक्र के वेगों को धारण करने से उत्पन्न रोगों को लिखे।
6. सद्वृत क्या है, विस्तृत वर्णन करें।
7. शिशुओ में टीकाकरण के राष्ट्रीय प्रतिरक्षा समय सारणी लिखिए।

पाठ्यक्रम – आयुर्वेद प्रबोध

इकाई –6
संहिता परिचय

इकाई की रूप रेखा –

1. उद्देश्य ।
2. प्रस्तावना ।
3. विषय वस्तु ।
- आयुर्वेद की संहिताओं का नाम एवं विभाजन ।
- चरक संहिता का संक्षिप्त परिचय।
- सुश्रुत संहिता का संक्षिप्त परिचय ।
- वाग्भट्ट संहिता का संक्षिप्त परिचय ।
- अन्य आयुर्वेदीय संहिताओ का संक्षिप्त परिचय।
4. सारांश ।
5. अभ्यास प्रश्न ।

उद्देश्य :–

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :–

1. आयुर्वेद के विभिन्न संहिताओं के विषय में जान पायेंगे।
2. काय चिकित्सा के प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता के अनमोल विषयों को अवगत होकर इनकी विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे आयुर्वेद के सभी विषयों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
3. आयुर्वेद के प्रधान विषय शल्य एवं शलाक्य की प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत संहिता की विशिष्टता को जान सकेंगे।
4. प्रसिद्ध वाग्भट्ट संहिता के विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
5. अन्य आयुर्वेदीय संहिताओं का अध्ययन करेंगे।

प्रस्तावना :–

यह आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यक्रम के द्वितीय प्रश्न पत्र का पहला इकाई है। आप इस इकाई में मानव के हित में प्राचीन आचार्यो द्वारा दिये गये उपदेशों के लिपीबद्ध ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करेंगे । उनके संक्षिप्त परिचय से ग्रन्थों की गम्भीरता का ज्ञान होगा। और आप आयुर्वेद के विषय में ज्यादा जानकारी के लिए मूल वृहद संहिताओं के प्रति आकर्षित होंगे। और अवसर मिला तो मूल ग्रन्थों का अध्ययन कर आयुर्वेद के सागर में गोता लगा अमूल्य ज्ञान की मोती प्राप्त करेंगे । 1. चरक संहिता 2. सुश्रुत संहिता 3. वाग्भट्ट संहिता के विषयों का अध्ययन कर स्वस्थ रहने के रहस्यों का अमूल्य खजाना प्राप्त कर सकते हैं। माधव निदान, भावप्रकाश एवं काश्यप संहिता में वर्णित चिकित्सा संबंधी अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। चराचर जगत के प्राणियों की विशेषकर मानव समाज के स्वास्थ की सभी कुंजी इन्हीं संहिताओं में है। अतः यह इकाई आप को आयुर्वेद के मूल साहित्य की ओर आकर्षित करेगी ।

विषय वस्तु

आयुर्वेद की संहिताएं

आयुर्वेद शास्त्र रोगों की चिकित्सा करने का एक सामान्य ज्ञान मात्र नहीं है। इसका उद्देश्य महान है। इसके अध्ययन से मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति होती हैं। विशाल ज्ञान देने वाले इस शास्त्र में अध्ययन के लिए चिकित्सा के ग्रन्थों का उचित प्रकार से चयन पर जोर दिया गया है। साथ ही अध्ययन के लिए शिष्यों का चयन की आवश्यकता होती है, क्योंकि चिकित्सार्थ शिष्य ही भावी आयुर्वेद ज्ञाता बनेंगे।

आयुर्वेद के अवतरण स्वर्ग लोक में भगवान ब्रम्हा से लेकर पृथ्वी लोक में ऋषि भारद्वाज तक, आयुर्वेद शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान उपदेशों के द्वारा किया जाता था। आगे चलकर यही परम्परा ऋषि भारद्वाज से लेकर चरक, सुश्रुत आदि आचार्यो तक रही। वर्तमान में भी कई आयुर्वेद के गुरूकुल संचालित है, जहां गुरू–शिष्य परम्परा पर आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान कराया जाता है। आचार्य पुनर्वसु आत्रेय एवं अग्निवेश के समय से यह उपदेश को लिपिबद्ध करने का सिलसिला शुरू हुआ, और अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। वर्तमान में आयुर्वेद की संपूर्ण विषयों से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ प्राप्त है। जिनमें से निम्न मुख्य है।

(1) चरक संहिता।

(2) सुश्रुत संहिता।

(3) वाग्भट्ट संहिता (अंष्टाग हृदय, अष्टांग संग्रह)।

(4) शार्ङ्गधर संहिता।

(5) काश्यप संहिता।

(6) माधव निदान।

(8) हारित संहिता।

(9) भेल संहिता।

ये सम्पूर्ण ग्रन्थ आयुर्वेद शास्त्र की प्राचीन ग्रन्थ है। जिनके विषयों को लेकर बाद में अनेकों आचार्यो ने अलग ग्रन्थों का निर्माण किये। जिनकी संख्या हजारों में हैं। उपरोक्त संहिताओं को दो वर्गो में बाटा गया है।

(1) बृहद्त्रयी (2) लघुत्रयी।

प्रत्येक वर्ग में तीन–तीन संहिताओं का नाम है।

(अ) <u>बृहद्त्रयी</u>– (1) चरक संहिता (2) सुश्रुत संहिता
(3) वाग्भट्ट संहिता,

(ब) <u>लघुत्रयी</u> (1) शार्गधर संहिता (2) माधव निदान
(3) काश्यप संहिता

वर्तमान में उपलब्ध आयुर्वेद विज्ञान के समस्त ग्रन्थ, साहित्य एवं पुस्तकें उपर्युक्त संहिताओं का ही संक्षिप्त रूप होता है, जिसका अपने– अपने इच्छा के अनुसार विद्वानों से पुनः रचना की है।

इतिहास का अवलोकन से ज्ञात होता है, कि वैदिक काल (ईसा से 5000 वर्ष पूर्व) पांच हजार वर्ष पूर्व, भारतीय संस्कृति के आरम्भ का समय था। गृहनिर्माण, सूक्ष्मकला, वास्तुशिल्प विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) इन वैज्ञानिक शास्त्रों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के उपदेशों के रूप में स्वीकार किया। उपनिषद् काल में (ईसा से एक हजार पूर्व) में आयुर्वेद चिकित्सा सम्बधी ज्ञान–विज्ञान का और अधिक प्रचार हुआ, और चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं का निर्माण हुआ। पौराणिक काल में भी इस शास्त्र का अधिक विस्तार हुआ। भगवान बुद्ध के समय (ईसा से 600 वर्ष पूर्व) तक्षशिला एवं नालंदा विश्वविद्यालय, चिकित्सा विज्ञान के प्रमुख केन्द्र थे। जीवक मुनि इस समय प्रचलित हुये। इस समय चुकि भगवान बुद्ध की मृत्यु भगन्दर रोग के शल्य चिकित्सा के बाद हुई, अतः उनके अनुयायी शल्य चिकित्सा के विरोधी हो गये, और शल्य चिकित्सा की अवन्नति हुई। परन्तु इसी काल में नागार्जुन के द्वारा रस (भस्म) चिकित्सा का प्रचार हुआ , और अंसख्य रचनाएं लिखी गई। जिसमें से नागार्जुन द्वारा रचित रस रत्नाकर रसशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ है। मध्यकाल में रचनाएं नहीं लिखी गई और विदेशी आक्रमणो में बहुत सी प्राचीन रचना विलुप्त हुई, या नष्ट हो गई। अनेक ग्रन्थ उचित देखभाल की अभाव में नष्ट हो गई। उन्नीसवी शताब्दी से आयुर्वेद का पुनः जन्म हुआ अब तक रचना अविष्कार निरंतर जारी है। और देश–विदेश में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढ़ी है।

चरक संहिता
एक परिचय

आरोग्य मनीषी आचार्य चरक और आयुर्वेद इन दोनों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि, एक का स्मरण होने पर, दूसरे का अपने आप स्मरण हो जाता है।

शाश्वत् और नित्य आयुर्वेद जो परम्परा कम से भगवान ब्रम्हा से –दक्ष प्रजापति–अश्विनी कुमार– इन्द्र– भारद्धाज ऋषि तक पहुंचा फिर वही आयुर्वेद पुनर्वसु आत्रेय, आचार्य अग्निवेश से प्रतिसंस्कार होकर आचार्य चरक के पास आया, फिर महर्षि चरक का वह कल्याणकारी उपदेश चरक संहिता के नाम से विख्यात हुआ। वैसे आचार्य चरक के साथ महर्षि आत्रेय, महर्षि अग्निवेश, तथा दृढबल का नाम जुड़ा है, परन्तु आचार्य चरक को ज्यादा प्रसिद्धी मिली। और वह आयुर्वेद का पर्याय बन गये। चरक सहिता आचार्य चरक के कृति के रूप में सदा के लिए स्थापित हो गये। आचार्य चरक सामान्य मानव नहीं थे। अपितु स्मृति, बुद्धि, धैर्य, कीर्ति, क्षमा, दया और ज्ञान के अधिष्ठाता देवता स्वरूप थे। इनके द्वारा प्रतिपादित (वर्णित) आयुर्वेद के सिद्धान्त इस लोक एवं परलोक के लिए सुखदाई है। आचार्य चरक द्वारा अपनी संहिता में कही बातें, शरीर स्वास्थ्य से सम्बन्धित, आत्म कल्याण कारक, चराचर जगत को सुख देने वाला एवं मानव दुःखों का निवृत्ति करने वाला है।

आचार्य– चरक सिर्फ आयुर्वेद के ज्ञाता ही नहीं थे, परन्तु सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनके दर्शन एवं विचार सांख्य एवं वैशेषिक दर्शन के प्रतिनिधीत्व करता हैं। आचार्य चरक ने शरीर को वेदना, व्याधि का आश्रय माना है, और आयुर्वेक शास्त्र को मुक्तिदाता कहा है। आरोग्यता को महान् सुख की संज्ञा दी है, कहा है कि आरोग्यता से बल, आयु, सुख, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आचार्य चरक संहिता निर्माण के साथ–साथ जंगल–जंगल स्थान–स्थान घुम–घुमकर रोगी व्यक्ति की, चिकित्सा सेवा किया

करते थे। और इसी कल्याणकारी कार्य तथा विचरण क्रिया के कारण उनका नाम चरक प्रसिद्ध हुआ। उनकी कृति चरक संहिता चिकित्सा जगत का प्रमाणिक प्रौढ़ और महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ है।

चरक संहिता के सूत्र स्थान की विशेषता

चरक संहिता वृहदत्रयी का एक प्रमुख ग्रंथ है। एवं वर्तमान में उपलब्ध समस्त आयुर्वेद संहिताओं में श्रेष्ठ माना जाता हैं। इस ग्रंथ में चिकित्सा विज्ञान के मौलिक तत्वों का विस्तृत वर्णन एवं उत्तम रूप से विवेचना कि गई है। चरक संहिता का सूत्र स्थान सम्पूर्ण संहिता का दर्शन हैं। सूत्र स्थान के अध्ययन से ही सम्पूर्ण संहिता की रचना एवं प्रयोजन स्पष्ट रूप से समझ में आता है।

सूत्र स्थान में 30 अध्याय है, जिसमें प्रत्येक स्थान का अपनी अलग विशेषता है। जो निम्न है।

इस स्थान में समस्त विषयों को चार–चार अध्याय में विभक्त कर के सात विषयों में प्रतिपदित किया गया है।

1. प्रथम चार अध्याय भैषज्य चतुष्टक के रूप में वर्णित है, जिसमें आयुर्वेद पठन–पठान की विशेषता, रोग का कारण, दोष, धातु, मलों कि व्याख्या, पंच कर्म परिचय, भैषज्य कषाय, कल्पना एवं आयुर्वेदीय वनस्पति द्रव्यों का वर्गीकरण आदि विषय का विस्तृत वर्णन है।
2. चार अध्याय कल्पना चतुष्टक के रूप में वर्णित है इसमें वैद्य एवं चिकित्सा के चारो पादों का वर्णन, ऐषणाएं सम्बन्धी विचार तथा अन्य विविध विषयों का वर्णन दिया गया है।
3. वात कलाकलिय अध्याय से लेकर उपकल्पनीय अध्याय तक वात आदि दोषों के प्रकोप एवं शमन के बारे में, स्नेहन, स्वेदन कर्म एवं उससे सम्बन्धित द्रव्य, तथा पंचकर्म योजना को सुन्दर रूप से प्रतिपादन की गई है।
4. आगे के चार अध्यायों में चिकित्सा प्रवृत्ति अध्याय से लेकर महा रोगों अध्याय तक दोष, धातु से उत्पन्न समस्त रोगों का वर्णन किया गया है।
5. अष्टनिन्दनीय अध्याय से लेकर, यज्ञ पुरूषों अध्याय तक निन्दीत

पुरूषों का वर्णन, उनके निन्दनीय होने का कारण, अपतर्पण एवं सन्तर्पण चिकित्सा की विशेषता, सन्यास, मुर्च्छा आदि मानसिक रोगों का कारण एवं राशि पुरूष की उत्पत्ति का सम्पूर्ण मोहक वर्णन प्राप्त है।

7. आगे के चार अध्याय में मधुर, अम्ल आदि छः रसों का वर्णन, द्रव्यों के गुण, विपाक, वीर्य आदि प्रभावी विवेचना, अन्नपान विषयक सम्पुर्ण उपायों का सुन्दर एवं व्यवस्थित वर्णन प्राप्त है।

8. सूत्र स्थान का अन्तिम अध्याय आयुर्वेद के प्रवर्धन एवं अंगों के विषयों को प्रकाशित करते हुए, सम्पूर्ण चिकित्सा शास्त्र की महत्ता को प्रतिपादीत किया है।

चरक संहिता सूत्र स्थान सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थों का दर्पण है एवं इनमें वर्णीत विषय को ही अन्य ग्रन्थकार अपने शब्दों में प्रकाशित किये है।

चरक सहिंता का निदान स्थान

नैदानिक दृष्टि से निदान स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनके आठों अध्यायों में रोगों के हेतु तथा वातादि भेदों का विस्तृत वर्णन प्राप्त हैं, जिसके अध्ययन से रोग निदान की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस स्थान की निम्न विशेषताएं है। सभी रोगों के निदान पंचक में हेतु आदि पांचों विषयों का विस्तृत वर्णन प्राप्त है।

2. ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म, प्रमेह, कुष्ठ, आदि रोगों की संख्या, भेद, कारण, लक्षण, साध्य–असाध्यता तथा चिकित्सा सूत्र का सरल एवं सुबोध भाषा में वर्णन प्राप्त होता हैं। सभी रोगों का कारण, सम्प्राप्ति भेद, साध्य असाध्यता, चिकित्सा सुत्र एवं निदान विषयक अन्य विषयों का सामान्य सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।

चरक संहिता विमान स्थान

चरक संहिता में प्रत्येक स्थान की अपनी अलग विशेषता है। चिकित्सा जगत में प्रवीण होने हेतु चरक विमान स्थान का समुचित ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस स्थान की विशिष्टता को शब्दों में पिरोना मुश्किल है, क्योंकि इसमें आयुर्वेद शास्त्र के महत्वपूर्ण विषयों का व्यापक व्याख्या वर्णीत है। इस स्थान में आठ अध्याय है, जिसकी विशेषता निम्न है।

1. रस विमान अध्याय– मधुर–अम्लादि रसों के गुणकर्म, वातादि दोषों के भेद उनके क्षय, वृद्धि में रसों का प्रभाव, तेल, धृत,मधु आदि द्रव्यों का शरीर पर प्रभाव तथा अष्टआहार विध विशेष आयतन के अनुसार आहार विधि विधान का व्यापक वर्णन है।
2. त्रिविध कुक्षीय विमान अध्याय– कुक्षि का अर्थ उदर से है। आहार सेवन में मात्रा, अमात्रा, आम दोष से उत्पन्न, विसुचिका, अलसक आदि रोगों का कारण, लक्षण, चिकित्सा का वर्णन प्राप्त है।
3. जनपदोध्वस्नीय विमान अध्याय– जन समुदाय में व्याप्त होने वाले महामारी के कारण, लक्षण, एवं चिकित्सा सम्बन्धी विषयों को जनपदोंध्वंस कहते है। इसके निवारण की सम्पूर्ण व्याख्या इस अध्याय में वर्णीत है।
4. त्रिविध रोग विशेष विज्ञानी विमान अध्याय :–इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त उपदेश आदि परीक्ष्य विषयों के द्वारा रोग परीक्षण, पंच इन्द्रियों द्वारा रोगी परीक्षण की विधि का वर्णन है।
5. स्त्रोतों विमान अध्याय– सभी धातु, दोष एवं शरीरगत द्रव्यों को वहन करने वाले स्त्रोत एवं उनके भेदों, स्त्रोतो दुष्टि का कारण, लक्षण एवं चिकित्सासुत्र का उल्लेख इस अध्याय में सुगमता से किया गया है।
6. रोगानिक विमान अध्याय– रोग भेद, शारीरिक एवं मानस दोष, चतुर्विध अग्नि, प्रकृति आदि का व्यापक वर्णन है।
7. व्याधित रूपीय विमान अध्याय– इस अध्याय में गुरू, लघु व्याधित पुरूषों के लक्षण कृमि रोग निदान एवं चिकित्सा का वर्णन है।
8. रोग भिषग्यि जातिय विमान अध्याय :– रोग निदान हेतु आचार्य परीक्षा, संभाषा का आयोजन, दसविध आतुर परीक्षा का सरल सुबोध ज्ञान इस अध्याय में मिलता है।

सारांश में यह अध्याय चिकित्सक वर्ग एवं आयुर्वेद ज्ञान हेतु उत्सुक जनों को आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान कराता है।

चरक सहिंता शारीर स्थान

चरक सहिंता शारीर स्थान ज्ञान का अभ्यास ही उत्तम वैद्य का लक्षण हैं, बिना शरीर रचना का कोई भी चिकित्सा सफल नहीं होती, इस स्थान में आठ अध्याय हैं। शरीर स्थान के द्वारा मानव शरीर रचना का ज्ञापक ज्ञान होता है। इस स्थान की जानकारी के बिना चिकित्सा क्षेत्र में कार्य करना असम्भव है। इस अध्याय में शरीर की उत्पति, स्थिति एवं क्रमशः वृद्धि तथा चिकित्सीय पुरूष की परिभाषा का ज्ञान होता हैं। बिना चिकित्सीय पुरूष की चिकित्सा असम्भव है सृष्टि में मानव का प्रादुर्भाव को महसुस होना इस अध्याय का महत्वपूर्ण विषय है। पंचमहाभूत, पंच भूतात्मक शरीर एवं मन का सूक्ष्म विवेचना है, इसी तरह गर्भोत्पत्ति की प्रकिया, प्रारंभ से ही गर्भ शरीर का वर्णन, स्त्री एवं पुरूष गर्भ के लक्षण तथा इन गर्भो की उत्पति में हेतु का ज्ञान एक अदभूत विज्ञान हैं। इसकी अध्ययन से मनुष्य गर्भ के आदि एवं जीवन के अन्त का ज्ञान प्राप्त कर लेता हैं। मानस प्रकृति के 16 भेद, गर्भ में प्रकृति ज्ञान, दोष, धातु, मलों की विवेचना, शरीर के विभिन्न अंगों एवं अवयव की संख्या, आकार, प्रकार, शरीर में उसकी स्थिति, प्रसुती या प्रसव की क्रियाओ को एक सूत्र में पिरोया गया हैं। साथ ही बच्चों में होने वाले रोग, बालक संस्कार, पोषण विधि एवं बाल रोगों की चिकित्सा का ज्ञान इस अध्याय की विशेषता हैं। सम्पूर्ण मानव सृष्टि एवं शरीर रचना वर्णन इस अध्याय का वह नगीना हैं, जिसके अभाव में चिकित्सा रूपी आभूषण पूर्ण नहीं होता।

चरक संहिता इन्द्रिय स्थान–

इस सहिंता में 12 अध्याय है, प्रत्येक अध्याय कि अपनी विशिष्टता हैं। आरिष्ट या मृत्युसुचक एवं अशुभ लक्षणों का चिकित्सा विज्ञान में अपना महत्व है। सम्पूर्ण इन्द्रिय स्थान में रोगों के अरिष्ट लक्षणें का वर्णन है। चिकित्सा जगत में अरिष्ट स्थान prognosis की दृष्टि से सर्वविदीत है।

इन्द्रिय स्थान में वर्ण, स्वर, गंध, रस, स्पर्श चक्षु, स्त्रोत, घ्राण, रसना, मन, अग्नि, शौच, शीलता, आचरण, स्मरणशक्ति,

विकृति धारणा शक्ति, बल, शरीर आकृति, रूक्षता, स्निग्धता, गौरव एवं आहार पाचन तथा आहार परिणाम संबंधी विभिन्न प्रकार के अशुभ लक्षणों का वर्णन सुन्दर वाटीका में सुसज्जित पुष्पों के समान किया गया है।

व्याधि का मूल रूप, वेदना, उपदेश, छाया प्रतिच्छाया, स्वप्न, भूताधिकार, मार्ग में आरिष्ट जनक वस्तु को देखना, इन्द्रिय एवं इन्द्रिय विषय से सम्बधित शुभ–अशुभ लक्षणों को जानना एवं रोग के साध्य, असाध्यता एवं रोगी के जीवन मृत्यु के निर्णय में इन अरिष्ट लक्षणों का योगदान इन विषयों का इन्द्रिय स्थान में बुद्धिगम्य शब्दों में सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

चिकित्सा स्थान की विशेषता–

चरक संहिता मुख्यतः काय चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है। संहिता में इस स्थान पर रोगों की चिकित्सा से लेकर औषध कल्पना तक का सम्पुर्ण विधान वर्णित है चिकित्सा स्थान में मुख्य 30 अध्याय है।

1. रसायन अध्याय के नाम से प्राप्त इस अध्याय में रसायन औषधि द्रव्यों का नाम, रसायन सेवन के सम्पूर्ण विधान का उल्लेख मिलता है। विविध रसायन प्रकरण, कुटि प्रवेश विधि हरितकी (हरण), आमलकी आदि रसायन द्रव्यों के गुण, कार्य औषधि निर्माण विधि एवं सेवन विधि का विस्तृत वर्णन, साथ ही आत्म शुद्धि के अंतरगत आचार्य रसायन जैसे महत्वपूर्ण अध्यायों का विवरण प्राप्त है।

2. बाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत पुरूषों में नपुंषकता व संतानोत्पत्ति के कारण, प्रकार आदि की विस्तृत जानकारी के अनुसार बाजीकरण औषधियां का प्रयोग व विभिन्न बाजीकरण औषधियों की सेवन विधि एवं संतानोत्पत्ति में बाधक होने वाले कारणों का निदान एवं चिकित्सा का विस्तृत वर्ण प्राप्त है।

3. ज्वर चिकित्सा अध्याय से लेकर अन्तिम अध्याय तक विभिन्न व्याधियॉं जैसे ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म, प्रमेह, दोषगत व्याधियॉं, मानसिक रोग, मदात्य व्याधियॉं, विषजन्य व्याधियां का व्यापक निदान, लक्षण, भेद, चिकित्सा संबंधित औषधी योग का विस्तृत

वर्णन प्राप्त हैं। चरक संहिता में चिकित्सा अध्याय के अध्ययन मात्र से उत्तम वैद्य के गुण प्राप्त हो सकते है।

चरक संहिता कल्पस्थान–

चरक संहिता कल्प स्थान में 12 अध्याय है। सम्पूर्ण स्थान, वमन विरेचन आदि पंचकर्मो के लिए द्रव्यों की कल्पना एवं पंचकर्म भेदों, पंचकर्म की क्रियाविधि आदि के सम्पुर्ण योजना का वर्णन है। मदनफल, जीमुतक, धार्मागव, कृतवेधन, त्रिवृत, आरग्वध, बिल्व, सप्तला, दन्ति, द्रवन्ति आदि सभी पंचकर्मों द्रव्यों की कल्पना, निर्माणविधि, भेद एवं गुणों का विस्तुत वर्णन प्राप्त है। वमन आदि पंचकर्मो के प्रत्येक चरण की प्रतिक्रिया, उत्तम परिणाम के लक्षण आदि विषयों का व्यापक वर्णन है। यह सर्वविदित हैं, कि शोधित पुरूषों में व्याधि के आने की सम्भावना नहीं होती, अतः कल्प स्थान चिकित्सा की दृष्टि से मुख्य शल्य कर्म major oparetion के बराबर स्थान रखता है।

चरक संहिता सिद्ध स्थान–

इसमें 12 अध्याय है। इस स्थान के सम्पूर्ण अध्यायों में भी पंचकर्मार्थ द्रव्यों की कल्पना, पंचकर्म क्रम, अतियोग और अयोग और सम्यक् योग के लक्षण का व्यापक वर्णन प्राप्त होता है। रोग निवृत्ति, निदान के लिए पंचकर्म का सम्यक अध्ययन तथा उसमें उत्पन्न उपद्रवो की जानकारी एवं चिकित्सा आवश्यक होती हैं। पंचकर्मो की 3 अवस्था – पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् कर्म की क्रमबद्ध व्याख्या प्राप्त हैं। पंचकर्मार्थ योग्य, अयोग्य व्यक्तियों का चयन एवं पंचकर्मों में प्रयुक्त उपकरण, तथा पंच कर्मो में अयोग्य व्यक्तियों में भी शोधन के विधि की प्रस्तुति अपने आप में स्वर्णिय है।

ग्रन्थकार परिचय–

चरक संहिता निर्माण में निम्न रचनाकारों का योगदान है।

1. आचार्य अग्निवेश– चरक संहिता के मुख्य रचनाकार अग्निवेश ही है, जिस के प्रतिसंस्कार करके चरक संहिता का निर्माण किया गया।
2. आचार्य चरक–आचार्य चरक के द्वारा ही चरक संहिता प्रतिसंस्कृत हुई आ. चरक पंजाब देश में कपिल स्थल नामक ग्राम के निवासी

थे। पुरातत्व वेत्ताओं ने चरक के अर्थ में विभिन्न प्रकार के मतावम्बिय को लिया है। काय चिकित्सा के विशेषज्ञयों को चरका या चरक कहा जाता है। आचार्य चरक को वैश्मपायन मुनि का शिष्य माना गया है। चरक का काल पहली सदी मानी गई है।

3. दृढ़बल– चरक संहिता की कुछ भागों की रचना आचार्य दृढ़बल के द्वारा किया गया हैं। चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के 17 अध्याय से लेकर कल्पस्थान तक की पुर्ति इनके द्वारा की गई है।

चरक संहिता का ढांचा–

चरक संहिता का दो भाग है – प्रथम भाग, द्वितीय भाग।

प्रथम भाग– सूत्रस्थान, निदान स्थान, विमान, शारीर एवं इन्द्रिय स्थान का वर्णन है।

द्वितीय स्थान–चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान सिद्धिस्थान हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 8 स्थानों एवं 120 अध्याय है ।

सुश्रुत संहिता एक परिचय

आचार्य सुश्रुत प्राचीनकाल के एक उच्चकोटि के आयुर्वेदाचार्य एवं शल्य तंत्र के प्रकांड शल्य चिकित्सक थे। आचार्य सुश्रुत महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे। इन्होने आयुर्वेद शास्त्र के शल्य विभाग को अपना क्षेत्र चुना और आचार्य धनवन्तरि जी से शल्यशास्त्र की शिक्षा ग्रहण किये ।

आचार्य सुश्रुत शल्य शास्त्र के विशेषज्ञ थे। उन्होंने शल्य शास्त्र दिवोदास धन्वन्तरी से प्राप्त कि थी। दिवोदास को धन्वन्तरी इसलिए कहा क्योंकि वे सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिसने शल्य शास्त्र को पृथ्वी पर लाया। बाद में आचार्य सुश्रुत ने गुरू उपदेश को तंत्र रूप में लिपिबद्ध किया एवं वृहद ग्रन्थ कि रचना कि जो सुश्रुत संहिता के नाम से वर्तमान जगत में रवि कि तरह प्रकाशमान है।

सुश्रुत संहिता की विशेषता –

सुश्रुत संहिता बृह्दत्रयी का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह

संहिता आयुर्वेद साहित्य में शल्यतंत्र कि वृहद साहित्य मानी जाती है, सुश्रुत संहिता के उपदेशक काशीराज धन्वन्तरी है, एवं श्रोता रूप में उनके शिष्य आचार्य सुश्रुत संपुर्ण संहिता कि रचना की है।

आचार्य सुश्रुत ने शल्य शास्त्र से संबंधित सभी विषयों को कुसुमवत इस संहिता में पिरोकर प्रस्तुत किया। आचार्य सुश्रुत का समय ईसा की तीसरी शताब्दी मानी गई है।

ढांचा–सुश्रुत संहिता के दो भाग वर्तमान में उपलब्ध है। सुश्रुत संहिता प्रथम भाग व द्वितीय भाग।

प्रथम भाग में पांच स्थान है। सूत्र स्थान, निदान स्थान, शारीर स्थान, चिकित्सा स्थान एवं कल्प स्थान।

द्वितीय भाग में सिर्फ उत्तर तंत्र का वर्णन मिलता है। उत्तर तंत्र को खील स्थान के नाम से भी जाना जाता है।

इस तरह सुश्रुत संहिता के दोनो भागों में छः स्थान 186 अध्याय है।

विशेषताः– 1. सूत्र स्थान– सूत्र स्थान में 46 अध्याय है।

1. सूत्र स्थान में योगसूत्रीय अध्याय से संपूर्ण स्थान में अस्त्र–शस्त्र, यंत्र–उपयंत्र संबंधित संपूर्ण जानकारी वर्णित है। आचार्य सुश्रुत ने अपने इस स्थान में सौ से अधिक शल्य शस्त्रों का वर्णन किया है जैसे–

1. शस्त्रों के मूठ एवं जोड़ मजबुत होने चाहिए।
2. वे चमकीले और तीक्ष्ण होने चाहिए।
3. शस्त्रों को साफ उबालकर कोमल वस्त्रों में लपेटकर सन्दुक या बाक्स में बन्द करके रखना चाहिए।
4. अस्थि टूट जाने पर जोड़ने के लिए बांस की पट्टीयों का प्रयोग करने चाहिए। अस्थियों को ठीक बिठाने के लिए बाहर से मालिश का विधान बताया है।
5. व्रणों के अनेक प्रकार एवं अलग–2 उपचार पद्धति का वर्णन।
7. सिर एवं चेहरे पर कट, फट जाने से बंध (टाका) लगाने का वर्णन।
8. जख्मों में लोहकण या लोहखण्ड धुस जाने से चुम्बक के प्रयोग से बाहर निकालना।

9. सुजन वाले जगह पर लेप का प्रयोग।

10. कच्चे व्रणों को पकाने के लिए पुल्टिस बांधना, सेकाई करना, खुन निकालने या चीरा लगाने का विधान है।

11. जलोदर (पेट में पानी जमा होना) और वृषण वृद्धि (अण्डकोष में पानी भरना) में छेदन कर जल निकालने का विधान।

12. मूत्राशय में बनने वाल पथरी रोग में शल्य किया का वर्णन है।

इसी तरह पंचकर्म में रक्त मोक्षण (रोग के स्थान को लोह गरम करके दागना या ऑकना), त्रिदोष सिद्धान्त का सरल वर्णन है।

2. निदानस्थान – इस स्थान में 16 (सोलह) अध्याय है। जिसमें शल्य प्रधान (आपरेशन से ठीक होने वाले) रोगों का जैसे अर्श (बवासिर), भगन्दर(गुदा के पास होने वाला घाव), अश्मरी (मूत्राशय, एवं पित्ताशय की पथरी), मुढ़गर्भ (मॉ के गर्भ में ही बच्चे की मृत्यु), गुल्म (ट्यूमर) आदि रोगों का निदान लक्षण एवं सम्पूर्ण चिकित्सा का वर्णन है।

3. शरीर स्थान– इस स्थान में 10 अध्याय है। जिसमें शरीर की परिभाषा, सम्पूर्ण गर्भ का वर्णन, पुरूष या सृष्टि का उत्पतिक्रम का विस्तृत वर्णन है।

शरीर के अंग– प्रत्यंग एवं सभी अवयव जैसे– अस्थि संख्या, मांस पेशी, स्नायु, कण्डरा, शिरा, धमनी, हृदय, फेफड़े आदि अंगों का वर्णन है।

3. चिकित्सा स्थान– इसमें चालीस अध्याय है। जिसमें समस्त शरीर गत रोगों की शल्य चिकित्सा एवं औषधि चिकित्सा का वर्णन हैं। सुश्रुत संहिता शल्य एवं शालाक्य तंत्र की प्रधान ग्रन्थ हैं। वर्तमान शल्य चिकित्सा शास्त्र इन्ही के आधार पर टिकी है।

4. कल्प स्थान– कल्प स्थान में आठ अध्याय हैं। इस सम्पूर्ण भाग में स्थावर एवं जांगम विषों के लक्षण, उनकी पहचान, विषों का औषधि प्रयोग एवं विषों से बाधित व्यक्ति का चिकित्सा कर्म का विस्तृत वर्णन है।

5. उत्तर स्थान– उत्तर स्थान में 66 अध्याय है। जिसमें नेत्र रोग, शिरोरोग, कर्ण रोग आदि उर्ध्व शरीर (शिर में सभी भाग) गत

रोगों की शल्य एवं औषधि चिकित्सा का वर्णन है।

इस सम्पूर्ण ग्रंथ में रोगों की शल्य एवं शालाक्य चिकित्सा ही मुख्य उद्देश्य है। शल्यशास्त्र को आचार्य धन्वंतरी पृथ्वी पर लाने वाले पहले व्यक्ति थे बाद में आचार्य सुश्रुत गुरू उपदेश को तंत्र रूप में लिपीबद्ध किया, एवं वृहद ग्रन्थ लिखा। जो सुश्रुत संहिता के नाम से वर्तमान जगत में रवि की तरह प्रकाश मान है।

आचार्य सुश्रुत त्वचा रोपण तन्त्र (Plastic-Surgecly) में भी पारंगत थे आंखों के मोतियों बिन्दु निकालने की सरल कला के विशेषज्ञ थे। सुश्रुत संहिता शल्य तंत्र का आदि ग्रंथ है, आज कल Surgical Department में जिन यंन्त्रों का प्रयोग होता है, उसका उल्लेख प्राचीन सुश्रुत संहिता में उपलब्ध है।

आचार्य सुश्रुत के द्वारा रचित यह संहिता लोक कल्याण के लिए प्राचीन भारतीय आयुर्वेद एवं शल्य चिकित्सा शास्त्र तथा विश्व को महान पुरस्कार रूप में प्राप्त है।

वाग्भट्ट संहिता एक परिचय

यह संहिता वृहद्त्रयी का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। चरक सुश्रुत एवं वाग्भट्ट संहिता समकक्ष हैं। इस संहिता के ग्रंथकार आचार्य वाग्भट्ट हैं। इन्होने अष्टांग हृदय नाम से ग्रंथ लिखा, जिसे वाग्भट्ट संहिता भी कहते है आचार्य वाग्भट्ट का जन्म सिन्धु देश में हुआ था, ये बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, इनके गुरू का नाम अवलोकितेश्वर था, इनके पिता का नाम सिंह गुप्त था, जो आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे, और वैद्यपति के नाम से जाने जाते थे।

आचार्य वाग्भट्ट का समय पांचवी एवं छठी सदी मानी गई है अष्टांग हृदय एवं चरक संहिता, सुश्रुत संहिता के विषय लेकर अष्टांग संग्रह का निर्माण हुआ, इस तरह वाग्भट्ट संहिता में अष्टांग हृदय एवं अष्टांग संग्रह दोनों का समावेश होता है।

अष्टांग हृदय को आचार्य वाग्मह की असली संहिता मानी जाती हैं। इस संहिता में आयुर्वेद के सम्पूर्ण विषय– काय, शल्य, शालाक्य आदि आठों अंगों का वर्णन है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के विषय में स्वयं ही कहा है कि, यह ग्रन्थ शरीर रूपी आयुर्वेद के हृदय

के समान है। जैसे– शरीर में हृदय की प्रधानता है, उसी प्रकार आयुर्वेद वाड्मय में अष्टांग हृदय, हृदय के समान है। अपनी विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

ढांचा– सम्पूर्ण ग्रन्थ छः स्थानों में विभक्त है।

1. सूत्र स्थान 2. शारीर स्थान 3. निदान स्थान
4. चिकित्सा स्थान
5. कल्पस्थान एवं उत्तर स्थान आदि। ये स्थान 120 अध्यायों में विभक्त है। वाग्भट्ट संहिता पर सबसे ज्यादा टीकाएं हुई हैं। अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद है, यह ग्रन्थ आयुर्वेद का सार समुच्य है।

विशेषताएं–

1. सूत्र स्थान में 23 अध्याय है। दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, द्रव्य गुण विज्ञान, का विस्तृत वर्णन है।
2. शल्यविधि, शल्य आहरण (शरीर में चुभेधातु के टुकड़े को शस्त्र से निकालना), शिरा वेध (रक्त को वहन करने वाली शिरा का वेध करना) आदि का वर्णन है।
3. अष्टांग हृदय पद्यमय है जबकि संग्रह गद्य एवं पद्य दोनों रूप में है।
4. वाग्भट्ट संहिता में चरक संहिता और सुश्रुत संहिता, भेल संहिता के विषय संग्रहित है।
5. मद्यपान के लिए सुन्दर श्लोकों का वर्णन किया गया हैं। इस संहिता में बौद्ध धर्म की विशेषता दिखाई देती है। महा मयुरी विद्या का भी उल्लेख है।
6. वाग्भट्ट संहिता के निदान, शारीर, चिकित्सा एवं कल्प तथा उत्तर स्थान में सम्पूर्ण रोगों का निदान (कारण), लक्षणों, रोग के भेद, गर्भ एवं शरीर सम्बधित विषयों का विस्तृत वर्णन है।
7. अरिष्ट वर्ग या रोगों का वह लक्षण जिससे रोग की साध्य–असाध्यता एवं मृत्यु का ज्ञान होता हैं इसका विस्तृत वर्णन है।
8. समस्त रोगों की चिकित्सा, पंचकर्म के लिए औषधि द्रव्यों का

वर्णन, पंचकर्म विधि, हानियों, उपचार आदि का वर्णन है।

9. बाल रोग, बालकों में ग्रह विकार, भूत विद्या एवं मानसिक रोगों का वर्णन है।

10. उर्ध जत्रुगत रोगों (सिर, आंख, नाक, कान के रोग) के लक्षण, गुप्तरोगों (स्त्री एवं पुरूषों के जननागों में होने वाले रोग) के कारण लक्षण एवं चिकित्सा का व्यापक रूप से वर्णन दिया है।

11. अपने समकक्ष आचार्यो के आयुर्वेद से सम्बन्धित सिद्धान्तों को सरलता से समझाना इस संहिता की विशिष्टता है।

शांर्डगधर संहिता एक परिचय

शांर्डगधर लद्युत्रयी का एक महत्वपूर्ण संहिता है। इस संहिता में आयुर्वेद के विषयवस्तु चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता से लिया गया है।

ग्रंथकार परिचय– इस संहिता के ग्रन्थ कार आचार्य शांर्डगधर है, जिन्होंने पूरी संहिता में कुछ ही जगह अपनी नामों का उल्लेख किया है। इनके पिता पुरातत्ववेत्ता थे। जिनका नाम दामोदर एवं पितामह का नाम राघवदेव था। आचार्य शांर्डगधर केवल चिकित्साशास्त्र के मर्मज्ञ ही नहीं थे, अपितु कवित्व शक्ति से सम्पन्न एवं विविध शास्त्रों के ज्ञाता थे। शांर्डगधर का जन्म समय 13वीं–14वी सदी के आसपास माना गया है। आचार्य शांर्डगधर के नाम से दो प्रसिद्ध ग्रन्थ है (1) शांर्डगधर संहिता (2) शांर्डगधर पद्धति।

शांर्डगधर संहिता का महत्व एवं विशेषता :–

मध्यकाल की यह एक मात्र संहिता है, नाडी ज्ञान द्वारा रोग–परीक्षा आयुर्वेद शास्त्र की एक विलक्षण विद्या है, कुशल वैद्यो द्वारा नाड़ी में सूत (धागा) के एक सिरे को बांधकर, दूसरे सिरे को पकड़कर नाड़ी गति का ज्ञान करके, रोग एवं रोगी के सम्बन्ध में सब कुछ सत्य–सत्य बता देने की घटना प्रसिद्ध हैं। नाडीशास्त्र के प्राचिन आचार्यो में कणाद आदि का नाम आता हैं। इसी परम्परा क्रम में आचार्य शांर्ड्गधर भी है जो नाड़ी शास्त्रज्ञ कहे गये है। शांर्ड्गधर अपने पूर्वविर्तीय समय के उपलब्ध सभी ग्रंथो का सम्यक आलोचक एवं सूक्ष्म निरिक्षण करके एक विकसित ग्रन्थ का निमार्ण किया हैं इस तरह कुल खण्डों में और 32 अध्यायों सहित संपूर्ण विषयों का वर्णन किया है।

मध्य काल की यह एक मात्र संहिता है। उस काल में चिकित्सा की प्रधानता थी, तथा इस समय राजपूत और मुगल दोनों का शासन था। तांत्रिक और सिद्ध संप्रदाय अपने चर्मोत्कर्ष पर थे, अतः मध्य काल से पूर्ण प्रभावित होने के कारण यह संहिता काफी लोकप्रिय हुई थी।

इसमें वर्णित विषयों की निम्न विशेषताएं है–

1. राशि भेद से ऋतुओं का विभाजन।

2. नाड़ी परीक्षा का सर्वप्रथम वर्णन।

3. दीपन पाचन, शुक स्तम्भन, पुरीष स्तम्भन आदि नाम से औषधियों का वर्गीकरण तथा मात्रा आदि का विचार है।

4. दोष धातु मल की निरूक्ति, दोषों के प्रकार, उनकी प्रधानता, धातुओं का पोषण क्रम, विष्णु पादामृत या आक्सीजन का शरीर के भीतर तृप्त होना, पाचन क्रिया एवं मूत्र निर्माण का वर्णन है।

5. रक्त को भी दोष मानकर एवं रोगों के भेद का वर्णन एवं कृमियों के 20 भेदों के अतिरिक्त स्नायुक कृमि का वर्णन ।

6. रोगों का वर्गीकरण विस्तार से किया गया है, जैसे आमवात का 4 प्रकार।

7. दृष्टि रोग और गर्भ दोष के 8 भेद, स्त्री रोग के तीन भेद तथा शीतोपद्रव शल्योपद्रव, क्षार उपद्रव आदि का वर्णन।

8. चिकित्सा में विषों का प्रयोग जैसे— वत्सनाभ आदि विषों का प्रयोग, जैसे— कृष्ण सर्प विष, विष के वेगों का वर्णन ।

9. धातुओं का शोधन, मारण, अनेक रस औषधियों का निर्माण एवं प्रयोग का वर्णन किया गया हैं।

10. शार्ङधर संहिता में चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, चक्रद्रप्त और सौढ़ल के प्राचीन ग्रंथों का एवं रस शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों का संकलित रूप है।

11. प्राचीन आयुवैदिक संहिताओं से हटकर नाड़ी विज्ञान का विस्तृत वर्णन प्राप्त है।

भाव प्रकाश संहिता एक परिचय

आयुर्वेद की आचार्य परम्परा में भिषग्भूषण श्रीभाव मिश्र का नाम विशेष स्थान रखता है। इनकी कृति भाव प्रकाश संहिता लघुत्रयी का महत्व पूर्ण ग्रन्थ है।

ग्रन्थ कार परिचय— इनके पिता का नाम श्री लटकन मिश्र था। आचार्य भाव प्रकाश का समय सोलवी सदी के आसपास हैं। आचार्य भाव मिश्र अपने पूर्व आचार्यो के ग्रन्थों से सार भाग ग्रहण कर अत्यन्त सरल भाषा में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। और ग्रन्थ के

प्रारम्भ में ही यह बता दिया कि यह शरीर, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरूषार्थ चतुष्टक की प्राप्ति का मूल है। और जब यह शरीर निरोग रहेगा, तभी कुछ प्राप्त कर सकता है। इसलिए शरीर को निरोग रखना प्रत्येक व्यक्ति का पहला कर्तव्य है।

इस संस्करण में विमर्श का अधोन्त परिष्कार, विभिन्न वन औषधियों का अनुसंधान, साहित्य का अंतर भाव एवं प्रत्येक वनस्पति का यथास्थिति, असंदिग्ध परिचय देने की चेष्टा की गई है। तथा उन औषधियों का आभ्यांतर प्रयोग यथास्थल किया गया है।

ग्रन्थकार इस ग्रंथ के ग्रंथकार आचार्य पंडित भाव प्रकाशमिश्र है

ढ़ांचा— भाव प्रकाश संहिता दो भागों में उपलब्ध होता है

1. पूर्वाद्ध 2. उत्तरार्ध।

पूर्वाद्ध भाग को 6 उपखण्डों में विभाजित किया गया हैं। पूर्वाद्ध खण्ड में ही निघण्टु अध्याय का अलग से वर्णन किया गया है। उतरार्ध खण्ड में 73 अध्याय है।

विशेषताः—

1. भाव प्रकाश संहिता में संस्कृत के मूल श्लोक सहित हिन्दी अनुवाद मिलता है।
2. भैषज्य द्रव्यों के विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित सही नाम, अंग्रेजी, लैटिन आदि भाषाओं में तथा वनस्पति की उत्पति स्थान का उनका विशिष्ट परिचय एवं रासायनिक संगठन आदि का यथा स्थान वर्णन किया गया है।
3. प्रस्तुत ग्रंथ में आयुर्वेद के संपूर्ण विषय वर्णित है।
4. चरक एवं सुश्रुत संहिताओं में अवर्णित रोगों का भी वर्णन एवं चिकित्सा का वर्णन है।
5. सृष्टि प्रकरण, गर्भ प्रकरण, बाल प्रकरण एवं ऋतुचर्या का वर्णन है।
6. निघण्टु भाग में हरीतकी आदि वर्ग, अन्न पान, घृत, आदि का विस्तृत वर्णन है।

माधव निदान एक परिचय

निदाने माधवः श्रेष्ठः – अर्थात् रोग का निदान, निश्चिय करने में आचार्य माधव रचित माधव निदान ग्रंथ श्रेष्ठ है। यह उक्त आयुर्वेद जगत में प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद शास्त्र के तीन प्रमुख सूत्र है (1) हेतु ज्ञान (2) लिंगज्ञान (3) औषध ज्ञान। अर्थात हेतु ज्ञान का अर्थ है, रोग किस कारण से उत्पन्न हुआ यह जानकारी रखना। लिंग ज्ञान का अर्थ है, रोग का विशेष लक्षण का ज्ञान प्राप्त करना एवं औषधि ज्ञान का तात्पर्य है, अमुक रोग में अमुक औषधि का प्रयोग करना। ठीक तरह से रोग का ज्ञान प्राप्त होने पर ही उस रोग की चिकित्सा सफल होती हैं। इसलिये पहले रोग की परीक्षा करे, उसे पहचाने, पश्चात् औषधि की व्यवस्था करें।

इस ग्रंथ के रचनाकार माधवकर जी है पुरातत्व वेत्ताओं द्वारा इनका समय सातवी शताब्दी माना गया है। माधव ने वाग्भट्ट के वचनों का उल्लेख किया है। विद्वानों ने माधवकर जी को बंगाली होना प्रतिपादीत किया है।

ढ़ांचा–संपूर्ण ग्रंथ दो भागों में विभाजित है–1. माधव निदान प्रथम 2.माधव निदान द्वितीय। दोनों भागों में 69 अध्याय है।

विशेषता– माधव निदान मूलतः रोग निदान का ग्रंथ है। जिनमें संपूर्ण रोगों के नैदानिक लक्षणों का विवरण उपलब्ध है। प्राचीन एवं अर्वाचिन पद्धति से रोगों के निदान का विस्तृत वर्णन मिलता है। निदान का सैद्धांतिक सूत्र पंच निदान जिसमें 1. हेतु निदान 2. पूर्वरूप 3. रूप 4. उपशय एवं अनुपशय 5. संप्राप्ति तथा रोगों की साध्य–असाध्यता का विशद वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद में वर्णित सभी रोगों के विस्तृत निदान के अतिरिक्त मसूरिका आदि कतिपय रोगों का स्वतंत्र अध्याय में वर्णन किया गया हैं।

बृहद्त्रयी के समान इन्हें स्थानों में विभक्त न करके दो खण्डों में संकलित किया गया है। बहुत कुछ लघुत्रयी की संहिताओं का अनुसरण किया गया है एवं कुछ अन्य विषयों का अलग से वर्णन प्राप्त होता है।

काश्यप संहिता एक परिचय

महर्षि मरीचि के अपत्य पुत्र कश्यप द्वारा प्रोक्त आयुर्वेद के एक प्राचीन ग्रन्थ का नाम काश्यप संहिता है जिसे 'वृद्धजीवकीय तन्त्र' भी कहते हैं। आयुर्वेद के आदि–प्रवर्तक स्वयम्भू ब्रम्हा है, जिन्होने इसका सर्वप्रथम उपदेश दक्षप्रजापति को दिया था। दक्ष ने इसका ज्ञान अश्विनीकुमारों को दिया, जिनसे इस संहिताका ज्ञान प्राप्त करके इन्द्रने कश्यप, वशिष्ठ, अत्रि और भृगु–इन ऋषियों के लिये इसके विषयों का रहस्य के साथ प्रतिपादन किया। कश्यप से उनके पुत्रों और शिष्यों में क्रमशः इस आयुर्वेद संहिता की परम्परा आगे चलती रही।

काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीय तन्त्र) में समस्त आयुर्वेदीय विषयों का प्रश्नोत्तर रूप में निरूपण किया गया हैं। शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर महर्षि विस्तार से देते है। शंका–समाधान की शैली में दुःखात्मक रोग, उनके निदान, रोगों का परिहार और रोग–परिहार के साधन, औषध इन चारों विषयों का भली भांति इसमें प्रतिपादन किया गया है। मानव के पुरूषार्थ – चतुष्टकीय सिद्ध में स्वस्थ शरीर ही मुख्य साधन है, शारीरिक और मानसिक रोगों से सर्वथा मुक्त शरीर ही स्वस्थ कहलाता है। अतः निरोग रहने या आरोग्य प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त रोग, निदान, परिहार और साधन – इन चारो का सम्यक् प्रतिपादन मुख्यतः आयुर्वेदशास्त्र में किया जाता है।

काश्यपसंहिता – चरक संहिता, सुश्रुतसंहिता, भेलसंहिता, भारद्धाज संहिता आदि सभी आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में प्राचीन है।

महर्षि कश्यप द्वारा प्रोक्त इस विशाल आयुर्वेद विज्ञान का कालकम से प्रचार–प्रसार जब कम होने लगा तो ऋचिक मुनी के पचंवर्षीय पुत्र जीवक ने इस विशाल काश्यप संहिता को संक्षिप्त करके हरिद्वार के कनखल में समवेत विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया। उपस्थित विद्वानों ने उसे बालभाषित समझकर अस्वीकार कर दिया। तब बालक जीवक ने वहीं उनके सामने गंगा की धारा में डुबकी लगायी । कुछ देर के बाद गंगा की धारा से जीवक अतिवृद्ध के रूप में निकले। उन्हें वृद्ध रूप में देख, चकित विद्वानोंने उन्हें वृद्धजीवक नाम से अभिहित किया और उनके द्वारा प्रतिपादित उस आयुर्वेद

तन्त्र कों 'वृद्धजीवकीय तन्त्र' के रूप में मान्यता दी।

कश्यप संहिता आयुर्वेद की अत्यंत प्राचीन संहिता हैं। यह संहिता नेपाल में खंडित रूप में मिली है। उनका समय 600 ईसा के पूर्व माना गया है। वर्तमान में प्राप्त काश्यप संहिता अपने में पूर्ण है।

ढ़ाचा– संपूर्ण काश्यप संहिता 8 स्थानों में विभक्त है।

1.	सूत्र स्थान	–	30 अध्याय
2.	निदान स्थान	–	8 अध्याय
3.	विमान स्थान	–	8 अध्याय
4.	शारीर स्थान	–	8 अध्याय
5.	इन्द्रिय स्थान	–	12 अध्याय
6.	चिकित्सा स्थान	–	30 अध्याय
7.	सिद्ध स्थान	–	12 अध्याय
8.	कल्प स्थान	–	12 अध्याय

इस तरह संपूर्ण काश्यप संहिता में 8 स्थान और 120 अध्याय है।

विशेषता –

1. प्रस्तुत संहिता कौमार्यभृत्य की प्रमुख संहिता है। बालकों में होने वाले समस्त रोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है।
2. बालकों के उत्पन्न होने से लेकर, युवावस्था तक के सभी संस्कार एवं ग्रहबाधा चिकित्सा तथा अन्य रोगों का विस्तृत वर्णन है।
3. गर्भिणीय प्रकरण, दुष्प्रजातिय एवं धात्री परिचय एवं परीक्षा का विस्तृत वर्णन है।
4. स्तन्य (स्त्री दूध) से सम्बन्धित समस्त रोग एवं उसके निवारणार्थ चिकित्सा का वर्णन है।
5. पंचकर्म अध्याय के अंतरगत बालकों में करने वाले पंचकर्मों, पूर्वकर्मो तथा शल्य कर्मों का विशिष्ट व्यवस्था की गई है।

6. बालको में होने वाले फक्क रोग (रिकेसिया) की चिकित्सा तथा तीन पहिया रथ का निर्माण, उपयोग सर्वप्रथम इसी संहिता में प्राप्त है।
7. विषम ज्वर (मलेरिया) के विभिन्न भेदों की लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन है।
8. बालकों के विभिन्न अंगो में होने वाली वेदना को बालको की चेष्टा के द्वारा अनुमान लगाने का वर्णन है।
9. कल्प स्थान में औषधि द्रव्य लहसून का वर्णन एवं लहसून कल्प का विशेष वर्णन इस संहिता की विशिष्टता है।
10. कल्प स्थान में ही युष, यवांगु आदि का प्रयोग, मधुर आदि रसों का एवं वातादि दोषो का विस्तृत वर्णन मिलता है।

सारांश :-

इस इकाई के द्वारा आपको आयुर्वेद शास्त्र में ग्रन्थों का नाम ज्ञात हुआ।

चरक संहिता की विशिष्टता ज्ञात हुई।

सुश्रुत संहिता के मौलिक रचनाओं का ज्ञान हुआ ।

वाग्भट्ट संहिता के गुढ़ विषयों की जानकारी हुई ।

शारंगधर संहिता, माधवनिदान, भावप्रकाश, काश्यप संहिता का अध्ययन किया।

अभ्यास प्रश्न -

1. आयुर्वेद की मुख्य प्राचीन संहिताओं का नाम उल्लेख कर उनकी विभाजन का क्रम बताये।
2. बृहद्त्रयी के ग्रन्थों का नाम लिखकर संक्षिप्त में परिचय दें।
3. चरक संहिता के स्थानों का संक्षिप्त में विशेषता लिखें ।
4. सुश्रुत संहिता का परिचय एवं विशेषता लिखे।
5. वाग्भट्ट संहिता का परिचय एवं विशेषता लिखें।

इस इकाई के अध्ययन से आप आयुर्वेद शास्त्र के मूल बृद्ध ग्रन्थों से परिचित हुये ।

पाठ्यक्रम – आयुर्वेद प्रबोध
द्वितीय–प्रश्न पत्र

इकाई –7
द्रव्य गुण विज्ञान भाग–1

इकाई की रूप रेखा –

1. उद्देश्य ।
2. प्रस्तावना ।
3. विषय वस्तु ।
- द्रव्य गुण विज्ञान परिचय ।
- गुण, वीर्य–विपाक, प्रभाव परिचय ।
- षड रसों का परिचय एवं महाभूतों से सम्बन्ध ।
- षड रसों का गुण, कर्म एवं शरीर पर प्रभाव ।
- षड्रसों का दोष धातु मलों पर प्रभाव ।
4. सारांश।
5. अभ्यास प्रश्न ।

1. उद्देश्य :–

- इस इकाई में हम द्रव्य गुण विज्ञान के अन्तरगत समस्त द्रव्यों (पदार्थो) मे विद्यमान गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक आदि का अध्ययन करायेंगे। जिससे आप :–
- द्रव्यों की विशिष्टता जान पायेंगे।
- मूलभूत गुण, कर्मादि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- द्रव्यों में स्थित रसों का परिचय एवं समस्त शरीर पर प्रभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रसों के गुण कर्मों से अपनी शरीर पर होने वाले प्रभाव को जान कर स्वास्थ हित द्रव्यों की जानकारी रखेंगे।

2. प्रस्तावना –

यह द्वितीय प्रश्न पत्र की दूसरी इकाई है। इसमें मनुष्य के द्वारा प्रायोगिक समस्त खाद्य पदार्थों के उपभोग करने एवं पंच भौतिक द्रव्यों के गुण, कर्म, प्रभावादि का परिचय दिया गया है। जो पदार्थ हम उपयोग करते है उसमें कौन–कौन से रसादि तत्व है। तथा उसके उपयोग उपरान्त हम कैसा महसूस करेंगे। ये द्रव्य अपने गुण कर्मादि के द्वारा हमारे शरीर के दोष, धातु, मल, आदि आधार भूत तत्वों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन करेंगे। साथ ही सभी द्रव्यों में उपस्थित मधुरादि रस का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। द्रव्यों के ये रस, गुण आदि आधार भूत तत्व ही हमें आरोग्यता प्रदान करता है। इसके सेवन से हमारे शरीर के श्वसन, पाचन, नाड़ी आदि संस्थान जिस तरह से कार्य करते है, एवं रसो के अन्तिम परिणामों का अध्ययन करेंगे।

विषय–वस्तु

इकाई–7

(द्रव्य गुण–विज्ञान भाग– I I)

द्रव्य गुण विज्ञान परिचय

लोक में प्रचलित है कि, आवश्यकता ही अविष्कार की जननी होती है, अर्थात् मनुष्य के खोज की कुछ न कुछ उद्देश्य होती है। चिकित्सा शास्त्र का मुख्य अंग ही द्रव्य गुण शास्त्र है। क्योंकि आचार्य चरक ने आयुर्वेद की जो परिभाषा बताई है, आयुष्य एवं अनायुष्य द्रव्य और उनके गुण कर्मो का ज्ञान ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद के प्रयोजन के अनुसार :–

1. स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना।
2. आतुर या रोगी व्यक्ति का रोग दूर करना।

और दोनों ही उद्देश्य की पूर्ती के लिए द्रव्य की आवश्यता होती है। चुकिं यह सिद्ध है कि संसार की प्रत्येक वस्तु पंचभौतिक है, इस परिणाम से मानव शरीर, शरीरगत् समस्त दोष, धातु, मल और अन्य अवयव भी पंचभौतिक है अतः पंचभौतिक द्रव्य ही दोष विकृति के लिए जिम्मेदार होते है। अर्थात् शारीरिक द्रव्यों को सम (प्राकृत) रखने के लिए पंचभौतिक द्रव्यों का प्रयोग उनका सही प्रयोग इसके विपरित अतियोग एवं अयोग या मिथ्यायोग से रोग उत्पन्न होता हैं। चिकित्सा के चतुष्पाद में से एक द्रव्य औषधि भी हैं जिसपर चिकित्सा की सफलता आधारित होती हैं। और चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिए समस्त द्रव्याों का पूर्ण परिचय आवश्यक होता हैं और उनके गुणधर्म, संयोग–वियोग, प्रभाव, कर्म आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। द्रव्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग करना अमृत के समान जीवनदायक है। उसी तरह दूसरा पहलु यह है कि, द्रव्य का अज्ञानता पूर्वक प्रयोग विषकारक या मारक होता

है। द्रव्य गुण विज्ञान एक वृहद विषय है। जिसके अन्तरगत गत्‌द्रव्य के प्रत्येक तत्वों का विस्तृत विवेचना की जाती है। आयुर्वेद में षड् पदार्थ माने है

(1) सामान्य (2) विशेष (3) द्रव्य (4) गुण
(5) कर्म (6) समवाय

शरीर में किसी धातु विशेष की कमी हो जाती है तब उसको उसके ही सामान गुणधर्म वाले द्रव्यों का प्रयोग कर वृद्धि की जाती है इसे सामान्य कहते हैं, जिनके अनुसार बढ़े हुये दोष धातुओं को उनके विरूद्ध गुण वाले द्रव्यों (आहार–विहार) के द्वारा सम अवस्था में लाना विशेष कहलाता है।

3. द्रव्य– जिसमें गुणकर्म आश्रीत हो, जो गुण और कर्म का समवायी कारण हो, उसे द्रव्य कहा जाता है। अतः पंच महाभूत आत्मा, मन, काल, दिशा इसे द्रव्य कहा गया है।

4. गुण– आयुर्वेद में 41 गुण द्रव्य के आश्रित माने है।

जैसे– 1. पांच इन्द्रिय गुण– शब्द, स्पर्श, रूप रस गंध। 2. बीस गुरू–लघु आदि गुण। 3. दस पर–अपर आदि गुण 4.छः आत्म गुण।

5. कर्म – श्रम पूर्वक जो चेष्टा की जाती है उसे कर्म कहते है।

6. समवाय– द्रव्यों के साथ उनके गुण एवं कर्मो का अलग न होना, समवाय माना गया है।

द्रव्य के लक्षण

जिसमें रस, गुण, कर्म, वीर्य, विपाक, प्रभाव समवायी (जुड़े हुये) रूप से रहते है, उसे द्रव्य कहते है। द्रव्य के बिना उपरोक्त रसादि कल्पना नहीं की जा सकती है। यह द्रव्य पंच भूतात्मक होता है, तथा पृथ्वी तत्व का आश्रय लेकर प्रगट होता है जल महाभूत, जल तत्व उत्पन्न करने वाली है। अग्नि, वायु, आकाश तत्व के योग से इसकी उत्पत्ति और स्वरूप भेद होता है। इस तरह अलग–2 महाभूत प्रधान द्रव्यों के अलग–अलग लक्षण होते है।

द्रव्यों का वर्गीकरण

1 सर्वप्रथम द्रव्यों के दो मुख्य भेद माने है

अ. कारण द्रव्य– पृथ्वी आदि पंच महाभूत, आत्मा, मन, काल, दिशा।

ब. कार्य द्रव्य– चेतन, अचेतन द्रव्य।

(2) प्रभाव भेद से– दो भेद

अ. दोषों को शान्त करने वाले द्रव्य ।

ब. स्वस्थवृत्त में हितकारी द्रव्य।

अ. दोषों को शान्त करने वाले द्रव्य– इसे शमन द्रव्य कहते है। जो वातादि दोषों को बाहर निकालकर या बिना निकाले उसको प्राकृत अवस्था में लाते है अर्थात् शमन एवं शोधन के द्वारा दोषों को सम अवस्था में लाते है।

जैसे–

1. तेल– स्नेह, उष्ण (गरम), गुरू (भारी), गुण के कारण वात में घी पीना एवं मधु कफ का शमन करता है।
2. मदन फल, दन्ती, कुटज आदि शोधन द्रव्य।

ब. स्वस्थवृत में हितकारी– ऐसे द्रव्य जो स्वस्थ पुरूष के स्वास्थ को बनाये रखने के लिए प्रयोग किया जाता है जैसे – रसायन द्रव्य, चावल, गेहु–जौ, गो दुग्ध, बाजीकरण द्रव्य।

3. उत्पत्ति भेद से – योनि भेद से द्रव्य के तीन भेद है

अ. जांगम ब. औद्भिद द. पार्थिव

अ. जांगम– जो एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन कर सकते हो, उन्हें जांगम द्रव्य कहते है, इसके भी तीन उपभेद होते है।

(1) अण्डज्– जो अण्डे से उत्पन्न होता है पक्षी, चीटी, सर्प, मगर इत्यादि।

(2) स्वेदज –जो पृथ्वी के वाष्प या प्राणीयों के स्वेद से उत्पन्न होते है। जैसे– कृमि, जू–लीख, आदि।

(3) उद्भिज–जो पृथ्वी के भीतर कुछ काल तक रहते है और ऋतु आने पर पृथ्वी फाड़कर निकलते है। जैसे–मंडूक, वीरबहुटी इत्यादि।

(ब) औद्‌भिद–यह वनस्पति द्रव्य है। इसके भी 4 उपवर्ग है।

(1) वनस्पति– ऐसे वनस्पति जिसमें पुष्प (फुल) दिखाई नहीं देते। बरगद – पीपल।

(2) विरूद्ध– लता (बेले) गुल्म छोटी झाड़ीयों।

जैसे–करेला, कुम्हडा़, लौकी, अंगुर, टमाटर,

झाड़ी – चना, बैगन, मिर्ची, भिण्डी।

(3) वानस्पत्य–जिसमें पुष्प और फल दोनों स्पष्ट रूप से मिलते है। जैसे आम, बिही, आवंला, मुनगा

(4) औषधीय– जो फल लगने या फल पकने पर नष्ट हो जाते है। जैसे एक वर्षीय पौधें धनियों, जौ, धान गेहुं इत्यादि।

स. पार्थिव द्रव्य–पृथ्वी पर मिलने वाले खनिज द्रव्य जैसे– सोना, चांदी – पारा, अभ्रक, रत्न, लोहा, तांबा इत्यादि।

पंच महाभूतो की प्रधानता के आधार पर –

(1) पार्थिव (2) आकाशीय (3) वायव्य (4) याप्य (5) तैजस् द्रव्य।

रस विज्ञान

परिचय– आयुर्वेद में रस शब्द की विभिन्न परिभाषा होती है जो निम्न है

1. आयुर्वेदीय रसशास्त्र के अनुसार पारद (पारा मर्करी) को रस कहा जाता है।
2. शरीर में स्थित सप्त धातू में प्रथम धातु को रस धातु कहा जाता है।
3. आयुर्वेदीय द्रव्य गुण विज्ञान में रसना या जिभ्या के द्वारा जिस विषय (स्वाद) का ज्ञान होता है। उसे रस कहा गया है।
4. सामान्य भाषा में भी सेवन किये गये द्रव्यों का जिभ्या से सम्पर्क होने पर जिस विषय (स्वाद) का ज्ञान होता है। उसे रस या स्वाद कहते है। इन्हीं रसों के प्रभाव से कोई भी द्रव्य प्राणीयों के लिए

हित व अहितकारी होता हैं।

<u>रस के भेद</u>– आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार रस की संख्या छः हैं।

1. मधुर (मीठा) 2. अम्ल (खट्टा) 3. लवण (नमकीन) 4. कटु (चटपटा) 5.तिक्त (कड़वा) 6.कषाय (कसैला)

<u>रसों का महाभूतों से सम्बन्ध</u>–

आचार्यो ने कहा है कि जगत में व्याप्त समस्त द्रव्य पंच महाभूत के विकृति स्वरूप होता है, और रसों के आश्रय भूत (निश्चित आधार) हैं। अर्थात् सभी द्रव्यों में रसों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। संसार में ऐसा कोई द्रव्य नहीं हैं, जिसमें छः रसों में से एक रस न हो, संसार की सभी द्रव्य औषधि होता है। जो भिन्न युक्ति के अनुसार, भिन्न प्रयोजन के अनुसार प्रयोग में लाये जाते है। अर्थात् कोई द्रव्य किसी रूप में, किसी रोग में प्रयोग किये जाते है और कोई किसी रूप में, किसी रोग में प्रयुक्त होता है। पंच महाभूतों से उत्पन्न समस्त द्रव्यों में विद्यमान छः रसों में प्रत्येक रस का सम्बन्ध प्रधान रूप दो–दो महाभूतों से है।

1.	मधुर रस	–	पृथ्वी + जल महाभूत
2.	अम्ल रस	–	जल + अग्नि महाभूत
3.	लवण रस	–	पृथ्वी + अग्नि महाभूत
4.	कटु रस	–	वायु + अग्नि महाभूत ।
5.	तिक्त रस	–	वायु + आकाश महाभूत।
6.	कषाय रस	–	वायु + पृथ्वी महाभूत ।

<u>रसों की उत्पति</u>–

आयुर्वेदिक प्राचीन आचार्यों ने रसों की उत्पति क्रम निम्न रूप से वर्णीत किये हैं। जिसके अनुसार आकाश से उत्पन्न होने वाला जल, प्राकृत रूप में सौम्य और प्रकृति में शीतल तथा अव्यक्त रस वाला होता है। और जब जल आकाश से नीचे की ओर (पृथ्वी)में आता है, तो पृथ्वी पर गिरकर पंच महाभूतों के विकारों से युक्त हो जाता है, तथा इसी जल से पृथ्वी के चल–अचल, जांगम (पृथ्वी) आदि द्रव्यों का पोषण होता है, तथा उन द्रव्याों में छः रसों की उत्पति है।

आचार्य ने रसों में महाभूतों के प्रधानता के अनुसार शरीर में होने वाली गति के विषय में निम्न टिप्पणी किये है। जैसे–

1. जिन रसों में अग्नि और वायु महाभूत प्रधान होते है, वे प्रायः उपर की ओर गति करने वाले होते है। क्योंकि वायु हल्की होती है और उपर की ओर गतिशील होती है, अग्नि उर्ध्वगामी होती है। जिस रस में वायु तथा अग्नि महाभूत हो वह उपर की ओर गति करने वाला होता है। जैसे – कटुरस (वायु + अग्नि)

2. जो रस पृथ्वी और जल महाभूत प्रधान होता है वह अधो भाव (नीचे) की ओर गति करने वाला होता है। जैसे – मधुर रस (पृथ्वी + जल)

3. जो रस दोनों प्रकार के महाभूतों से प्रधान होता है वह उपर नीचे दोनों ओर गति करने वाला होता है। जैसे – लवण रस (पृथ्वी + वायु)

रसों के गुण एवं कर्म

मधुर रस– (1) मधुर रस का गुण स्नेह (तैलीय), पिच्छिल, शीत–गुरू (भारी), चिपचिपा होता है। (2) आयु के लिए हितकर, (3) मन एवं इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला होता है। (4)मधुर रस शारीरिक बल को एवं सौंदर्य को बढ़ाने वाला होता है। (5)प्यास को दूर करता है (6) त्वचा, केश (बाल), कण्ठ (आवाज) के लिए हितकारी होता है। (7) शरीर में जीवनीय शक्ति को बढ़ाता है। (8) कटे हुये स्थानों का सन्धान (घाव भरना या जोड़ना) करता है। (9) नाक,मुख, गला, ओठ, जिभ्या को साफ करता है। इसलिए भोजन के बाद मीठा लेना चाहिए ताकि मुख में स्थित भोजन के अंश पूर्ण रूप से आन्तों में पहुंच जाये। (10) मुर्च्छा, (बेहोशी) दौबल्यता (कमजोरी), दाह (जलन) को कम करता है। (11) मधुर रस चीटियों एवं मक्खियों को प्रिय होता है (12) मोटापा बढ़ता है।

मधुर रस के अतिसेवन से हानि –

उपरोक्त गुणों से युक्त होने पर भी मधुर रस का अधिक सेवन हानिकारक होता है जैसे–

1. शरीर में अधिक स्थुलता (मोटापा), कोमलता, आलस्य, निद्रा की

अधिकता।

2. शरीर में गुरूता (भारीपन) भोजन में अरूचि।
3. पाचक अग्नि की मंदता।
4. दमा, खॉसी, सर्दी, ज्वर (शीत लगकर) वमन (उल्टी) आदि विकृति उत्पन्न करता है।
5. ज्ञान नाश, स्वरभेद, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लिपद (फाईलेरिया), मुत्राशय और धमनी के रोग उत्पन्न करता है।
6. नेत्र के सभी रोग एवं कफ दोष को दूषित कर कफ प्रधान रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

अम्ल रस के गुण एवं कर्म तथा शरीर पर प्रभाव–

1. अम्ल रस के गुण है –लघु (हल्का), उष्ण (गरम), स्निग्ध (चिकनापन), होता है।
2. खट्टा रस भोजन में रूचि उत्पन्न करता है।
3. पाचन अग्नि (शक्ति) को बढ़ाने वाला होता है।
4. शरीर को स्थुल (मोटा) करता है।
5. शारीरिक शक्ति को बढ़ाता है।
6. इन्द्रियों को बलवान बनाता है
7. वायु को शरीर से निकालना, मुख में जल का स्त्राव कराना आदि कार्य करता है।
8. भोजन को मुख से खींचकर आमाशय मे ले जाता है। उसे गीला करता हैं तथा पचाता है।
9. शरीर की धातुओं को तृप्त करता है।

अम्ल रस की अति सेवन से हानियॉ

अकेले अम्ल रस का अत्यधिक सेवन से निम्न हानियॉ होती है।

1. दांतो में खट्टापन आना।
2. अत्यधिक प्यास उत्पन्न करना।
3. नेत्रों का अस्वाभाविक कस जाना, शरीर के रोमों का खड़ा (रोमांचित) होना।

4. पित्त को बढ़ाता है।

5. कफ को ढ़ीला करता है।

6. रक्त को दुषित करता है।

7. मांस पेशीयां में दाह (जलन) उत्पन्न करता है।

8 शरीर के सन्धि (जोड़) बन्धनों को ढ़ीला करता है क्षीण (कमजोर), क्षत (चोट लगे), कृश (दुबला), व्यक्ति में शोथ (सुजन) उत्पन्न करता है।

9 फोड़े, कटने पर, जलने, क्षत, छेदने वाली जगह को पका देता है।

10 कण्ठ, (गला) छाती, ह्दय में जलन उत्पन्न करता है।

लवण रस के गुण एवं कर्म

1. गुण न लघु, न गुरू, स्निग्ध, उष्ण है ।

2. आहार को पकाने वाला।

3. छेदन (छेदना), भेदन (भेदना), तीक्ष्ण (चुना), अस्थिर, अवयवों में शिथिलता लाने वाला।

4. नीचे की ओर बहने वाला।

5. अवयवों में रिक्त स्थान बनाने वाला, वात शामक, धातु से ओज को अलग करने वाला होता है।

6. मुख में लाला (लार) स्त्राव कराने वाला।

7. भोजन को रूचि कारक (सुस्वादु) बनाने वाला होता है।

लवण रस के अति सेवन से हानियां

अकेले लवण रस के अत्यधिक सेवन करने से निम्न हानियॉ होती है।

1. पित्त दोष को प्रकुपित करता है।

2. रक्त की वृद्धि करता है।

3. अत्यधिक प्यास, मुर्च्छा उत्पन्न करना।

4. शरीर में ताप की वृद्धि करना

5. त्वचा में दरारे उत्पन्न करना।
6. मांस पेशियों में विकृति उत्पन्न करना।
7. शरीर में विष को बढ़ाना।
8. फोड़ा या घाव को फाड़ना।
9. दान्तों मसुड़ों को कमजोर करना, जिससे दान्त जल्दी गिर जाते है।
10. शिर के बालो का असमय पकना, गिरना।
11. शरीर की त्वचा में असमय झुर्रीयों का बनना।
12. पुरूषों में काम शक्ति एवं सन्तानोंत्पादक शक्ति को नाश करना।
13. इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करना।
14. रक्त, पित्त (शरीर के छिंद्रो से रक्त स्वाव होना।) उत्पन्न करता हैं।
15 अम्लपित्त (Acidity), विसर्प (चर्म रोग), वातरक्त (गठियावात), विचर्चिका (चर्म रोग) आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

<u>कटु रस के गुण एवं कर्म</u>

गुण – उष्ण, लघु, रूक्ष (रूखापन), तीक्ष्ण (भेदने वाला)।

1. मुख शोधक (साफ), अग्नि प्रदीपक (पाचन क्रिया में सहायक), रूचिकर (रूचि उत्पन्न करना)।
2. आहार से जलीयांश को सोखने वाला।
3. नाक, से कफ स्त्राव कराना।
4. नेत्र से जल स्त्राव कराना।
5. चेतना (ज्ञानेन्द्रियो) को जागृत करना।
6. स्वेद, क्लेद (दूषित कफ), मलों को बाहर निकालना।
7. कृमिनाशक (कीड़े को मारने)।
8. पुरूषों में पुंसत्व शक्ति को नष्ट करना।

कटु रस अतिसेवन से हानियॉ

उपयुक्त गुणों के रहते हुये भी केवल कटु रस के अधिक सेवन से निम्न हानियॉ होती है।

1. पुरूषों में शुक्र को नष्ट करता है।
2. शरीर में बैचेनी, मुर्च्छा, व्याकुलता उत्पन्न करना।
3. गले में जलन, शरीर का ताप बढ़ाना।
4. बल को कम करना, प्यास को बढ़ाना।
5. शरीर में दाह (जलन), कम्प (कॉपना), सुई चुभोने जैसी– पीड़ा उत्पन्न करना।
6. पैर, हाथ, पीठ पर्श्व के अवयवो में वात रोग उत्पन्न करना।

(5) तिक्त रस के गुण एवं कर्म :– गुण–रूक्ष (रूखापन), शीत (ठडा), लघु (हल्का)

कर्म या शरीर पर प्रभाव

1. खाने में कड़वा या अरूचिकर होता है पर शरीर में भोजन के प्रति रूचि उत्पन्न करता है।
2. विष नाशक अर्थात् शरीर के अन्दर उत्पन्न विष तत्वों को नष्ट करता है।
3. बेहोशी (मुर्च्छा) को दूर करता है।
4. दाह, खुजली, कोढ़, प्यास, को नष्ट करता है।
5. त्वचा और मांस पेशीयों में स्थिरता लाता है
6. ज्वरनाशक, अग्नि प्रदीपक, आहार पाचक, दुग्ध को शुद्ध करने वाला होता है।
7. पुय (मवाद), मूत्र, पसीना, कफ, पित्त को सुखाता है।

तिक्त रस अति सेवन से हानियाँ

उपर्युक्त गुणों से पूर्ण होते हुए भी अकेले तिक्त रस का अधिक मात्रा में सेवन करने से निम्न हानिया होती है।

1. शारीरिक बल घटाता है।
2. शरीर को कृश (दुबलापन) करता है।
3. मन में ग्लानि (अरूचि) उत्पन्न करता है।
4. मोह एवं भ्रम उत्पन्न करता है।
5. वात रोगों को उत्पन्न करता है।

कषाय रस के गुण एवं कर्म

गुण– रूक्ष (रूखापन), शीत (ठड़ा), गुरू (भारी)।

कर्म एवं शीर पर प्रभाव, –

(1) घावों (जख्म) को भरने वाला ।
(2) शरीर में क्लेद (मल) को सुखाना।
(3) संगठित एवं संधान (जोड़ने वाला) करना।

कषाय रस अति सेवन से हानियाँ–

उपरोक्त गुणों के रहते हुये भी अकेले कषाय रस के अधिक मात्रा में सेवन करने से निम्न हानियाँ होती है।

1. मुख को सुखाता है।
2. हृदय में पीड़ा या कषावट उत्पन्न करता है।
3. पेट में वायु (गैस) उत्पन्न करना जिससे पेट फुलने (आध्मान) लगता है।
4. बोलने की शक्ति को कम करता है।
5. स्त्रातो में अवरोध उत्पन्न करता है।
6. शरीर का वर्ण (रंग) सांवला कर देता है।
7. पुंसत्व शक्ति को नष्ट करता है।
8. पुरीष, मूत्र, वायु, शुक्र को रोकता है।
9. शरीर में दुबलापन, प्यास, जकड़ाहट उत्पन्न करता है।

10. वात विकारों का उत्पन्न करता है।

षड़ रसों का धातुओं पर प्रभाव

1. मधुर रस– यह शरीर में सभी धातुओं जैसे रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा शुक्र इन सातों धातुओं को बढ़ाता है।
2. अम्ल रस – मांस धातु वर्धक।
3. लवण रस – सभी सप्त धातुओं को नष्ट करता है।
4. कटु रस – धातुनाशक, शुक्र नाशक।
5. तिक्त रस – शुक्र नाशक, मेद, मज्जा, लसिका को सुखाने वाला।
6. कषाय रस – सभी धातुओं को सुखाने वाला होता है।

षड़ रसों का मलों पर प्रभाव

(1) मधुर, अम्ल, लवण रस – वात, (गैस), मूत्र पुरीष, को बॉधने वाला एवं उत्सर्जन में सहायक होता है।

(2) कटु तिक्त, कषाय रस –वायु (पेट का गैस) पुरिष मूत्र को रोकने वाला या उर्त्सन में बाधा डालने वाला होता है।

रसों का त्रिदोष से सम्बन्ध

क्रमांक	रस	दोष प्रभाव
1.	कटु तिक्त कषाय	वायु (वात) प्रकोपक
2.	मधुर, अम्ल, लवण	वायु (वात) शामक
3.	कटु, अम्ल, लवण	पित्त प्रकोपक
4.	तिक्त, मधुर, कषाय	पित्त शामक
5.	मधुर, अम्ल, लवण	कफ प्रकोपक
6.	कटु, तिक्त, कषाय	कफ शामक

गुण (Attributer)

जिसके कारण लोग द्रव्य की ओर आकर्षित होते है। उसे गुण कहते है। अर्थात् द्रव्य में आश्रित भाव से रहते हैं द्रव्य अपने गुणों के प्रभाव से शरीर पर क्रिया करते है। आयुर्वेद शास्त्र में द्रव्य के गुणों की संख्या 20 माने है।

1. गुरू (भारी)	2. लघु (हल्का)
3. मन्द (धीमा)	4. तीक्ष्ण (तेज)
5. शीत (ठण्ड़ा)	6. उष्ण (गरम)
7. स्निग्ध (तेलीय)	8. रूक्ष (रूखा)
9. श्लक्ष्ण (मुलायम)	10. खर (खुरदरा)
11. सान्द्र (गाढ़ा)	12. द्रव (पतला, बहने वाला)
13. मृदु (कोमल)	14. कठिन (कठोर)
15. सूक्ष्म (बारीक)	16. स्थूल (बड़ा या दिखने वाला)
17. स्थिर (एक जगह जमा)	18. सर (बहने वाला)
19. विशद् (अलग 2 हो जाना, अचिपचिपा)	20. पिच्छिल (चिपचिता)

आहार द्रव्य एवं औषधीय द्रव्यों के ये भौतिक गुण होते है। द्रव्यों के ये गुण उनमें विद्यमान महाभूतों की प्रधानता के कारण आते है, जैसे पृथ्वी महाभूत प्रधान द्रव्य में गुरू गुण पाया जाता है। आकाश महाभूत की प्रधानता पर लघु गुण अर्थात् द्रव्यों में उपस्थित रस एवं गुण के आधार पर ही उस द्रव्य का वीर्य–विपाक एवं प्रभाव होता है फिर भी द्रव्य गुण विज्ञान में द्रव्यों में गुण की प्रधान मानी गई है।

वीर्य

जिसके द्वारा द्रव्य अपना कर्म करता है उसे वीर्य कहते है। या जिस शक्ति के द्वारा द्रव्य अपना कर्म सम्पादित करता है उस शक्ति को वीर्य कहते है। एक औषधि में अनेक प्रकार के गुण पाये जाते है उनमें जो सबसे ज्यादा शक्तिशाली होता है उसे वीर्य कहते है। यह वीर्य अपने विशेष गुण के द्वारा रस के प्रभाव को गौण करके उसके विपरित क्रिया करता है। वीर्य के आधार पर औषध

द्रव्यों को मुख्य दो वर्गों में बांटा गया है।

(1) उष्ण वीर्य। (2) शीतवीर्य।

आयुर्वेद शास्त्र में अन्य आचार्यो ने आठ गुणों के समावेश वीर्य में करते है। जैसे :–

वीर्य नाम		–महाभूत की प्रधानता
(1) शीत	–	पृथ्वी और जल महाभूत
(2) उष्ण	–	तेजस्
(3) स्निग्ध	–	जल
(4) रूक्ष	–	वायु
(5) गुरू	–	पृथ्वी और जल
(6) लघु	–	तेजस् वायु–आकाश
(7) मन्द	–	जल
(8) तीक्ष्ण	–	तेजस

औषधि द्रव्यों में वीर्य तत्व की प्रधानता होती है। अतः वीर्य तत्व के कारण ही ये द्रव्य शरीर के स्वास्थ को बनाये रखते है तथा रोग का नाश करते है। जब हम किसी औषधि द्रव्य का सेवन करते है तो पाचननली (आमाशय, पक्वाशय आदि) में जाकर जाठराग्नि एवं अन्य अग्नियों (अग्नि विवेचना में देखे) के द्वारा पाचन क्रिया होती है। जिसके परिणाम स्वरूप इन द्रव्यों के महाभौतिक तथा रासायनिक संगठनों में परिवर्तन आता है और यह परिवर्तीत रूप दोष धातु का पोषण करती है। साथ ही इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप तिक्त–मधुर–कषाय आदि प्रभाव उत्पन्न करते है इसे शीत वीर्य कहते है।

(2) कटु, अम्ल–लवण रस वाले द्रव्य उष्ण प्रभाव उत्पन्न करते है जिसे उष्ण वीर्य कहते है।

(अ) उष्ण वीर्य– 1. ये द्रव्य शरीर में गर्मी (उष्णता) उत्पन्न करते है। (2) पाचन शक्ति को बढ़ाता है। (3) पसीना निकालने वाला, प्यास उत्पन्न करने वाला एवं शरीर को दुबला (पतला) करता है। (4) इस वीर्य के प्रभाव से पित्त की वृद्धि एवं वात–कफ दोषों का शमन होता है।

(ब) शीत वीर्य– 1. ये द्रव्य शरीर पर शीतल प्रभाव डालता है व आर्द्रता (गीलापन) को बढ़ाने वाला होता है।

2. आयु, धातु और जीवनीय शक्ति को बढ़ाता है

(3) बल को बढ़ाने वाला, पित्त का शमन करने वाला एवं वायु और कफ को प्रकुपित करता है।

विपाक (After Teste)

आहार या औषध द्रव्यों को खाने के बाद जाठराग्नि के संयोग होने के बाद पाक अवस्था में भोजन में जो रस उत्पन्न होता है, उसे विपाक कहते है। अर्थात् खाये हुये मधुरादि द्रव्यों का महास्त्रोत में जाठराग्नि द्वारा परिपाक होकर अन्त में जिस रस विशेष की उत्पत्ति होती है उसे विपाक कहते है।

विपाक का प्रकार– आयुर्वेद में खाये हुए अन्न का दो प्रकार का विपाक माना हैं 1. अवस्था पाक 2. निष्ठापाक। पाक का अर्थ पकना है, जिस द्रव्यों का पाचन के बाद रस में परिवर्तन होता है। खाये हुए द्रव्यों का महास्त्रोत (आहार नाल, पाचन संस्थान) के अलग–अलग स्थानों में जो पाक होता है उसे अवस्था पाक कहते है जैसेः– आमाशय में मधुर पाक कफ के कारण होता है।

इसी तरह खाये हुये द्रव्यों के सम्पूर्ण पाक हो जाने पर आहार रस या सारभाग में जो रस प्रधान होता है उसे निष्ठा पाक कहते है।

आयुर्वेद में आचार्यो के अलग अलग मत के अनुसार विपाक के निम्न प्रकार बताये है।

(1) रस भेद से – 1. मधुर एवं लवण रस का विपाक मधुर होता है 2. अम्ल रस का विपाक अम्ल 3. कटु, तिक्त, कषाय रस का विपाक कटु होता है कभी–कभी इस नियम के अपवाद भी मिलते है। जैसे शुण्ठी, पिप्पली कटु रस होते हुये भी इनका विपाक मधुर होता है। इसी तरह हरीतकी (हर्रा) कषाय रस प्रधान, ऑवला अम्ल रस होते हुये भी इनका विपाक मधुर होता हैं। तेल मधुर रस होते हुए भी विपाक कटु होता है।

(2) गुण भेद से– दो प्रकार है 1.गुरू 2. लघु

जैसे– पृथ्वी और जल महाभूत की अधिकता वाले द्रव्य का विपाक गुरू होता है। एवं वायु–आकाश और अग्नि प्रधान द्रव्य का विपाक लघु होता है अतः द्रव्यों का लघुत्व एवं गुरूत्व विपाक के बाद स्पष्ट होता हैं। और उसी के अनुसार शरीर में उस द्रव्य का प्रभाव होता है।

विपाक का गुण धर्म–

1. मधुर विपाक – भारी, मल–मूत्र निर्हरण करने वाला, कफ को बढ़ाने वाला एवं शुक्रवर्धक होता है।
2. अम्ल विपाक – हल्का, मल, मूत्र का निर्हरण में सहयोग देने वाला, शुक्रनाशक एवं पित्तवर्धक होता है।
3. कटु विपाक – लघु (हल्का), मल, मूत्र का अवरोध, शुक्र नाशक, वायु को बढ़ाने वाला होता है

प्रभाव (Specific Action)

जिससे द्रव्य में विशेषशक्ति उत्पन्न होती है, उसे प्रभाव कहते है। रस, गुण, वीर्य, विपाक में समानता रहने पर भी जहां कर्म में विशेषता होती है, जिसके कारण एक विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है इस विशिष्ट शक्ति को प्रभाव कहते है।

कुछ औषधियॉ अपने रस के आधार पर कुछ अपने गुणों के आधार पर कुछ वीर्य के आधार पर तथा कुछ अपने विपाक के आधार पर क्रिया करती है। परन्तु कुछ औषधियां किसी विशेष शक्ति के आधार पर दोष शामक, प्रकोपक या रोगशामक क्रिया करती है, यह क्रिया रस, गुण, वीर्य, विपाक किसी भी के कारण नहीं होता। अतः औषधि के इस गुण को प्रभाव कहते हैं। कभी–कभी कोई दो एक ही तरह के रस, गुण,वीर्य, विपाक वाले द्रव्य एक रोग के लिए लाभदायक परन्तु दुसरा द्रव्य उसी रोग के लिए हानिकारक होता है। जैसे– चित्रक एवं दन्ती नामक औषधि का रस–कटु, विपाक–कटु, वीर्य–उष्ण है परन्तु दन्ती विरेचक (दस्त कराने वाला) होता है चित्रक नही। अतः दन्ती का यह विरेचक गुण उसके प्रभाव के कारण होता है।

प्रभाव दो प्रकार का होता है।

1. हितकर 2. अहितकर जैसे– दुध, दही कोमल मूली हितकर होता है। परन्तु पकने के बाद मूली अहितकर होती है।

प्रत्येक आयुर्वेदीय औषधि द्रव्यों का भौतिक एवं चिकित्यकीय दृष्टि से द्रव्यों के रस गुण, वीर्य, विपाक प्रभाव आदि का ज्ञान होना आवश्यक है।

4. सारांश

- आपने इस इकाई में आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य अंग द्रव्यगुण विज्ञान का अध्ययन किया है।
- द्रव्यों में निहित गुणों का अध्ययन कर, उनकी जटिलता को समझ कर, द्रव्य प्रयोग में सावधानी बरत सकेंगे।
- कर्म, वीर्य, विपाकों का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता हैं,उसकी जानकारी हुई।
- मधुर, अम्लादि रसों की जानकारी प्राप्त कर उसका विभेद जाना है।
- रसों का शरीर अवयवों पर प्रभाव का अध्ययन किया है।
- रसों का ज्ञान सरल शब्दों में समझाया गया है, जिससे आप शरीर के लिए हानि कारक एवं आम परिणाम देने वाले द्रव्यों का चयन कर सकते है। जिससे आप अपने स्वास्थ की रक्षा कर सकेंगे।

5. अभ्यास प्रश्न :–

1. द्रव्य गुण विज्ञान की विशेषता लिखें।
2. द्रव्यों में स्थित तत्वों का परिचय लिखें।
3. रसों से आप क्या समझते है।
4. रसों का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है।
5. दोषधातु मलों पर रसों का प्रभाव लिखे।
6. पंचभौतिक द्रव्यों के रसों का महाभूतों से सम्बन्ध लिखे।

आयुर्वेद प्रबोध
द्वितीय प्रश्न पत्र

ईकाई 8
द्रव्यगुण विज्ञान भाग–2
इकाई की रूप रेखा

1. उद्‌देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु

- वनस्पति औषधियों का परिचय एवं प्रयोग :– हींग, आंवला, बहेरा, हरितकी, गुग्गुल, गुडूची, अश्वगंधा, तुलसी, हरीद्रा, कालीमिर्च, पिप्पली, नीम, धनिया, सौफ, घृतकुमारी, इलायची ।

4. सारांश ।
5. अभ्यास प्रश्न ।

1. उद्देश्य :–

इस ईकाई में आयुर्वेद शास्त्र के अमूल्य धरोहर आयुर्वेदीय औषधि द्रव्यों का अध्ययन करेंगे। इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :–

- अपने राज्य में पाए जाने वाले वनस्पति औषधि द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग कर सकेंगे।
- अपने आस–पास के पर्यावरण में उपस्थित वनस्पति के गुण कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2. प्रस्तावना :–

आयुर्वेद प्रबोध पाठ्यकम के द्वितीय प्रश्न पत्र की यह 3री ईकाई है। इस इकाई में आप आयुर्वेद शास्त्र का मूलाधार समस्त वनस्पति, औषधि द्रव्यों के विषय में अध्ययन करेंगे उनके परिचय प्राप्ति स्थान विशेष गुणकर्म के साथ उनके विशिष्ट महत्व के रूप में उनका शारीरिक प्रयोग का अध्ययन करेंगे। सही अर्थ में यह इकाई पूरे पाठ्यक्रम की आत्मा है। वैसे तो हम अपने बड़े बुजुर्गों के मुंह से विभन्न औषधि द्रव्यों का चिकित्सीय प्रयोग सुनते एवं देखते आए है, परंतु उस विषय का अध्ययन करना अपने आप में कौतुहल का विषय तथा दूर्लभ धन प्राप्त करने जैसी होती हैं। इस इकाई में हमारे आस–पास के वातावरण को सुंदर एवं स्वास्थ्य बनाने वाले छोटे–बड़े पौधे, वृक्ष, लता, फूल, आदि में स्थित औषधीय गुणों का अध्ययन कर उससे उत्पन्न लाभ हानि की जानकारी प्राप्त कर सकते है। प्रतिदिन भोजन के रूप में प्राप्त होने वाले द्रव्यों का हम औषधि के रूप में प्रयोग इत्यादि विषय इस इकाई की विशिष्टता को प्रकाशित करता है। इसी तरह गाय, भैंस, मक्खी, मछली इत्यादि अनेक छोटे–बड़े प्राणियों का हमारे जीवन में क्या महत्व है, उनसे प्राप्त होने वाले अनेक द्रव्यों का अपने शरीर के हित में किस तरह प्रयोग कर सकते है। इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

विषयवस्तु

वनस्पति औषधियों का परिचय एवं प्रयोग

हींग

हींग एक भूरे रंग का बहुत दुर्गन्ध वाला तथा गोंद के समान निकलने वाला दूध है, जो एक दो मीटर से भी अधिक उंचे बहुवर्षीय वृक्ष से प्राप्त होता है। इसके दो–दो के जोड़े में बड़े–बड़े पत्ते जड़ से निकले हुए डण्ठल के दोनों ओर सीधे फैले होते है। बढ़ने पर इसकी जड़ से निकलने वाला तना बहुत मोटा व गूदेदार हो जाता है। पॉचवे वर्ष पर 10 सेन्टीमीटर मोटे व 3 मीटर ऊंचे डण्ठल पर गुच्छो के रूप में फूल लगते है। पीले रंग के ये फूल छतरीनुमा आकार में, व गुच्छों में बसन्त ऋतु के मध्य में दिखाई देते हैं यह मूल रूप से तुर्की, ईरान और पश्चिमी अफगानिस्तान में पाया जानेवाला पौधा है। इस वृक्ष का दूध भारत अफगानिस्तान से आयात करता है। यह एक प्रकार की सूखी बेचा जाता है। हींग के स्त्रोत के रूप में दो जातियॉ प्रचलित है।

(1) Ferula narthex

(2) Ferula Foetida

दोनो पौधे लगभग एक जैसे दिखाई पड़ते है और कम से कम पॉच वर्ष पुराने पौधो से ही इस निर्यास को, जो कि गोंद जैसा पदार्थ है, एकत्रित किया जाता है।

घटक :– इसमें उड़नशील तैल 10 प्रतिशत शत या निर्यास 50 प्रतिशत गोंद 25 प्रति. और Ferulic acid पाये जाते है। उड़नशीला तैल में terpenes, disulphides व Finene होते है। यह उड़नशील तैल ही मुख्यतया औषधीय दृष्टि से लाभकारी है।

English Name - Asafoetida "Devils Dung

रस – कटु (Pungent)

वीर्य – उष्ण।

(इस रस और वीर्य के कारण यह दीपन, पाचन है व पाचक अग्नियों और धात्वाग्नि को उत्तेजित करती है।

विपाक कटु (Pungent)

कर्म–

पाचन क्रिया को उत्तेजित करता है। दीपन कर आम दोष को दूर करता है। वात व कफ का शमन करता है। उष्ण गुण के कारण यह पित्त प्रकृति व्यक्तियों के लिए व पित्तवृद्धि होने पर अधिक लाभकारी नही है। यह नाड़ी संस्थान के तन्तुओं को उत्तेजित करता है। कफ निःसारक है, मूत्रकृच्छ व गर्भस्त्राव के लिए इसका उपयोग भी करते है।

औषधीय गुण –

इसका प्रयोग आन्त कृमियों के नाश के लिए (वहॉ स्वस्थ वातावरण बनाकर) कोष्ठ बद्धता (वायु का अनुलोमन करके) उदरशूल (यकृत व पित्त स्त्राव को उत्तेजित करके), कुक्कुरखांसी, पक्षाघात और गृधसी के लिए किया जाता है।

हृदयशूल व निमोनिया या वक्षशूल के लिए निम्नलिखित योग उपयोगी है।

हिंगु	–	1 भाग
कर्पूर	–	1 भाग
कस्तुरी	–	1/8 भाग

इनकी 250–250 मि.ग्रा. की गोलियां बना ले इस एक गोली को गर्म पानी के साथ सेवन करने से लाभ होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयोग – यह नाड़ी संस्थान को उत्तेजित करने वाला शक्तिशाली उद्‌देष्ट रोधी (ऐंठन को दूर करने वाला), कफ निःसारक और पाचक औषधि द्रव्य को दूर करता है। योषापस्मार, कास, श्वास, कुक्कुरखांसी, कास एवं आध्मान (आफरा) जन्य उदरशुल के लिए एक प्रभावकारी औषधि है। हींग शरीर में उष्मा उत्पन्न करती है। इसकी भस्म रक्तस्त्राव को रोकती है।

आमलकी (आंवला)

यह Euphorbiaceae कुल का वृक्ष है, जो भूमध्य रेखा के आसपास 1500 मी. की उंचाई तक पाया जाता है।

आंवला दो प्रकार का होता है–वन्य व ग्राम्य।

ग्राम्य आंवले का फल बड़ा होता है तथा उसके गूदे में रेशे कम होते है। जबकि वन्य प्रकार का आंवला छोटा होता है। इस फल के बाहरी पृष्ठ पर पॉच या छः रेखायें होती है। फल सूखने पर लगभग काला हो जाता है। इस फल की सब्जी एवं चटनी भी बनाई जाती है।

वैसे तो यह सम्पूर्ण वृक्ष औषधि रूप में प्रयुक्त होता है, परन्तु फल बहुत उपयोगी व महत्वपूर्ण है।

वानस्पतिक नाम – Emblica officinalis.

रस – मधुर, अम्ल, कटु तिक्त, कषाय लवणों

रस का अभाव

वीर्य – शीत

विपाक – मधुर

कर्म – उपचय

प्रभाव –

अम्लरस वात का शमन करता है। अम्लरस प्रायः पित्त की वृद्धि करता है परन्तु आमलकी इसका अपवाद है। इसमें विद्यमान मधुर रस एवं शीतगुण पित्त का शमन करते है । कटु तिक्त और कषाय रस कफ का शमन करते है। आमलकी में विटामिन सी प्रचुरमात्रा में पाया जाता है, जो शारीरिक तापमान को स्थिर रखता है। इसमें स्थिर तैल जो उड़नशील नही है, व टैनिन पाया जाता है।

आमलकी रसायन चिकित्सा के लिए एक उत्तम वनस्पति है, जो पौष्टिक होने के साथ–साथ बल्य भी है। यह चक्षुष्य है, नेत्र दृष्टि को स्थिर व दृढ़ रखती है, और बालों के लिए उत्तम है । तैलीय बालों के लिए इसे नारियल के तेल के साथ तथा रूक्ष बालों के लिए तिल–तेल के साथ पका कर प्रयोग कि जाता है।

<u>औषधीय उपयोग</u> –

आमलकी चर्म विकारों, अर्श (क्योकि रेचक औषधि का कार्य करता है व यकृत विकारों को दूर करता है), तथा मधुमेह या प्रमेह में उपयोगी है। आमलकी व हल्दी दोनो मिलाकर कम से कम

एक वर्ष तक निरन्तर प्रयोग करना चाहिए (क्योंकि तुरन्त प्रभावकारी नहीं है) जो हृदय रोग व पाण्डु शामक है। पाण्डुरोग में आमलकी चूर्ण या स्वरस लौहभस्म के साथ प्रयोग करने से लाभ होता है। यह रक्तस्त्राव (स्तम्भक होने से) कामला कास व श्वास में भी लाभ करता है।

नेत्र दृष्टि त्रीव व दृढ़ करने के लिए आमलकी घृत बहुत उपयोगी है। इसे तैयार करने के लिए आमलकी को गाय के घी के साथ पकाया जाता है। यह भेषज विशेषतया अल्प दृष्टि (दूर देखने में कठिनाई myopia) की बढ़ोत्तरी को रोकती है। आमलकी चूर्ण को रात को पानी में भिगोकर प्रातः आंखों को इस पानी से धोने व छींटे लगाने से लाभ होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा पद्वति में आमलकी का प्रयोग

पाश्चात्य मतानुसार आमलकी, आमाशय व आंतो के मार्ग में स्थित अशुद्ध कफ का निर्हरण करती है और अमाशय के लिए शक्ति प्रदायक है। यह द्रव्य मस्तिष्क, हृदय, स्नायु मण्डल व यकृत को पुष्ट व दुढ़ करता है। हृदय कम्प को दूर करता है, भूख को बढ़ाता है, शरीर में बढ़े हुए तापमान व दाह को कम करता है तथा तृष्णा को नष्ट करता है। आमलकी से कई प्रकार के अवलेह (जैसे) बनाये जाते है। जिसमें इस फल के साथ साथ दालचीनी इलायची rylaloe व केसर आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

हरितकी

वानस्पतिक नाम :– Terminalia Chebula

इसे हर्रा, हरण, हरितकी कहा जाता है। यह आसानी से सभी जगह प्राप्त हो जाता है। छाल भूरे रंग का एवं लकडी मजबुत होती है, पत्ते हरे चमकदार होते है, फूल बारीक मंजरी में आते है, फूल का रंग क्रीम या हल्का पीला होता है, फल कुछ गोलादार जो सुखने पर सिकुड जाता है। एवं पॉच रेखाएँ दिखाई देती है

रस – इस में लवण रस को छोड़कर पांचो रस होतें हैं

गुण और प्रयोग – 1. हर्रा उत्तम विरेचक (दस्त कराने) वाला होता है।

2. सभी इन्द्रियॉ को सात्म्य होता है।

3. त्रिदोष शामक, अर्जीण, मधुमेह, अतिसार, नेत्र रोगों को दूर करता है। हरितकी का प्रयोग अलग अलग ऋतुओं में अलग अलग अनुपान (अन्य पदार्थ) के साथ प्रयोग करने पर सम्पुर्ण रोगों को दुर करता है ऋतुजन्य रोगों से बचाता है।एवं अन्य रसायन होता है।

1. ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ ।
2. वर्षा ऋतु में सेन्धा नमक के साथ ।
3. शरद ऋतु में मिश्री के साथ ।
4. हेमन्त ऋतु में सोठ के साथ ।
5. शिशिर ऋतु में पिप्पली चूर्ण के साथ ।
6. बसन्त ऋतु में मधु के साथ ।

भोजन से पूर्व प्रतिदिन नमक के साथ एक टुकड़ा खाने से कब्जीयत दूर होती हैं। इससे अगस्त हरितकी नमक एक प्रसिद्ध रसायन बनाई जाती है।

अगस्त हरितकी निर्माण विधि–

एक हजार पके एवं सुखे हर्रा के फल कपड़े में पोटली बना कर अन्य 20 औषधियों के साथ उबालते है। उबल जाने पर पोटली के हर्रा से गुठली एवं रेशे को गुदा से अलग किया जाता है। बचे हुये औषधि के क्वाथ एवं गुदा को घी के साथ पका कर अवलेह बना लेते है।

पाश्चात्य चिकित्सा में हरड़ को विरेचक औषधि मानते है। एवं शरीर के सभी अंगों को बल देने के कारण उच्च श्रेणी के रसायन माना जाता है।

विभीतक (बहेड़ा **Terminalia felerica**)

यह वृक्ष 1000 मी की उॅचाई तक शुष्क स्थानों में पाया जाता है। यह बहुत फल देने वाला वृक्ष है, जो भारत के जंगलों में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यह एक विशाल वृक्ष है।

वनस्पति शास्त्र में नाम Terminalia beerica

रस – कषाय

वीर्य – उष्ण

विपाक – मधुर

कर्म – कफ–पित्त–वात शामक उपचय कारक

औषधीय गुण – कास में श्वसन नलिकाओं से कफ का निःसरण करता है। श्वासरोगो में इसके बीजों की मज्जा का प्रयोग किया जाता है। यह श्वास नलिकाओं के शोथ को कम करके कफ का निर्हरण करती है, व छर्दी को रोकती है। विशेषकर गर्भावस्था में होने वाली छर्दि में उपयोगी है। यह एक शोथहर द्रव्य है जो शरीर में किसी भी स्थान पर होन वाले शोथ को दूर करता है।

एलर्जी रोधक औषधि के रूप में भी यह एक उपयोगी द्रव्य है अतः हल्दी के साथ मिलाकर प्रयोग करने से दमा व चर्म विकारो में लाभ मिलता है। कोष्ठबद्धता को दूर करता है व तीव्र उदरशूल में लाभ करता है। यह वेदना स्थापक तथा चक्षुष्य है, व बालों के लिए अच्छी औषधि द्रव्य है। जो वजन को भी कम करता है। यह दोष निर्हरण करने वाली एक उत्तम औषधि है।

त्रिफला

त्रिफला (तीन फल) आमलकी, विभीतक व हरीतकी इन तीन फलों का योग है। त्रिफला का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है, तथा चूर्ण अवलेह क्वाथ शीत–कषाय आदि ।

यह शारीरिक तन्तुओं को पोषण प्रदान करने वाला व रसायन के रूप में कार्य करने वाला योग हैं। यह पाचक रसों को सकिय बनाता हैं जिससे आम दोष का निर्माण ही नही हो पाता। एवं उत्तम रसायन के अतिरिक्त त्रिफला का प्रयोग श्वास, कास व प्रमेह (कच्छ–साध्य) मूत्र विकार व मधुमेह जैसे रोगों में विशेष रूप से किया जाता है।

शुण्ठी

अदरक लम्बे समय तक रहने वाला तथा लता जैसे बढ़ने वाला एक पौधा है। इसमें एक मोटा गांठो से युक्त कन्द होता है,

जो भूमि के अंदर पाया जाता है। इस कन्द में से प्रति वर्ष 60–120 सेन्टीमीटर लम्बा एक सीधा तना निकलता है। इसके पत्ते 1–2 सेन्टीमीटर चौड़े व 15–30 सेन्टीमीटर लम्बे व अग्रभाग से नुकीले होते हैं। इसके फूल बैगनी रंग के निशानों से युक्त हरे रंग के और अग्रभाग से नुकीले–नुकीले होते है।

यह क्षुप मूल रूप से दक्षिण पूर्व एशिया का है, परन्तु भूमध्य रेखा के आप–पास के अनेक देशो तक पाया जाता है। यह 1500 मीटर की उॅचाई तक पैदा होता है। अदरक की फसल के लिए इसके कंद की गॉठ को उपजाउ भूमि में पानी को शुष्क करके रोपा जाता है।

अदरक में पोटेशियम आक्सेलेट व 3 प्रतिशत तैल पाया जाता है। इस तेल में Comphenre phelandrene, Zingiderine, gingerol निर्यास (resin) व मण्ड (Stanch) आदि तत्व पाये जाते है।

English name - Ginger

रस – कटु

वीर्य – उष्ण

विपाक – मधुर

कर्म – दीपन– पाचन, आध्मान में वातानुलोमन तथा तीव्र उदर शूलावस्था में शूल प्रशामक, हृदय को बल देने वाला पाचन किया के लिए उत्तेजक तथा कोष्ठबद्धता को दूर करने के लिए चूर्ण विशेष उपयोगी है।

औषधीय गुण – जीर्ण संधिगत वात (atiritis) में अत्यंत लाभकारी है। अरूचि को दूर करता है। एक–एक चम्मच अदरक का स्वरस + मधु भोजन के पूर्व लेने से यह स्वादिष्ट रूचिवर्धक व पाचन का कार्य करता हैं। अरूचि में अदरक का सेवन नमक के साथ भी किया जा सकता है।

दोषकर्म – कटु, मधुर व उष्ण वीर्य होने के कारण यह बात और कफ का शमन करता है।

एक अन्य योग – अदरक के टुकड़ो को निम्बू के स्वरस में डालकर

सैंधव नमक मिला कर धूप में रखें उसमें थोड़ा मधु या चीनी भी मिला दें।

कटु रस होने के कारण यह पित्त को बढ़ाता है। शीत का नाश करता है। उल्टी को दूर करता है, पसीना लाता है, आमाशय व आंतो के स्त्रावों की मात्रा में वृद्धि करता है। शरीर के उर्ध्व भाग की शक्ति को बढ़ाता है। चूंकि यह पित्त को बढ़ता है अतः पित्त की कमी में इसका प्रयोग किया जाता है। नाड़ी की शिथिलता शीत की अतिवृद्धि, बलगम वाली नम खांसी में, अतिसार, प्रतिश्याय एवं आमाशय व प्लीहागत विकारों में लाभकारी है।

पाशचात्य चिकित्सा में अदरक/शुष्ठी का प्रयोग

यह उत्तेजक, दीपक पाचक, लालास्त्रावी, सुगन्धित द्रव्य व छर्दिहर है। एक सामान्य बलवर्धक (टॉनिक) व उत्तेजक औषधि है, अतः अनेक अन्य औषधीय योगो में भी इसका सम्मिश्रण किया जाता है। आध्मान (आफरा) उदरशूल व अम्लपित्त में भी उपयोगी है। यह सारक औषधियों में भी डाला जाता है, जिससे उनके सेवन से होने वाली मरोड़ का शमन होता है।

गुग्गुलु

गुग्गुलु एक छोटा सा 2.75 मी. ऊॅचा झाड़ीदार पौधा है। इसका तना मोटा होता है। इसमें अनगिनत अनियमित शाखाएँ निकली होती है जो गांठों से युक्त होती है। इन शाखाओं से छोटी–छोटी उपशाखाओं के गुच्छे से निकले होते है। जो समकोण में फैले रहते है। इनके किनारे कांटेदार होते है। इस वृक्ष पर पत्तियॉ थोड़ी होती है, जो 1 से 15 सेन्टीमीटर लम्बी होती है, व छोटी उपशाखाओं के किनारे पर लगी होती है। इनका आकार अण्डाकार होता है, इसमें तीन पत्तियॉ निकलती मालूम होती है, जो चिकनी अथवा बिना रोये की होती है। इस वृक्ष की छाल से स्वयमेव अथवा चाकू से खुरच देने पर गोंद निकला रहता है। यह पठारी भूमि व अत्यधिक गर्म इलाकों में पाया जाता है।

इस पौधे में बसन्त ऋतु में गुलाबी लाल रंग के फूल आते है व गर्मी मे फल आते है। इस पौधे को बहुत कम पानी की

आवश्कता होती है। इसके राल का प्रयोग अगरबत्तियों व धूप में सुगन्धित के लिए भी किया जाता है। यह राल इसके तने को काटकर प्राप्त किया जाता है। क्योकि इसी कटे भाग में से यह राल टपकता है।

घटक –

इसमें तेल गोंद व राल सब सम्मिलत है, जिसमें राल 25–35 प्रतिशत, उड़नशील तैल 2.5 से 6.5 प्रतिशत तथा गोद 50 से 60 प्रति होती है।

रस – कटु

वीर्य – उष्ण

विपाक – कटु

कर्म –

यह कफ व आम दोष का शमन करने वाली अत्यन्त प्रभावशाली औषधि है। यह वसा को कम करती है। चूँकि यह तैलीय राल है अतः वायु का भी शमन करती है। एक उत्तम रसायन व औषधि द्रव्य है ।

औषधीय गुण –

यह अस्थिभग्न, व्रण, संधिशूल, मूत्रविकार, शोथ मेदोवृद्धि, उच्च रक्तचाप, वसा लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि व शोथ, गलगण्ड शोथ को दूर करने तथा हार्मोन्स के स्त्रोत पिट्यूटरी ग्रन्थि पर नियन्त्रण के कारण चर्म विकार कीटाणु व कृमि नाशक है। यह पुष्टिकारक होने के साथ साथ लेखन (अधिक चर्बी को कम करता है) इस प्रकार यह द्रव्य शरीर को नियमित अवस्था में रखना है।

यह स्वाद में तिक्त औषधि है। यह केन्द्रिय नाड़ी पर काम करता है। अभिघातज क्षति, शूल, मधुमेह जन्य पीडिका जो एक प्रकार का जहरीला फोड़ा होता है, व्रण, वक्षशूल, उदरपीड़ा, आमवात नष्टार्तव तथा कष्टार्क्तव में लाभप्रद है।

पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयोग

यह औषधि न अधिक गर्म है और न अधिक शीतल है, अर्थात इस दृष्टि से मध्यम प्रकृति की है। यह रोधक व स्तम्भक है। इसके बेर की तरह के छोटे फलों का प्रयोग, हृदय के टानिक के रूप में किया जाता है। इसकी पत्त्यिॉ फोड़ा–फुन्सियों पर बांधने के लिए, शरीर की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए, मुखपाक व श्लैष्मिक कला को सिकाड़ने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इससे बनाया गया मरहम घावों पर लगाया जाता है। कुछ दंतमंजनो में भी इसका प्रयोग किया जाता है। पशु चिकित्सा में घाव आदि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त धूप व अगरबत्ती आदि में सुगन्धित द्रव्य के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

गुड्ची– गिलोय

यह एक बहुवर्षीय लता है। जो आर्द्र व छायादार स्थानों में जंगली रूप से बढ़ती है। इसे बाड़ के रूप में लगाया जाता है। भूमिगत जड़ के कन्द अण्डाकार गोल होते है, व आपस में स्थान स्थान पर संधि मुक्त होते है। इसका काण्ड लता के रूप में उपर चढ़ता जाता है। इसके पत्ते हृदयाकार (पान के पत्ते के आकार के) एकान्तर एक पत्ता एक ओर दूसरी दूसरे ओर (अदन्तुर) होते है। बसन्त व ग्रीष्म ऋतु में इस पर छोटे–छोटे लाल रंग के व गोलाकार फल आते है।

रस	–	तिक्त (Bitten), मधुर
वीर्य	–	उष्ण
विपाक	–	मधुर
कर्म	–	

यह जीर्णज्वर की उत्तम औषधि है। विशेष रूप से यक्ष्माजन्य ज्वर की । इसका सत्व (Srarch) जो सफेद रंग का होता है, स्वाद में कड़वा एवं ज्वर के लिए एक बहुत अच्छी औषधि है। इस सत्व को तैयार करने के लिए सर्वप्रथम इसके काण्ड को छोटे–छोटे टुकडों में काटकर धोया जाता है। फिर इसका काढ़ा बनाया जाता है। इस काढ़े को छानकर गाढ़ा किया जाता है।

यह सत्व यकृत और प्लीहा के लिए बहुत अच्छी औषधि है। माता के दूध को जिसे बच्चा ग्रहण कर पा रहा हो, विकार रहित करता है। यह मूत्रक व मृदु रेचक (mild laxative) है।

औषधीय प्रयोग –

मलेरिया, दाह या जलन तथा अर्श की चिकित्सा में इसका प्रयोग किया जाता है।

इसमें अतिशीतल गुण है, व स्वाद में कड़वी है यह ज्वर का शमन करती है व विषाक्तता को नष्ट करती है। शोथ (Inflammation)को कम करती है, व पीड़ा को दूर करती ।

अश्वगन्धा–

अश्वगन्धा जंगली रूप से बढ़ने वाला पौधा है। इसकी खेती भी की जाती है। जंगली जाति की अश्वगन्धा की जड़ से घोड़े के मूत्र जैसी गन्ध आती है।

रस – तिक्त, कषाय, मधुर

वीर्य– उष्ण

विपाक– मधुर

कर्म–

यह उपचय कारक शक्तिवर्धक व पुष्टिकर है। अश्वगन्धा की जंगली जाति वाजीकर और शुक्रवर्धक है। सामान्यतः वाजीकर प्रभाव तीन प्रकार से देखा जाता है।

1. उत्तेजना के रूप में
2. शुक्र की मात्रा में वृद्धि करके परन्तु शुकाणु रहित पुरूष के लिए प्रभावहीन है।
3. शुक्र धारण (retention) की शक्ति में वृद्धि करके, जैसे जामफल

विभिन्न परीक्षणों के माध्यम से देखा गया है कि अश्वगन्धा के प्रयोग के बाद शुकाणुओं की संख्या 10 मिलियन से 100 मिलियन तक हो जाती है।

यह वायु व कफ का शमन करती है। यह मूत्रल व शामक औषधि है।

औषधीय प्रयोग–

इसका प्रयोग शोध (oedema) श्वित्र leucoderma कास व चर्म विकारों की चिकित्सार्थ किया जाता है।

तुलसी –

आयुर्वेदिक औषधियों में प्रचुरता से प्रयुक्त होने वाली तुलसी (Sacredbasil) Sweet basil की ही एक जाति है। भारतीय संस्कृति में तुलसी का पौधा पवित्र माना जाता है। आस्ट्रेलिया में Qveensland

व उत्तरी भाग में तुलसी पायी जाती है।

पाश्चात्य वनस्पति शास्त्र में इसका वर्णन बहुत कम मिलता है। यह एक अच्छा खुशबूदार पौधा है, जिसकी पत्तियां आरी की तरह दांतेदार, भुरभरी व हल्का नीलापन लिए होती है।

इसका तना लगभग 40 सेन्टीमीटर उंचा होता है। यह थोड़ा खुरदारा तथा अधिकतर लालिमा लिए भूरे रंग का होता है। इसकी पत्तियॉ लगभग 25 सेन्टीमीटर चौड़ी, चिकनी, मुलायम गोलाई लिए कालापन लिए रक्ताभ या नीलापन लिए हुए होती है। इसमें सफेद फूल आते है। भारत में यह पौधा प्रायः सभी घरों के उद्यानों में पाया जाता है।

यह पौधा एक वर्ष तक रहता है। यदि बीज न आने दिये जाये तो सदा हरा भरा रहता है।

वानस्पतिक नाम :– Sacred or holy basil, Black Basil

रस – तिक्त कटु व कषाय

वीर्य – उष्ण

विपाक – मधुर

कर्म –

तुलसी में Organic ionized रूप में ताम्र पाया जाता है। इसके निरन्तर प्रयोग से रोग विरोधी क्षमता बढती है। तुलसी का मस्तिष्क पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। नाड़ी संस्थान तंत्रिका तंत्र व मन को शांत रखती है। यह वनस्पति प्रायः जड़ी बूटियों से निर्मित चाय में प्रयुक्त होती है। यह दूध व चीनी के साथ भी प्रयोग में लाई जाती है।

तुलसी शरीर को हल्का करती है, व मेदस (चर्बी) को एकत्रित नही होने देती विशेष रूप से स्त्रियों में रजोनिवृत्ति होने के बाद । यह कफ को कम करती है, तीनो ही दोषों का शमन करती है।

चाय में प्रयोगार्थ एक कप में इसका एक–एक चम्मच चूर्ण दिन में दो बार प्रयोग करें। यह मात्रा वयस्क लोगों के लिए है। यदि इस चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ किया जाए तो इसके औषधीय

गुण बढ़ जाते है। मधु की मात्रा चौथाई चम्मच होनी चाहिए ।

यह जठरान्त्र प्रणाली व फेफड़ा के लिए आरामदायक है। यकृत विकारों में भी इसका प्रयोग किया जाता है। वयस्कों के लिए यह तीव्र उत्तेजक नहीं है।

तुलसी दूसरे दर्जे की उष्ण औषधि है। यह कफ निःसारक हृदय को बल देने वाली अवसाद में लाभकारी पौष्टिक बल्य स्तन्य वर्धक व वाजीकर औषधि है।

हरिद्रा (Curcuma longa)

(हल्दी) Turmelic

इसकी छोटी झाड़ी (क्षुप) होती है जो एक वर्षीय होती है यह एक अण्डाकार कन्द से उत्पन्न होता है। कन्द में बहुत सी गोल लम्बी या बेलनाकार गोंठ होती है। इस कन्द का औषधी के लिए एवं भोजन पकाने में प्रयोग करते है। हल्दी के पत्ते लिलि फूल के पत्त जैसे बड़े–बड़े तथा भाले की धार की तरह आगे से नुकीले होते है। ये पत्ते गुच्छो के रूप में जुड़े होते है। पुष्प पीले रंग की गुच्छों में आती है। इसकी खेती आर्द्र स्थान एवं चिकनी मिट्टी में होती है।

रासायनिक घटक– Curcurnin

नामक उड़नशील तैल स्टार्च, ं पाये जाते है

रस – तिक्त व कटु

वीर्य – उष्ण

विपाक – कटु

कर्म–

(1) कफ – पित्त शामक होता है।

(2) वायु वर्धक होता है दूध में मिलाकर प्रयोग करने से त्रिदोषों का शमन करती है।

(3) वर्ण्य है त्वचा के रंग को साफ करती है।

(4) मेदस् (fat) को कम करती है।

(5) जीवाणुनाशक होता है।

(6) विष को नष्ट करता है।

(7) वेदनाशामक, चोट, मोच, शरीर के दर्द को ठीक करता है। कृमि का नाश करता है।

(8) रक्त में वसा (कोलेस्ट्राल) को कम करता है।

(9) आम की गन्ध वाली हल्दी को आमा हल्दी कहते है यह भी वेदनाशामक होता है।

प्रयोग– 1.

(1) दूषित रक्त विकारों में उच्च रक्त चाप, नेत्र रोग, सुजन, प्रतिश्याय (सर्दी) को ठीक करता है।

(2) हल्दी पावडर का प्रयोग युवान–पिंडिका (कील–मुहॉसा) लगाकर धोकर रात में रहने दे सुबह बेसन से मुंह धो लेना से मुहासे और मुहांसे के दाग ठीक हो जाते है। 1gm दुर्ण को दूध के साथ पीने से खुजली खाज दूर होता है।

(3) Liver से सम्बन्धी विकारो में प्रयोग करते है।

(4) रक्त चाप – रक्त शर्करा, अन्य रक्त से सम्बन्धी रोगों में हरिद्रा चुर्ण 1gm या हरिद्रा खण्ड का प्रयोग करते है।

(5) यह पित्त के स्त्राव को बढ़ाती है एवं यकृत के अवरोधों को दूर करती है।

(6) जीर्ण (पुराने) सर्दी – खांसी में हरिद्रा चूर्ण का दूध के साथ प्रयोग करते है।

(7) जीवाणुनाशक होने के कारण पुराने घाव में तैल के साथ लगाया जाता है।

(8) सन्धि में सुजन, दर्द, भग्न होने पर तैल में डालकर मालिस करें।

(9) पेट की कृमि हरिद्रा चूर्ण 1 gm तेल के साथ दें।

कालीमिर्च (Piper-nigrum)

यह एक वर्षीय लता होती है इसकी पत्तीयॉ चिकनी मजबुत रेशे वाली, पान के पत्ते की आकृति वाली 18cm लम्बी 12cm चौड़ी होती है। जो 2cm डण्ठल पर लगी होती है। पत्ते के पृष्ठ भाग पर पांच सिराये होती है सफेद फूल पतले सीक में गुंथे होते है। फल गोलाकार छोटे–छोटे शुरू में पीले और बाद में लाल हो जाते हैं जो पककर सुखने पर काले दिखते है। यह मुख्य रूप से दक्षिण भारत में पाई जाती है परन्तु अधिक नमी वाले भूमी में उगाई जा सकती

है फल के बाहरी छिलके को निकाल देते है इसे श्वेत मिर्च कहते हैं।

रासायनिक संगठन– Piperine, Piperidine, chavicine नामक एल्केलाइड। Piperettine, hyelro cyanic-acid पाया जाता है।

रस – कटु – वीर्य – उष्ण विपाक – कटु

कर्म– (1) कफ – वात शामक, मेद (fat) को कम करती है। (2) पाचकाग्नि की वृद्धि, (3) यकृत, पित्त को उन्नेजित करना। स्त्रोतों को शुद्ध करने वाला।

प्रयोग–

(1) शरीर में अधिक fat जमा होने पर प्रतिदिन काली मिर्च की सेवन से fat कम होता है।

(2) हृदय के घमनी में रक्त जमने से होने वाली रूकावट काली मिर्च से दूर होती है।

(2) इसकी विशिष्ट गुण होती है वायु का शमन करना। अतः वातवृद्धि में इसका प्रयोग करते है।

(3) कफ निःसारक होती है, नाक के द्वारा कफ का स्त्राव कराती है।

(4) टॉसिल्स, कोष्टबद्धता, संक्रामक रोगों में इसका प्रयोग करते है।

(5) पुरानी सर्दी, पेट की कृमि, का नाश करती है।

(6) भुख को बढ़ती है।

विशेष– पित्त प्रकोप, आमाशय व्रण, ग्रहणी व्रण में इसका प्रयोग सोच समझकर करना चाहिए।

पिप्पली (**Piper-longum**)

पिप्पली प्रमुख रूप से भारत, जावा–फिलिपिस में उत्पन्न होता है इसका फल धुसर (राख) रंग की होती है। सुखने से काली दिखती है, इसमें हल्की गन्ध होती है।

रस– तीक्ष्ण कटू, (तेज, चटपट), वीर्य – उष्ण, विपाक – मधुर।

कर्म– अग्नि को बढ़ाने वाला, उत्तेजना उत्पन्न करना, प्लीहा रोग शामक, चर्म रोगनाशक, कफ और वातशामक होता है।

औषधीय प्रयोग –

(1) त्रिकटु चूर्ण बनाया जाता है।

(2) प्लीहारोग में प्रयोग करते है।

(3) चर्म विकार में प्रयोग होता है।

(4) श्वास, मधुमेह, अर्श, क्षय–रोग में प्रयोग करते है।

त्रिकटु

सोंठ, पिप्पली और काली मिर्च के मिश्रण को त्रिकटु कहा जाता है। यह अग्नि (पाचक अग्नि) को बढ़ाता है। काली मिर्च का विपाक कटु होने के बाद भी पिप्पली एवं सोंठ का विपाक मधुर होने के कारण त्रिकटु मधुर विपाक होता है। इस प्रयोग, अग्निमांद्य, शीत को खत्म करने के लिए, औषधि निर्माण में प्रयोग करते है।

निम्ब (नीम)

नाम – नीम–निम आदि

परिचय –

देश के सभी प्रांतो में पाए जाते है। यह 40–50 फीट ऊंचा वृक्ष होता है। शाखा प्रशाखाओं से युक्त सघन छायादार होते है पत्ते टहनियां के अंत में गुच्छो के रूप लम्बे वृत पर असमान लगे होते हैं आकार में टेढ़े मालाकार दन्तुर होते है। पुष्प – सफेद रंग सुंगधित होते है। फल 1/2, लम्बे, गोल, कच्चे में हरा, पकने पर पीला मीठा अल्प रस वाला होता है। अंदर बीज होता है, अंदर में दो दल होते हैं नीम के वृक्ष से गोंद भी निकलता है।

प्रयोज्यांग– मूल, छाल, गोंद, पत्र, पुष्प, बीज, तेल

गुणधर्म – त्वकहन, कुष्ठध्न, पित्तशामक

रासायनिक संगठन – काण्ड त्वक में मार्गोसिन, निम्बीडिन, निम्बांनिन, निम्बोस्टेटोल आदि पाया जाता है। बीजो में 31 प्रतिशत तेल, गंधक उपरोक्त सभी, तेल पाए जाते है।

गुण– काण्ड छाल, पत्ती का रस तिक्त, शीत वीर्य मधुर विपाक होता है।

कर्म– रसायनग्राही , त्वगदोषहर, कृमिघ्न, व्रणशोधक, वृणरोपक, प्रतिविष होता है ।

प्रयोग –

1. मलेरिया में निम्ब छाल चूर्ण का उपयोग, सोंठ, धनिया, लौंग दालचीनी या मरीच चिरायता डालकर देते है।

2. श्वेत प्रदर में बबुल की छाल, नीम की छाल का क्वाथ देते है।

3. पत्ते का प्रयोग व्रण कुष्ठ में किया जाता है। चर्म विकारो में स्नान कराया जाता है।

4. कुष्ठ में पत्र छाल का चूर्ण एवं क्वाथ का उपयोग बाह्य प्रयोग एवं खाने के लिए किया जाता है।

5. कामला में स्वरस मधु के साथ दिया जाता है

6. प्रसुता को स्वरस देने में लाभ होता है।

7. नीम तेल मात्रा 10–15 बुंद, कुष्ठ, फिरंग, त्वचा के रोग एवं विषमज्वर में दिया जाता है।

धनिया

नाम– धनिया, धान्यक, धानक, धान्य धाना

परिचय – देश के प्रायः सभी प्रांतों में इसकी उपज होती है। 1–2 फुट उंचा पौधा होता है, शाखाएं, चिकनी होती है, पत्ते विषमवर्ती जड़ के पास गोल 4–5 भागो में बटे, किनारे कटे कंगुरदार होते है। फूल सफेद छत्र में, फल छोटे–2 अण्डाकार, गुच्छों में छत्राकार, सूखने पर दो टूकड़ों में बंटे होते है।

रासायनिक संगठन – फलो में उड़नशील तेल होता है इसके अतिरिक्त टैनिन, मेलिक एसिड आदि।

गुणकर्म– मूत्रल–दीपन, पाचन, वातानुलोमक, दाहशामक, पिपासानाशक।

प्रयोग –

1. मसाले के रूप में नियमित प्रयोग
2. ज्वर दाह में शीत कषाय मधु के साथ।
3. तेल का उपयोग वातनाड़ी शुल, जोड़ो के दर्द में करते है बच्चों के आध्मानजन्य शुल में 1–4 बुंद मिश्री में देते है।
4. कच्ची धनिया का लेप सिरदर्द एवं भिलावे के विष में किया जाता है।
5. पुराने, घाव, सुजन, विषैले व्रण फोड़ो पर आटे के साथ पुल्टिस बांधी जाती है।
6. जीर्ण प्रतिश्याय में धनिया का चूर्ण मिश्री के साथ देते है

मेंथी

सब जगह पाया जाता है इसकी खेती की जाती है। इसका क्षुप 6 इंच से 10 इंच उंचा होता है। पत्ते संयुक्त प्रत्येक सींक पर 3–3 पत्रक होते है, फुल नन्हे पीत वर्ण होते है। डालियां 2–3 इंच

लंबे कुछ टेढ़ी सी नोंकदार होती है प्रत्येक फली में 10–12 दाने पीले रंग के होते है बीज का प्रयोग चिकित्सार्थ होता है।

गुणकर्म– वातानुलोमक, अग्निदीपक, आध्यमानहर, बल्य, वृष्य, गर्भाशय संकोचक, दुग्ध वृद्धिकर, शोथहर होते है।

रासायनिक संगठन– बीजों में ट्रिगोनेलियन, कोलिन, तेल–प्रोटीन अन्य पोषक तत्व होते है।

प्रयोग– 1. बीजों के लड्डु प्रसुता को मलशुद्धि एवं आर्तव शुद्धी के लिए दिया जाता है अजीर्ण, अग्निमांद्य, आमवात, कामशक्ति की कमजोरी में उपयोगी है।

2. रक्तातिसार एवं मसुरिका में बीजचूर्ण का फांट बनाकर दिया जाता है।
3. शरीर की पीड़ा में बीजों को खिलाते है।
4. दुग्धवृद्धि के लिए लप्सी बनाकर प्रसुता को दी जाती है।
5. मधुमेह में अंकुरित करके खिलाया जाता है।
6. चर्म को मूलायम बनाने एवं स्वस्थ रखने के लिए बीजो का उपयोग किया जाता है ।
7. सूजन में लेप करने के लिए बीज एवं पत्ते का उपयोग किया जाता है।

सौफ

परिचय– क्षुप लम्बा, पत्ते कई भागों में विभक्त, सोये पत्ते के समान, फुल छत्राकार हल्का पीले रंग के, फल 6–7 इंच लंबे, 4 मी. मी. चौड़े आयताकार, अखण्डित डंठल युक्त होते है। बीज– नये हरे रंग के पुराने पीले रंग के होते है। तेल निकला बीज गहरा हरा होता है।

रासायनिक संगठन – उड़नशील तेल जिनमें एनीथाल, फेनकान और अन्य पदार्थ रहता है।

गुणकर्म– सुगंधित, दीपन, पाचन, मूत्र विरजनीय।

प्रयोग–

1. पेशाब जलन में पीसकर पीते है।

2. सुखी खांसी, मुख विकारों में चुसते है।

3. विरेचन के लिए मूल चूर्ण प्रयोग करते है।

4. गर्मी से होने वाले चक्कर, सिरदर्द में पीस कर लेप किया जाता है।

पुनर्नवा

रक्त एवं श्वेत भेद से दो प्रकार के पुनर्नवा होते है। श्वेत पूनर्नवा को पथरी भी कहा जाता है। यह सभी जगह पाया जाता है। यह फैलने वाला वर्षायु क्षुप होता है। काण्ड, पतले, गोल पर्व सन्धि मोटे। पत्र चौड़े प्रत्येक पर्व संधि पर छोटे बड़े जोड़े में। पुष्प छोटे गुलाबी श्वेत लगभग अवृन्त एवं लंबे दंड या 4–6 की संख्या में होते है। फल 6 मी.मी. लंबा धारीदार चिपचिपा एक बीज युक्त जड़ बड़ी मूलाधार।

प्रयोज्यांग–पत्र–मूल

रासायनिक संगठन – पत्रों में पूनर्नवीन नामक क्रियाशील क्षाराभ होता है। मूल में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा .40 प्रतिशत होता है। पोटेशियम नाइट्रेट, सल्फर, क्लोराइड एवं स्थिर तेल होता है।

गुणधर्म– विरेचनीय, शोथघ्न, कफघ्न

प्रयोग– 1. मूत्रल होने के कारण सभी प्रकार के शोथ में उपयोग किया जाता है नये यकृत विकार तथा जीर्ण उदावरण शोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में विशेष लाभ करता है।

2. हृदय रोग में कास, श्वास, जलोदर में कुटकी, सोंठ चिरायता सोंठ के साथ प्रयोग करते है।

3. कामला में पित्त निर्रहण के लिए इसका उपयोग किया जाता है

4. Bronchitis कफ युक्त श्वांस में सोठ + वच के साथ इसको देने से कफ निकलता है।

5. वृश्चिकदंश, सर्पदंश, मुषिका विष में बाह्य एवं आंतरीक प्रयोग लाभदायक माना जाता है।

धींकुऑर

कुमारी, धृतकुमारी, गृहकन्या

यह प्रायः सभी जगह प्राप्त होता है छोटा बहुवर्षायु क्षुप होता है। पत्ते मांसल, हरे भालाकार, 1–2 फीट लंबे दन्तुर होते है। भीतर पीताभ गुदा होता है। पत्तों के बीच से लंबा पुष्प दंड निकलता है रक्ताभ पित पुष्प आते है।

पत्तो के काटने से पीले रंग का पिच्छील रस निकलता है। इसे संग्रह करके गाढ़ा कर लेते है ठंडा होने पर जम जाता है जिसे एलुआ कहते है।

रासायनिक संगठन – एलुआ में एलोइन नामक तत्व होता है, जो कई ग्लुकोसाइट का मिश्रण होता है।

गुणकर्म – तिक्त, मधुर, शीत, वीर्य, मधुर–विपाक

कर्म – भेदन, दीपन, पाचन, बल्य, शोथहर व्रणरोप शोणीत स्थापन।

प्रयोग – 1. विबंध में, यकृत प्लीहा रोग में ।

2. अनार्तव, पाण्डु में प्रयोग करते है।

3. श्वसन शोथ नेत्राअभिस्यंद चर्मविकार में घी के साथ लगाते है।

मात्रा – एलुआ 1–2 रत्ती

बड़ी इलायची

इलायचा– हिमालय की तराई, असम बंगाल में खेती होती है इसे लाल इलायची भी कहते है। आमा हल्दी के समान क्षुप होता है। जड़ के नीचे कन्द होता है। पत्ते 1–2 फीट लंबे 3–4'' चौड़े होते है। फूल चकों में नलिकाकार सफेद रंग के होते है। फल लंबवत गोल करीब 1'' भूरे रंग के होते है। बीज शर्करायुक्त गाढ़े गुदे के कारण आपस में चिपके होते है।

गुणधर्म– वातानुलोमक उत्तेजक

प्रयोग – 1. दांत मसूड़ो के रोगों में इससे क्वाथ से कुल्ला कराया जाता है।

2. पाचक रस के गांठे होने पर 5 रत्ती की मात्रा में देने पर स्त्राव बढ़ता है।

3. अश्मरी में खरबुजें के बीज के साथ दिया जाता है।

4. Nuritis में 250मिग्रा. चुर्ण देते है।

छोटी इलायची

पश्चिम एवं दक्षिण भारत में खेती होती है। अदरक के क्षुप के समान बहुवर्षायु होता है। जड़ के नीचे मोटा राइजोम होता है। राइजोम से सीधा हरा 9–10 काण्ड निकले रहते है, पुष्प व्यूहो में पुष्प दंड 1–2 फीट लंबा सहित होता है। फल हल्के पीले हरिताभ पीत रंग होता है। 1–2'' लंबा अंडाकार कुछ तिकोने होते है। इसके अंदर जरायु लगे बीज दो कतारों में होते है।

अर्जुन

कौहा, कहुआ, कोह

यह सभी जगह पाया जाता हैं। इसका बड़ा वृक्ष होता है पत्ते बिही के पत्ते के समान होता है। फूल–पीले रंग के छोटे–छोटे होते है। फल कमरख के समान पांच पहलु वाले होते है। 1–1/2 '' लंबे अंडाकार होते है।

प्रयोज्यांग– तना, छाल।

रासायनिक संगठन – छाल में कैल्शियम के लवण, टैनिन रवेदार पदार्थ अर्जुनाइन, शर्करा अल्पमात्रा में मैगनिशियम होता है।

गुण– कषाय रस, शीतवीर्य, मधुर विपाक होता है।

कर्म, –हृद्य, कासहर, रक्तशोधक रक्तपित्तहर प्रमेहघ्न।

1. हर प्रकार के हृदय रोग में छाल को दुध में पकाकर दिया जाता है।

2. रक्तपित्त में छाल चूर्ण दिया जाता है।

3. व्रण, अस्थिभग्न शोथ में बाह्‌य एवं आभ्यांतर प्रयोग किया जाता है।

शंखपुष्पी

(विष्णुकांता) नीले पुष्प

यह सभी जगह पाया जाता है, प्रसरी क्षुप होता है मूल के पास से अनेक शाखाएं निकलकर फैली होती है, शाखाएं 2–8'' लंबी होती हैं। पहले रेखाकार एवं बाद में अण्डाकार होते है। पृष्ठ में मूलायम रोम होते है, पुष्प नील गुलाबी रंग के होते है एवं पुष्पदंडो के अग्र में लगते है। फल में 3–4 फांक होती है।

गुणधर्म– मेध्य, बल्य होता है उसका प्रयोग मानस रोगों में किया जाता है।

प्रयोग–

1. उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा, आक्षेप आदि रोगों में दिया जाता है।

2. कोष्ठबद्धता, गुल्म, आनाह में जड़ का चूर्ण दिया जाता है।

3 पत्ते का धूम्रपान श्वास एवं जीर्ण कास रोग में किया जाता है।

4. रक्तवमन एवं गर्भाशय दौबर्ल्यता में स्वरस दिया जाता है।

सतावर

सतावर, सतावरी, सतमूली

यह सभी प्रांतों में पाया जाता है। कांटेदार बहुवर्षायु लता की तरह शाखा होते है। काण्ड में कुछ आड़े–कांटे होते है। पत्र सूत्राकार, पतले फूल सफेद गुच्छो मे, फल छोटे–छोटे लाल रंग 1–2 बीजयुक्त होते हैं। मूल स्तंभ से श्वेत लंबे गुच्छों में कंद निकलता है।

प्रयोज्यांग– मूल।

रासायनिक संगठन– कन्दों में प्रोटिन, शर्करा होती है।

गुण– मधुर रस, शीतवीर्य, मधुर, विपाक होता है।

कर्म– स्तन्यजनन, मूत्रजनन, शुक्रजनन, बल्य, वयःस्थापन चक्षुष्य त्रिदोषघ्न

प्रयोग– दुग्ध एवं शर्करा के साथ शरबत बनाकर देते है।

असगन्ध

उष्ण एवं प्रांतो में पाया जाता है। इसका क्षुप भांटा के क्षुप के समान 3–4 फीट उंची, शाखाएं टेढ़ी–मेड़ी रोगयुक्त, वक्राकार पत्ते अखण्ड कुण्ठीताग्र, सुक्ष्म तारकाकार रोमों से युक्त, पुष्प संचुडाकार, गुच्छो में छोटे पीताभ, हरिताभ होते हैं। फल 1/4'' बड़े, मटर के समान पकने पर लाल, फलों में दुध जम जाता है।

बीजः– वनभटा के बीज के समान छोटे–छोट चिपटे होते हैं।

प्रयोज्यांग – मूल (अश्व गंध के समान)

नगोरी असगंध बल्य के लिए होता हैं

रायसनिक संगठन – उड़नशील तेल, विशेनियाल, हेनटि या कान्टेन, फाइटोस्टेयल।

गुणकर्म– बल्य रसायन, वृहंणीय।

उपयोग–चूर्ण को घृत में गर्म कर घृत एवं शर्करा मिलाकर बच्चों के सूखारोग, श्वेतप्रदर, कटिशुल में दिया जाता है।

काली मुसली

बंगाल, बिहार, दक्षिण देश के प्रांतो में बहुतायत से पाया जाता है। पत्ते, खजूर के समान, मूल स्तंभ सीधा मोटा होता है। पुष्पदंड बीच से निकला, पीले रंग के लंबे अण्डाकार होते हैं। बीज काले चमकीले होते है। मूल में कंद होती है। बाहर से भूरा अंदर से सफेद होता है। दो वर्ष पूराना क्षुप का कंद प्रयोग करता है।

रासायनिक संगठन – तैलीय द्रव्य राल, राख(भस्म) में कैलशियम आक्सलेट होता है।

गुणकर्म :– स्नेहन, बल्य, मूत्रजनन होती हैं

प्रयोग 1. मूत्रकृच्छ, सोजाक, अत्यार्तव में प्रयोग किया जाता हैं।

सफेद मूसली

सफेद मूसली – बरसात के दिनों में देश के सभी प्रांतों में पाया जाता है। 15X 3'' खर्जूर के समान पुष्प श्वेत, वृंत में जड़े गुच्छो के रूप में रहती है।

गुण– मधुर रस, शीतवीर्य, मधुर विपाक।

कर्म – बल्य।

प्रयोग–नपुंसकता, अतिसार, शुक्रमेह, प्रदर में दुध के साथ चूर्ण को चीनी मिलाकर दिया जाता है।

<u>नीबू</u>

परिचय :–

नीबू, लिम्बू, कागजी नीबू कहते है भारत के सभी प्रान्तों में उत्पन्न होता है 5 से 10 फीट उंचे वृक्ष होता है, पत्ते– डण्ठल में 1–1, 1/2 इंच लम्बे हरे चिकने होते है।

पुष्प – छोटे 3–10 की संख्या में सफेद होते है।

फल– अण्डाकार, गोल चिकना, झुर्रीदार, छिलका पतला, मज्जा से चिपका हरा, पकने पर पीला होता है, बीज छोटे–छोटे विभिन्न संख्या में होते है।

रासायनिक संगठन – साइट्रिक एसिड, विटामीन–सी, छिलके में उड़नशील तैल रहता है।

गुणः– अम्ल रस, अम्ल विपाक, शीतवीर्य ।

<u>प्रयोग –</u>

1. नीबु रस, कालानमक के साथ, अपचन, मन्दाग्नि, ज्वर, प्यास, में देते है।
2. रक्त पित्त में शरबत देते है।
3. अतिसार, वमन, पित्त विकारों में रस देते है।
4. पत्तों का प्रयोग नारियल तैल में सिद्ध कर बालों में लगाने से रूसी बालों का झड़ना बन्द होकर बाल चमकीले होते है।

<u>अनार</u>

दाड़िम, अनार, दरमी कहा जाता है। सभी प्रान्तों में पाया जाता है। वृक्ष 5–10 फीट उंची झाड़ीदार होता हैं। पत्ते विपरीत समुह में सूक्ष्म धब्बे युक्त हरे रंग के सुन्दर होते हैं। फल मोटा छिलका वाला लाल गुलाबी रंग का गोल होता हैं, अन्दर असंख्य नोकदार बीज होते है जो पतले छिलके में व्यवस्थित होते है।

फल, जड़–तने की छाल, फल की छाल औषधि रूप में प्रयोग करते हैं

रासायनिक संगठ्न –

फल छिलके में ग्लोटेनिक एसिड़, मूल एवं तना छाल में अल्केलाईड, होता है।

गुण– मधुर, कषाय रस, शीतवीर्य होता है।

प्रयोग –

1. छाल का प्रयोग कृमि मारने के लिए देते है।
2. सभी प्रकार के हृदय रोगों में प्रयोग करते है।
3. अतिसार, आंव में फल छिलका चुर्ण एवं दाने का सेवन कराते है।
4. हर प्रकार के रोग, हर उम्र में सात्म्य होता है ।

मात्रा – मूल,तना, छाल 1–2 ग्राम।

करेला

कारवेल्लक, कठिल्ल, करेली, करेला कहते है।

यह सभी प्रान्तों में उत्पन्न होता है। लता रोमवाली आश्राय में लिपटकर चढ़ती है। पत्ते– सुन्दर, कटे किनारे, घेरे में गोलाकार, 5–6 भागों में विभक्त होता है।

फूल – चमकीले पीले रंग के सुन्दर होते है।

फल – 1 से 7 इंच लम्बा दोनो छोर–नुकीले त्रिकोण उभार वाले छिलके के अन्दर हल्का हरा गुदा, अन्दर चिपटे बीज होते है। फल हरे रंग का एवं पकने पर पीले एवं बीज लाल आवरण से ढंका होता है। पत्ते एवं फल का प्रयोग सब्जी और औषधि के लिए करते है।

गुणः–

तिक्त रस, मधुर विपक, शीत वीर्य ।

प्रयोग ः–

1. मधुमेह में फलो एवं पत्तों का प्रयोग करते है।
2. पित्त विकारों में, कृमिरोग, मूत्र रूकने पर पत्ते का प्रयोग करते है।

3. लीवर और किडनी रोग में, मलेरिया में पत्तों का रस देते है।

4. आमवात, गठिया, चर्मरोग में फल का प्रयोग करते हैं

5. त्वचा रोग में पत्ते का लेप करते है।

6. गर्भपात के लिए करेला का जड़ का क्वाथ खिलाते है।

रासायनिक संगठन –

गंध युक्त उड़न शील तैल कैरोटीन ग्लुकोसाइट, मेमोरि–डिसाइन, क्षाराभ होता है

मात्रा – रस 2 से 5 मिलि लीटर, बच्चों में 1–2 मिलि.

दूर्वा

इसे सफेद दूर्वा शीत वीर्य कहते है। सभी जगह जमीन में फैली मिलती है, गण्डदूर्वी इसका एक भेद है। लम्बी लता जमीन या आधार पर फैली होती है। पतले मंजरी में अति सूक्ष्म फूल और दाने जैसे फल लगते हैं।

गुण – मधुर रस तिक्त, कषाय रस, मधुर विपाक, शीतवीर्य होता है।

प्रयोग –

1. लोहे को पिघलाने के लिए ।

2. अतिसार में दस्त रोकने के लिए ।

3. जलन, आधिक प्यास, कफ रोग में ।

4. रक्त विकार, चर्म रोग में प्रयोग करते है।

सहिजन

मुनगा, सहिजना, सहजन आदि कहा जाता है भारत के सभी प्रान्तों में पाया जाता है । 20–25 फिट उंचा वृक्ष होता हैं। छाल चिकनी, मोटी, भूरे रंग की लम्बाई में फटी होती है। शाखा एवं तना कमजोर होता है

पत्ते– संयुक्त, त्रिपत्र, डण्ठल में लगे हरे रंग के होते है। अण्डाकार 1/2'' लम्बे होते है।

फूल – कार्तिक माह एवं चैत माह में दो बार फूल लगता हैं जो सफेद गुच्छों में शहद की तरह सुगन्धित होता है।

फलिया – लम्बी, त्रिकोणाकार, अंगुठे इतनी मोटी गोल, 10 से 20 इंच लम्बी, हरी तथा लम्बी छिलके वाली होती है।

बीज – सफेद पंखवाली तिकोण, एक इंच लम्बी होती है।

तना से गोद निकलता है।

मूल, छाल, पत्ती, फल, बीज का प्रयोग औषधि एवं सब्जी के लिए करते है।

रासायनिक संगठन– बीजों में 36 प्रतिशत तैल, मूल में स्पाइचिन, अल्केलाइड प्टेरिगोस्पर्मिन नामक एन्टीबायटिक, दुर्गन्धित तैल होता है।

गुण – मूलछाल–कटूरस–उष्णवीर्य, हराफल–कषाय तिक्त रस, उष्ण वीर्य होता है।

प्रयोज्यांग– मूल तत्व।

प्रयोग

1. वात, कफ,कृमि, शोथ रोग में प्रयोग करते है ।

2. शिर में कफ जमा होने पर, नेत्ररोग, घाव, किडनी सुजन में क्वाथ देते है।

3. कष्टपूर्ण मासिक स्त्राव, प्रसव में गर्भाशय संकोचन को कम करने के लिए ।

4. क्वाथ का प्रयोग, घाव, पथरी, मिर्गी, प्लीहावृद्धि, लीवर बढ़ने पर चक्कर, मूच्छों, स्नायु दुर्बलता, आद्यमान पेट के ऐंठन, अन्य नाड़ी–संस्थान के रोगों में प्रयोग किया जाता है।

5. घाव में छाल पीसकर लगाते है।

6. दांत सड़ने पर, मुखपाक, मुहॉसा, मुखछाले में छाल का कुल्ला एवं रस पीने को देते है।

7. बीज के तैल से सन्धिवात, गठियावात, आमवात में मालिस करते है।

8. फलों एवं पत्तों की सब्जी, बलवर्धक होता है।

मात्रा :– त्वकचूर्ण 1 से 2 ग्राम, क्वाथ 10 से 20 ग्राम, पत्ररस 5 से 10 मिलि.

बेल

परिचय :–

बेल श्रीफल, बिल्व ये नाम है। यह सभी प्रान्तों में पाया जाता है। 50 फुट उंचा वृक्ष होता है शाखाओं में आधा इंच मोटे, नुकीले, कॉटे होते है। पत्ते 3 एक साथ वृन्त में होते है पत्ते का आकार अण्डाकार मालाकार, बीच का पत्ता अन्य दो पत्तों से बड़ा होता हैं। फागुन चैत में पत्ते झडकर बैशाख में नए पत्ते आता है।

फुल– हरापन, सफेद 4–5 पखुंडी एक इंच चौड़ा होता है। मधु सी गन्ध होती है।

फल – गुदावाला, कड़ी आवरण युक्त गोल होता है। कच्चा फल, हरा, पकने पर पीला भूरा रंग हो जाता है।

बीज– 10–15 समूहों में, सफेद रोमों से युक्त रंगहीन, गोंद से लिपटे होते है। बेल को पवित्र वृक्ष माना जाता है। मूल त्वचा फल, पत्र, पुष्प, का औषधि में प्रयोग करते है।

रासायनिक संगठन –

फलों में गोंद, पेक्टिन, शर्करा, तैल, टैनिन पाया जाता हैं। मूल, पत्र, छाल में शर्करा, बीज में तैल रहता हैं। निम्न बीज में तैल रहता है।

गुण – कच्चा फल, कटु, तिक्त, कषाय रस। पक्का फल– मधुर, सुगन्धि, भारी होता है।

प्रयोग – 1. फल के गुदा का शर्बत, मुरब्बा बनाते है। अर्श, पुराना कब्ज, पेट फूलना, अपचन, अतिसार में देते है। संग्रहणी, आंव में शर्बत देते है। लगातार प्रयोग से रोग ठीक होता है।

2. कच्चे फल को भूनकर या सुखा गुदा को रक्त अतिसार, अतिसार, मरोड़, रक्त पित्त, सुजाक में प्रयोग करते है।

3 मात्रा चूर्ण1 से 2 ग्राम मूलक्वाथ

4 अर्श में क्वाथ से सेकाई करते है रक्तार्श में क्वाथ पिलाते है।

5. हृदय की धड़कन निद्रानाश, पागलपन, मलेरिया, शुक का पतलापन, में क्वाथ देते है।

6. कीड़े के काटने में लेप करते है।

7. बच्चों के उल्टी–दस्त में चावल मांड़ में पकाकर पिलाते है। पत्तों का रस पिलाते हैं।

8. कफज ज्वर, नेत्र रोग, सुजन, दमा में स्वरस पिलाते है। आंखों एवं घाव पर पत्र का लेप करते है।

9. मधुमेह में पत्रचूर्ण या रस का सेवन करते है।

10. बहरापन में फल मज्जा को गोमूत्र में पीसकर, बकरी दूध और तैल में पकाकर कर्ण बिन्दु के रूप में प्रयोग करते है।

निर्गुण्डी या सम्हालू

सिनुआर, निर्गुड़, निर्गुण्डी कहते है। सभी प्रान्तों में इसके वृक्ष पाये जाते है। 6 से 30 फीट उंचे होते है।

छाल :– पतली, चिकनी, धूसर वर्ण (राख) की, पत्ते दल में 3–5 पत्रक एक साथ, मालाकार अखण्ड, गोल दन्तुर, 2–4 इंचे लम्बे, 1/2 से 1,1/2'' चौड़े, मोटे, बड़े आकार के होते है। उपर से हरे नीचे से श्वेताभ होता है।

पुष्प – 2–6 इंच मंजरी में, सफेद या बैगनी रंग का होता हैं।

फल – गोल 1/4 इंच व्यास के, पकने पर काले रंग के होते है। वर्षा काल में पेड़ों पर पराश्रयी वनस्पति पाई जाती है, जो जटा जैसे लटके रहते है। अक्टुबर, नवम्बर में पक कर सुख जाने पर पतले कन्द एकत्रित कर लेते है। इसके चूर्ण को गलित कुष्ठ में प्रयोग करते है।

मात्रा :– 1–2 ग्राम 2 बार।

प्रयोज्यांग :– पत्र मूल, फल, फूल का औषधि रूप में प्रयोग करते है।

रासायनिक सगंठन – पत्तों में गन्धयुक्त उड़नशील तैल, राल, बीजो में अम्ल राल, अर्गेनिक अम्ल, मेलिक एसिड, रंजक द्रव्य, क्षाराम पाया जाता है।

गुण – कटु, तिक्त, कषाय, रस, उष्ण वीर्य, कटु विपाक हल्का (लघु) पुष्प शीत वीर्य होता है।

प्रयोग –

1. शोथ (सुजन) वाले रोग जैसे फेफड़ा, फेफड़ा आवरण, प्लीहा मे उत्तम प्रभाव होता हैं
2. दर्द में, वातकफ रोग में, मूत्रस्तम्भन, कृमि, विष, में प्रयोग करते है।
3. अण्डकोष सुजन में लेप करते है।
4. पत्ते का रस कफज्वर, फेफड़ा का रोग, सर्दी, गले में सुजन टी.बी.आमवात में पिलाते है।
5. गृघसी, शीतज्वर, मलेरिया, सूतिका ज्वर, में पत्ते का चूर्ण क्वाथ का प्रयोग करते है।
6. मूल और पत्ते से सिद्ध तैल का प्रयोग दर्द में करते है।
7. पॉव के जलन में पत्ते पीस कर लगाते है। सिर दर्द में लेप करते है।
8. चॉवल, गेंहुॅं, कपड़े, पुस्तकों को कीड़े से बचाने के लिए पत्तों को डाला जाता है।

मात्रा– पत्ररस 5 से 10 मिलि. व पत्रचूर्ण 1 से 2 ग्राम।

वचा

इसे घोरवच या घोड़वच कहते है।

पर्याय– उग्रगन्धा, षडग्रन्था, लोमशा ।

परिचय – मणिपुर, काश्मीर या दलदल वाले स्थान में वचा उत्पन्न होती है। यह 3–4 फीट उंची गुल्म जाती का वनौषधि है । जड़ जैसी शाखाएँ चारों ओर फैली होती है। जड़ में गांठ होती है, जिसमें रोऐं होते है पत्ते लम्बे पतले, तलदार के समान होते है, पुष्प मंजरी दण्ड में लगी होती है। पुरे पौधा से गन्ध आती है जड़ में गंध ज्यादा होती हैं। मूल स्तम्भ तथा कन्द का औषधि बनाते है।

रासायनिक संगठन :–

1. एकोरिन नामक सुगन्धित उड़नशील तैल होता है।
2. ग्लुकोसाइड,एकोरेटिन (राल), कैल्शियम, आक्जीलेट, रवेदार क्षाराभ होता है।

गुण :–

1. वमन कराने वाला ।
2. कफ निकालने वाला ।
3. मिचली उत्पन्न करने वाला ।
4. दीपन–पाचन, मेध्य, वृष्य, कृमिघ्न होता है।

प्रयोग :–

1. उन्माद, अपस्मार एवं स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए वच को मधु या दुध के साथ सेवन कराते है।
2. अधिक मात्रा में देने से उल्टी कराता है।
3. जीर्ण अतिसार एवं संग्रहणी, कृमि, पथरी में देते है।
4. मलेरिया आदि विषमज्वर में अन्य औषधियों के साथ प्रयोग करते है।
5. जयपाल विष को दूर करने में प्रयोग करते है।
6. अर्श में भांग और अजवइन के साथ धूनी देने से दर्द दूर होता है।
7. मक्खी और दीमक को मारने में प्रयोग करते है।

वायविडंग

परिचय :–

यह सभी दुकानों में आसानी से मिल जाती है। भारत वर्ष के पहाड़ी भाग सिंगापुर, सिलोन में ज्यादा मिलता है। इसकी झाड़ी होती है। टहनियाँ लम्बी पतली, लचीली, गोल पर्व (गांठ) वाली होती है, पत्ते माला आकार, नुकीले अग्रवाले, उपर पृष्ठ चमकीले नीचे तह में लाल ग्रन्थियाँ होती हैं। फूल सफेद या हरे, पीले रंग का गुच्छों में आता हैं। फल गोलाकार पकने पर लाल रंग के गुच्छों में आते है और सुखने पर काले रंग का झुर्रीदार दिखता है। बीज एक आवरण में रहता हैं जो स्वाद में कटु होता है।

रासायनिक संगठन :–

1. फलों में एम्बेलिक एसिड़ नामक पीले, रवेदार, सुनहरे पदार्थ होता है। अल्पमात्रा किस्टेम्बिन नामक क्षाराभ तथा तैल उड़नशील, रंजक द्रव्य, राल, टैनिन होता है।

गुण :–

कृमिघ्न, वात का अनुलोमक, वातहर, दीपन, पाचन, वातनाड़ी संस्थान के लिए बल्य होता है। उत्तम रसायन होता हैं।

उपयोग :–

1. कृमि की उत्तम औषधि है। इस का चूर्ण शहद से बच्चों में 60 मिलि. ग्राम बड़ों में 125 मिलि ग्राम देते है।
2. उत्तम रसायन के रूप में चूर्ण को मुलेठी चूर्ण के साथ ठण्ड़ा जल से एक माह तक सेवन कराना ।
3. विड़ग चूर्ण से सब प्रकार के अर्श नष्ट होते है।
4. बच्चों के सुखा रोग, आध्मान, शूल, कुपचन, में दूध के साथ देते है।
5. गण्डमाला (घेंघा रोग) में वाय विडंग, गुग्गुल, मनःशिला तथा श्रृंगभस्म मधु और धृत के साथ देते है।
6. चर्म रोगों में बाह्य एवं आन्तरिक प्रयोग किया जाता है।
7. नाड़ी संस्थान के रोगों में लहसून के साथ दूध में उबालकर

प्रयोग करते है।

8. जीर्ण सर्दी, शिर शूल, आधाशीशी में सिद्ध तैल के नस्य से लाभ होता है।

मात्रा– चूर्ण 60 मिलि. ग्राम से 120 मिलि. ग्राम।

ऑक

यह लाल और सफेद दो रूप में पया जाता है। यह सभी जगह पाया जाने वाला वृक्ष है। बहुवर्षीय 8–10 फीट उंचा वृक्ष या झाड़ी होती है। पत्र अवृन्त, मोटे हरे रंग के अण्डाकार 4 से 8 इंच लम्बे 1–4 इंच चौड़ा होता है। फल करीब 4 इंच मुड़े हुई एवं फूलों से एक फोलीकल निकला रहता है। बीज महिन सिल्क की तरह रूई से युक्त होता है। इस वृक्ष की शाखाओं एवं पत्रादि से दूग्ध निकलता है।

रासायनिक संगठन :–

1. मूलत्वक– कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, कफघ्न, रसग्रन्थी, त्वचा के लिये उत्तेजक होता है।

2. बल देने वाला उत्तम रसायन होता है।

3. रक्त विकार, कुष्ठ, उपदंश में आतंरिक एवं बाहय प्रयोग करते है।

4. श्लीपद, उपदंश, चर्म रोगों मे प्रयोग करते है।

5. सभी प्रकार के कफविकार में प्रयोग करते है ।

6. पुराने अतिसार या ऑव होने पर छाल चूर्ण 3 से 6 ग्राम शुद्ध अफीम के साथ देते है।

7. जीर्णज्वर छाल का फान्ट देते है।

8. आमवात संधिशूल में छाल चूर्ण 3 से 6 ग्राम सोंठ के साथ देते है।

भुई आमला

यह प्रायः सब प्रान्तों में वर्षा ऋतु में अधिक मिलती है। इसकी छोटी झाड़ी 6 से 12 इंच उंची होता है। शाखाएं सीधी पतली

पक्षाकार होता है। पत्ते लम्बे, चौड़े होते है। फूल छोटे, हरे श्वेत रंग के 2–3 इंच, पुष्प में एक स्त्रीकेसर एवं पुंकेसर साथ रहते है। बीज भूरे रंग के एवं दानेदार रेखा वाले, सुक्ष्म दाने होते है।

रासायनिक संगठन :–

फल में कड़वा द्रव्य फाईलेन्थीन पाया जाता है।

गुण :–

1. शीत वीर्य, तिक्त रस है।
2. कास, श्वास, दाह, शोथ, का शमन कारक है।
3. मुत्र निकालने वाला, घाव को भरने वाला होता है ।

प्रयोग :–

1. इसके पंचाग का क्वाथ मलेरिया में देते है।
2. मुत्र मार्ग में जलन में प्रयोग करते है।
3. कामला (पीलीया) में जड़ को दूध में पीसकर देते हैं।
4. आँव में कोमल तने का फाण्ट देते है।
5. घाव में चावल की पेया के साथ पुल्टिस बांधते है।
6. चर्म रोग में पत्ते को नमक में पीसकर लगाते है।

मात्रा–स्वरस 10–15 मिलि. चूर्ण 3–6 ग्राम ।

भृंगराज

इसे भाँगरा भी कहते है।

पर्याय – केशराज, केशरजंन, अंगारक आदि।

भेद – श्वेत, पीत, कृष्ण (नील) ये तीन भेद होते है। ये भेद फूलों के रंग के अनुसार होते है।

परिचय :–

श्वेत भांगरा देश में सभी जगह पाया जाता है। पीले भांगरा, मद्रास, आसाम, बंगाल में पाया जाता है।

भांगरा का फैलने वाला क्षुप होता है आर्द्र स्थानों में जैसे नदी, तालाब, के किनारे उत्पन्न होती है। शाखाएं भूमी से उठी होती

है। पत्ते छोटे, बड़े अनेक आकार वाले 2'' लम्बे 1/4'' चौड़े अण्डाकार, नुकीले, विपरीत होते है, पुष्प छोटे डन्ठल में छोटे छोटे मुण्डको में आते है भृंगराज का पंचाग औषधि रूप में प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन –

अधिक मात्रा में राल, एक्लीप्टीन एवं निकोटीन नामक अल्केलाईड पाया जाता है।

गुण :–

1. यह तिक्त रस उष्ण वीर्य दीपन, पाचन, वात अनुलोमक, रसायन, कफ, वातहर, चक्षुष्य, चर्मरोग हर, केश को बढ़ाने और सौन्दर्यवर्धक होता है।
2. इसका प्रयोग कुपचन, यकृत विकार पीलिया, खॉसी, दमा, कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोग में किया जाता है।
3. असमय बाल पकने एवं बाल गिरने में भृंगराज तेल का अधिक प्रयोग किया जाता है।
4. अधिक मात्रा देने से उल्टी होती है।
5. यकृत के समस्त रोगों पर, पेट के रोगों में एवं सिरदर्द में इसका प्रयोग किया जाता है।
6. बाल काला करने तथा लंबा करने के लिए इसको कशिश के साथ बालों में लगाते है।
7. अग्नि से जल जाने पर मेहंदी पत्ती को भृंगराज पत्ती के साथ पिसकर लगाने से जलन दूर होती है, तथा घाव का दाग नहीं पड़ता ।
8. इसके तेल का प्रयोग नेत्र ज्योति कम होने पर लगाया जाता है।
9. इसके रस का प्रयोग पान के साथ रसायन के रूप में करते है।
10. इसके बीज बाजीकर होते है।

मात्रा– रस 5–10 ग्राम ।

शतावरी

इसे सतावर, सतमूली, शतावर, कहा जाता है। यह देश के सभी प्रांतों में उत्पन्न होती है। इसकी छोटी कांटेदार झाड़ी बहुवर्षायु लता की तरह अनेक शाखाओं में फैला हुआ रहता है। इसकी शाखाएं तिकोनी चिकनी, रेखायुक्त होती है। इसके वास्तविक पत्र के स्थान पर कांटे होते है, जो कुछ टेढ़े 1/4''–1/2 लंबे होते है। इसके तने पत्र की तरह सुत्राकार लंबे फल छोटे–छोटे गोल पकने पर लाल रंग के हो जाते है, जिसके अंदर एक या दो बीज रहते है। मूल तना से पतले पतले जड़ गुच्छों के रूप में निकले रहते है, जिनका चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन –

शतावरी के ताजे कंदो में शर्करा तथा अन्य जल में घुलनशील अन्य तत्व पाए जाते है।

गुण :–

1. शतावरी मधुर रस, शीतवीर्य, गुरू, स्निग्ध होता है ।

प्रयोग :– 1. स्तन्य, मूत्र, शुक्र को निकालने वाला ।

2. बल, शुक्र, आयु, नेत्र ज्योति, अग्नि को बढ़ाने वाला होता है।
3. त्रिदोष शामक तथा थोड़ा संग्राही होता है।
5. बल वृद्धि के लिए दूध और मिश्री के साथ इसका खीर बनाकर देते है।
6. शतावरी सिद्ध तेल का सिर रोग, चर्मरोग, वात रोग, तथा दुर्बलता में इसका बाहरी प्रयोग करते है।

मात्रा 10 ग्राम दूध के साथ देते हैं।

गुंजा

इसे घुघंची, रत्ती, घुंमची कहा जाता है। यह प्रायः सब प्रांतों के जंगल में उत्पन्न होता है। इसकी लता सुंदर और चक्र रूप में लिपटी होती है। शाखाएं पतली, लचीली, काष्टमय होती है। पत्ते इमली के पत्ते जैसे जोड़ी में आमने सामने होते है। फूल वर्षाकाल में 3'' लंबी गुच्छे में निकली हुई मंजरियों में सफेद या गुलाबी या

हल्के बैंगनी रंग के होते हैं। फली 1'', 1,1/2'' लंबी नुकीली गुच्छों में होती है। शीतकाल के अंत तक पक जाते है। बीज छोटे, चिकने, चमकीले, कडे, काले दाग के साथ सिंदुर वर्ण या सफेद होते है। बीज अण्डाकार होते है। इसकी जड़ लकड़ी जैसे शाखायुक्त टेड़े–मेढ़े होते है।

रसायनिक संगठन :–

गुंजा के बीजों में आब्रिन नामक विषैला क्षोभक प्रोटीन जाति का द्रव्य साथ ही फेट, एन्जाइम, एल्ब्युसिक एसिड, हिमग्लुटिनीन पाए जाते है। जड़ों में, पत्तों में भी आब्रिन पाया जाता है।यह अत्यंत विषैला द्रव्य होता है। इसके बीजों के काढ़ा को ऑख में डालने से मृत्यु हो सकती है। यह आमाशय में जाकर विषरहित हो जाता है।

शोधन :–

बिना शोधन के बीजों का प्रयोग, तेज उल्टी व दस्त कराता है। इसके विष को उतारने के लिए चौलाई के रस में मिश्री मिलाकर पिलाते है सफेद गुंजा के बीज को गाय के दूध में 1 घंटा उबालकर फिर छिलका निकालकर गर्म जल में धोकर उपयोग करना चाहिए।

गुण :–

1. पत्तेमधुर रस होते हैं ।
2. बीज उष्ण वीर्य होता है।
3. स्वरभंग में श्वेत गुंजा के पत्र, कबाबचीनी के साथ या अकेले मिश्री मिलाकर चूसने दिया जाता है। मुखपाक में भी पत्र चूसने से लाभ होता है। वेदनायुक्त शोथ पर पत्र स्वरस या पत्र कल्क को तैल में मिलाकर लगाया जाता है। व्रण पर भी इसका प्रयोग करते है। उपदंश में लाल गुंजा के पत्र जीरा 2 माशा, मिश्री 1 तोला मिलाकर, एक दिन में 2 बार 7 दिन तक प्रयोग किया जाता है।
4. वीर्य विकार में 2 माशा जड़ को दूध में पकाकर भोजन के पूर्व रात में पिलाया जाता है।
5. खांसी तथा मूत्र रोगों में जड़ का प्रयोग अन्य औषधी के साथ करते है।

6. इसके फल तथा जड़ से सिद्ध तेल को थाइराइड रोगों में लगाया जाता है।
7. दाद, खुजली, कुष्ठ में गुंजा बीज तथा भृंगराज पत्र रस से सिद्ध तेल का प्रयोग करते है।
8. बीजों का प्रयोग वात विकारों में लगाने के लिए करते है।

केवांच

इसे केवांच, क्रौच, आत्मगुप्ता, वृष्या, खुजनी कहा जाता है। यह भारत में सभी जगह पाया जाता है। तथा इसकी खेती की जाती है । इसकी लता पतली चक्र में चढ़ी हुई है, 1 वर्षायु बरसात में अधिक होते है। पत्ते वृन्त में 3 एक साथ लगे होते है। पत्तों का आकार हृदयाकार, उपर चिकने नीचे की तरफ रोमयुक्त होते है। फूल बैगनी रंग के 1/2'' लंबे घने 6''–12'' लंबी मंजरी में होते है। फल 2''–3'' लंबे 1/2'' चौड़ी दोनों छोर अलग–अलग दिशा में मुड़े हुए लंबी धारियों से युक्त, भूरे रंग के घने रोम से ढके होते है, ये रोम शरीर में लगने से अत्यधिक खुजली, जलन उत्पन्न होता है। बीज प्रत्येक फली में 5–6 काले चमकीले अन्दर से पतले आवरण में ढके रहते है। इसके बीज मूल और फली का चिकित्सा में प्रयोग करते है।

रासायनिक संगठन :–

Starch Tanin, Fat व मेग्निशीयम होता है ।

गुण और प्रयोग :– इसके बीज पौष्टिक, ओजक, वाजीकर और वातशामक होते है। फली के उपर का रोम उत्तम कृमिनाशक होता है। इसका जड़ नाड़ियों के लिए बल्य वं उत्तेजक होता है। यह मूत्र को निकालने वाला होता है।

1. इसके रोम को घी, शहद या गुड़ के साथ कृमिरोग में देते है।
2. इसके बीज की मज्जा, दूध या शहद के साथ बाजीकरण के लिए प्रयोग किया जाता है।
3. इसके जड़ का काढ़ा सभी प्रकार के नाड़ी संस्थान के रोग, Kidney रोग, हैजा में, Phyleria में दिया जाता है।

कालिहारी

इसे कलिकारी, कलियारी, कलारी, कहा जाता है। भारत में सभी जगह जंगलों में पाई जाती है। इसकी लता अरोहणशील (दुसरे वृक्ष पर चढ़े हुये) सुन्दर होती है। काण्ड–पतला, गोल, नरम, हरा होता है। किसी वृक्ष के सहारे 8 से 10 फीट उंची चढ़ जाती है। इसकी तना गंठ दार होती है। जो जमीन में जड़ें जमा कर वर्षा ऋतु में पुनः पौधा उत्पन्न करता है। पत्ते विषमवर्ती 3 से 9'' लम्बे मालाकार, अग्रभाग सुत्र जैसी होती है। वर्षा के अन्त में फूल आते हैं, जो छोटे, नीचे मुख और सुन्दर होते हैं। फूलों में 6 पंखुडियां, लहरदार नीचे की ओर पीला, उपर की ओर नारंगी लाल अन्त में पूरा लाल होता है। पूर्ण विकसीत फूल लाल रंग का होता है। फलियां– लम्बी गोल–लाल रंग के बीज होते है। कन्द भेद से पुरूष और स्त्री जाती के दो भेद कालिहारी के होते हैं। इसका कन्द का औषधि के रूप में प्रयोग करते हैं। यह श्वेत, नरम मांसल तिक्त रस होता है। इसे उपविष मानते है कम मात्रा में विषाक्त नहीं होता है।

शोधन –

कन्द के छोटे–छोटे टुकड़े करके नमक मिले मठा में 4–5 भिगाकर फिर गरम पानी से धोने पर विष कम होता है। प्रतिदिन नया मठा बदलते है।

रासायनिक संगठन :–

कडुआ, विषैला, क्षाराभ, राल होता है

गुण : कटु रस, उष्ण वीर्य, कटुविपाक ।

1. गोनोरिया में जड़ का प्रयोग करते है।
2. त्वचा रोग बिच्छु डंक में जड़ को पीसकर लगाते है।

अनन्तमूल सारिवा

इसे कपूरी, सारिवा कहते है। यह सभी प्रांतों में पाया जाता है। बहुवर्षीय लता फैलने वाली लपेटकर चढ़ने वाली होती है। मूल स्तम्भ काष्ठमय काण्ड पतला गोल, चिकना, सूक्ष्म, रोमयुक्त, सूक्ष्मधारी वाला, गांठदार होता है। पत्र विपरीत, विभिन्न आकार वृन्त

वाले 3'' लम्बे, उपर से चिकना गहरे हरे रंग के सफेद चिन्ह वाले, नीचे से हल्का हरा होता है। पुष्प छोटे बाहर से हरा भीतर बैगनी रंग गुच्छों में आते है। फली 4–6'' लम्बी, पतली, गोल 2–2 एक साथ, सूक्ष्म धारीवाला चिकना होता है। बीज 6 से 8 मिलिमीटर. लम्बा अण्डाकार चिपटा,काले रंग सफेद रोम गुच्छ से घिरा होता है।

मूल–मूल का चिकित्सा में प्रयोग करते है। पतले–उपमूलों से युक्त, गोल, 12'' लम्बा 3.6 मी.मी. मोटा, कठोर, मुड़ा हुआ, बाहर से गहरे बादामी रंग का, अंदर पीला रंग काष्टमय होता है ।

रासायनिक संगठन –

जड़ में उड़नशील तैल गन्ध युक्त रवेदार पदार्थ, स्टेराल, राल, शर्करा, ग्लाइकोसाइड होता है ।

गुण–

1. तिक्त रस, शीत वीर्य, मधुर विपाक होता है ।
2. मूत्र रोग, त्वचा रोग, रक्त रोगनाशक होता है ।
3. इसका फाण्ट–मूत्र रोग में देते है।
4. फिरंग रोग में गुडुची के साथ देते हैं।
5. बच्चों के पीलीया ज्वर में ।
6. स्त्रीयों के प्रदर रोग में । गर्भ स्त्राव में प्रयोग करते है।
7. घाव में जड़ को पीस कर लगाते है ।

––00––

<u>मौलसिरी</u>

इसे शिवमल्ली, पाशुपत, बकुल, कहते है । शोभा एवं सुगन्ध के लिए सभी जगह लगाते है। इसके वृक्ष 50 फीट ऊंचे, घ ना, चिकने पत्ते वाले होते है। यह हमेशा हरा दिखता है। छाल – भूरा, काष्ठ लाल रंग की पत्ते–जामुन के पत्ते जैसे, 3.5'' लम्बे 1. 5'' चौड़े नोकदार, किनारे पर लहरदार, पौन इंच दण्ड में लगे होते है। फूल सफेद, गोल चक्राकार एक इंच लंबा होता है। फल लम्बा, गोल, त्वचा हरा, पकने पर पीला होता है। बीज–एक फल में एक बड़ा बीज होता है। छाल, फल, पुष्प का प्रयोग औषधि के लिए करते

है।

रासायनिक संगठन –

बीज मे सेपोनिन नामक तैल, छाल में रबर जैसे पदार्थ, मोम, स्टार्च, क्षार होता है। फूल में उड़नशील तेल, फल में ग्लुकोज होता है।

गुण –

कषाय रस, पौष्टिक, संग्राहक, स्नेहन है।

प्रयोग :–

1. दांत के छिलने पर अन्य दन्त विकारों में प्रयोग करते है। छाल का काढ़ा से गण्डुष कराते हे।
2. जीर्णज्वर में छाल का काढ़ा पिलाते है।
3. सिर दर्द में फलों का नस्य देते हे।
4. पुराने आंव में पके फल खिलाते है।

जामुन

सभी प्रान्तों में पाई जाती है। इसे कालाजाम, चिरैई जाम कहते है। इसका बड़ा वृक्ष होता है। सदा हरा भरा होता है। पत्ते विपरीत, लम्बा, अण्डाकार, अग्र नुकीला, चिकना, चमकीले, 3.6'' लम्बा .5 से 1'' लम्बे वृत्त में होता है। फूलों की मंजरीयों, हरापन सफेद सुगन्धित होता है। फल .5 से 1.5'' लम्बा, गोल हरा पकने पर बैगनी रंग युक्त काला रंग का होता है। जिसमें सफेद गुदा होता है। जामुन का फल, गुठली, छाल, पत्तो का औषधि रूप में प्रयोग करते है।

रासायनिक संगठन –

बीजों में एल्जेलिक एसिड, सुगन्धित तैल, स्थिर तैल, राल होती है।

गुण – कषाय, मधुर रस, वात उत्पादक, संग्राही, पत्ते–वमन रोधक।

प्रयोग –

1. छाल का क्वाथ, मुख व्रण में, गण्डुष के, लिए अतिसार में रोग

में छाल का क्वाथ पिलाते है। बच्चों के दस्त में पत्ते का ताजा रस, बकरी के दूध में देते है।

2. बीज का प्रयोग मधुमेह में करते है।
3. अधिक मासिक स्त्राव, रक्त–अतिसार में पत्तों का रस देते हैं।
4. पीलीया, अतिसार में पत्ते को लौह चूर्ण के साथ देते हैं।
5. जामुन का सिरका, मधुमेह, अतिसार, मंदाग्नि में देते हैं।

मात्रा – बीजचूर्ण– 1–2 ग्राम, रस 5 से 10 मी.ली.

सरफोक

शरपुंखा – सरफोक

सभी प्रांतो में आप ही आप उगने वाली क्षुप है, कांड चिकने रोमश होते हैं ।

पत्ते 3–6'' लंबे, मेथी पत्ते जैसे पत्तों को तोड़ने से बांण के पुंछ के समान टूटता है। फुल संवृंन्त लाल जामूनी मंजरी में होते है। फली 2'' लंबी मुड़ी हुई 6–8 बीज युक्त होते हैं।

प्रयोज्यांग – पंचांग

रासायनिक संगठन – जड़ में टेफ्रोसिन, वेम्युलिन, आइसोटैजोसिन, रीटेनाप पाया जाता हैं।

गुणकर्म – पित्तसारक, मूत्रजनक, कफघ्न, कृमिघ्न, रक्तशोधन ।

प्रयोग –

1. यकृत, प्लीहावृद्धि (प्लीहा बढ़ने पर) रोग में सरफोक का जड़ एवं हरितकी चूर्ण के साथ सेवन कराते है।
2. अर्शरोग (बवासीर) में जड़ को मट्ठा के साथ एवं तैल का प्रयोग करते है।

लौंग

यह भारत में दक्षिण भारत में पाया जाता है 12–13 फीट ऊँचे वृक्ष होते है। पत्ते एक दुसरे के अभिमुख, आगे का भाग लम्बे सुगन्धित होते है।

पुष्प – नीला, वरूण सुगन्धित होता, पुष्प की सुखी

कलिका को लौंग कहते है शुरू में फूल का रंग हरा होता है, बाद में किसमिसी होने पर तोड़ कर सुखा लेते है।

रासायनिक संगठन :– 15 से 20 प्रतिशत तैल होता हैं, और यही प्रभावशाली होता है।

गुणकर्म – वायु को शान्त करने वाला, पाचक उत्तेजक, कफ को नष्ट करने वाला मूत्र को निकालने वाला दुर्गन्ध नाशक होता हैं।

प्रयोग – हैजा रोग में लोंग को उबालकर 5 मि.ली. की मात्रा अत्यधिक प्याज लगने पर दिया जाता है।

2. गर्भिणी को वमन होने पर लौंग चूर्ण 125 मि.ग्रा. शहद के साथ देते है।

3. अर्जीण (अपचक), आध्मान (पेट का गुड़गुड़ाना), पेट दर्द में लोंग उबाल कर पानी देते है।

4. गले के सुजन, कुकुर खांसी, मुख एवं श्वास की दुर्गन्ध में लौंग भूनकर चुसते है।

5. लौंग तैल का प्रयोग सन्धिशुल, दांतो के खोखला होने पर, गृधसी रोग (सायटिका) कमर दर्द में लगाने के लिए किया जाता है।

लहसून

यह सब प्रान्तों में बोया जाता है। एक फूट ऊंचा, एक वर्षीय झाड़ी होती है। पत्ते आधा इंच चौड़े, चपटे एवं लम्बे होते है। पुष्प चक्र में होते है। कन्द को लहसून कहा जाता है, जिसके अन्दर 8–20 जावा (फली) होते है। इसमें विशेष प्रकार गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन :– इसमें उड़नशील तैल होता है जिसमें अलिल डाइसल्फाइड, आलिल–प्रापिल–डाईसल्फाइड एवं उच्च श्रेणी के पाली सल्फाइड पाये जाते है। इसके अतिरिक्त antibecterial अव्लीसीन (Allicin), Antibiotic-Allicetion I-II पाया जाता है।

गुणकर्म –

पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला, पसीना निकालने वाला, मूत्र निकालने वाला, शरीर को उत्तेजित करने वाले, कफ को निकालने वाला होता है।

प्रयोग – 1 लहसून एवं बहुउपयोगी औषधि है, काश्यप संहिता में लहसुन कल्प नामक एक स्वतंत्र अध्याय है।

2. फेफड़े के रोग, स्वरयंत्र सुजन होने से, चर्म विकार में ब्रान्काईटिस, दमा, में लहसून का अवलेह दिया जाता है।

3. शीत से होने वाले रोग, अपचन आध्मान (पेट का फुलना) पेट दर्द, हैजा, आव एवं कृमि होने पर प्रयोग करते है।

4. लहसून खाने से मलेरिया, टायफायड, टायफस रोग नही होता है।

5. कोलेस्ट्राल, उच्च रक्तदाब, के स्तर को कम करता है।

6. शरीर में सुजन, जलोदर रोग में प्रयोग करते है।

7. लहसून से पका तैल का प्रयोग कान दर्द, जोड़ो के दर्द में मालिस के लिए करते है।

8. डिप्थीरिया रोग में लहसून की कली चुसाया जाता है।

प्याज

प्याज की खेती हर प्रांत में होती है पौधा 1 से 1,1/2 फुट ऊँचा होता है। पत्र दो कतारो में लम्बे, पोले, अग्र भाग नुकीले होते है, पुष्प गुच्छों में, सफेद रंग का होता है। काले बीज होते है, नीचे कन्द होता है, उसे प्याज कहा जाता है।

रासायनिक संगठन – गंधक के आर्गेनिक यौगिक एवं कटु तैल पाया जाता है।

गुणकर्म –

c कफ को निकालने वाला, मूत्र की रूकावट दूर करने वाला, आर्तव (मासिक स्त्राव) को बढ़ाने वाला, पाचक शक्ति को बढ़ाता है। और उत्तम प्रकार का वातशामक होता है।

प्रयोग :–

1. बच्चे एवं बुढ़ों की खांसी में प्याज रस 1 चम्मच शहद मिला कर देते है।

2. अर्शरोग में प्याज का रस या प्याज को आग में भूनकर मिश्री एवं जीरा के साथ सेवन कराते है।

3. शुक्रवृद्धि या बाजीकरण के लिए रस + मधु + घी देते है।

4. हैजा रोग में प्याज का रस को चूने के पानी में मिलाकर सेवन कराते है।
5. आँत के रूकावट में, पीलिया में, अर्श रोग में प्याज को उबालकर पानी को पिलाते है।
6. चक्कर आने पर प्याज को सुंघाते है।
7. नाक से रक्त (खुन) निकालने पर रस का नस्य दिया जाता है
8. चर्म रोग में प्याज को सरसो तैल में पकाकर तैल का प्रयोग करते है।

सारांश

आपने इस इकाई में वनस्पति द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग का अध्ययन किया है। उनकी विशेषताओं से अवगत हुए है। जिसका प्रयोग अपने स्वास्थ्य का सुरक्षित रखने में कर सकते है।

अभ्यास प्रश्न

1. आंवला, हर्रा, बहेरा का प्रयोग लिखकर त्रिफला चूर्णका निर्माण विधि लिखिए।
2. हरिद्रा, प्याज, लहसून का परिचय एवं प्रयोग लिखिए।
3. तुलसी, अजवाइन, जीरा, कालीमिर्च का औषधीय प्रयोग लिखिए।
4. घृतकुमारी पत्र, नीम और अर्जुन छालों का औषधीय प्रयोग लिखिए।

इकाई 9
रसशास्त्र विज्ञान

इकाई की रूपरेखा :

1 उद्देश्य।

2 प्रस्तावना।

3 विषयवस्तु –

जांगम औषधि द्रव्यो का संक्षिप्त परिचय एवं प्रयोग।

खनिज औषधि द्रव्य परिचय ।

रस, उपरस, धातु, उपधातु, सामान्य परिचय एवं प्रयोग।

विष, उपविष, रत्न, उपरत्न का सामान्य परिचय एवं प्रयोग।

4 सारांश।

5 अभ्याश प्रश्न।

उद्‌देश्य :–

इस इकाई में हम आयुर्वेद शास्त्र के अंतरगत रसशास्त्र विज्ञान का अध्ययन करेंगे। जिससे आप –

विभिन्न जंतुओ से प्राप्त दूध, दही, शहद आदि द्रव्यो का परिचय एवं प्रयोग जान सकेंगे ।

खनिज औषधि द्रव्यो का परिचय तथा प्रयोग का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

सृष्टि में उत्पन्न रत्न, उपरत्न तथा विभिन्न प्रकार के विष उपविषो का सामान्य परिचय तथा प्रयोग की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

प्रस्तावना :–

हमारे आसपास उपस्थित जीवजंतु जैसे कि गाय, भैस, मक्खी, मछली इत्यादि अनेक छोटे बड़े प्राणी हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। उनसे प्राप्त होने वाले अनेक द्रव्यो का शरीर के हित में प्रयोग करते हैं। धरती के गर्भ में सुरक्षित खनिज द्रव्य सोना, चांदी आदि धातु, पारा, गंधक आदि रस, हीरा, मोती आदि रत्न एवं विभिन्न प्रकार के विषो की सामान्य परिचय तथा शारिरीक प्रयोग का अध्ययन कर अपने हित के लिए उसकी प्रयोग कर सकते हैं।

<u>विषय–वस्तु</u>

<u>जांगम द्रव्य परिचय एवं प्रयोग</u>

प्राणियों से प्राप्त होने वाले द्रव्यों को जांगम द्रव्य कहते है। जिन्हें औषधि के रूप में प्रयोग करते है। आचार्यो ने व्याख्या की है कि जो एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते हैं उसे जांगम कहते है। इसके चार भेद किये हैं।

(1) जरायूज (2) अण्डज (3) स्वेदज (औद्भिज)

(इसकी परिभाषा पूर्व में बताई जा चुकी है।)

निम्न जांगम द्रव्यों का प्रयोग औषधि के रूप में मधु, गोरस, (दुग्ध, दही, घी) पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मांस, मल–मूत्र, चर्म, शुक्र, हड्डी, स्नायु, सींग, नख खुर, केश, रोम, गोरोचन इत्यादि।

<u>मूत्रों के नाम और गुण</u>–

आठ प्रकार के मूत्रों को औषधि निर्माण या औषधि के रूप में प्रयोग करते है।

(1) गो मूत्र– गाय का मूत्र रस में मधुर, दोषों का शमन करने वाला, कृमिनाशक एवं कुष्ठ रोगनाशक है उचित रूप में आभ्यान्तर पान करने से सर्व रोगनाशक होता है।

(2) भैस का मूत्र– अर्श(बवासीर), शोफ–सुजन, उदर रोगों को नाश करता है। क्षार और सारक (दस्त कराने वाला) होता है।

(3) बकरी का मूत्र– यह कषाय और मधुर रसवाला दोषों का शमन करने वाला, सभी उम्र के लोगों के लिए पथ्य (आहार) होता है।

(4) भेड़का मूत्र– तिक्त (कड़वा) रस, स्निग्ध और पित्त प्रकोपक होता है।

(5) हाथी का मूत्र– लवण रस (नमकीन) कृमि, कुष्ठ विबन्ध, मूत्राघात, विष जन्य विकार, कफज रोग, अर्श के रोगियों के लिए हितकारी एवं रोगों को दूर करने वाला होता है।

(6) ऊंट का मूत्र– यह रस में तिक्त और कटु होता है। श्वास,

कास (खांसी), अर्श को दूर करने वाला होता है।

(7) घोड़े का मूत्र– यह तिक्त और कटु रस वाला होता है तथा कुष्ठ, व्रण, और विष (जहर) को दूर करता है।

(8) गदहे का मूत्र– यह मानसिक दोष या रोग जैसे अपस्मार (मिर्गी), उन्माद (पागलपन) और ग्रह दोषो को दूर करने वाला होता है।

सामान्यतः मूत्र के सम्बन्ध में गो मूत्र का ही ग्रहण किया जाता है। सभी मूत्रों के अभाव में गो मूत्र का प्रयोग किया जाता है, यह सभी जानवरो के मूत्र से श्रेष्ठ और लाभकारी होता है।

दुग्ध –

आठ प्रकार के दुग्ध का प्रयोग औषधि के लिया किया जाता है।

(1) गाय का दूध (2) भैंस का दूध (3) बकरी का दूध
(4) उंटनी का दूध (5) भेड़ का दूध (6) हथिनी का दूध
(7) घोड़ी का दूध (8) स्त्री का दूध।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार दूध को सभी प्राणियों का आहार बताया गया है। आयुर्वेद के आचायों ने दूध को सम्पूर्ण आहार माना है आधुनिक वैज्ञानिक भी दूध को सम्पूर्ण आहार मानते हैं, तथा शरीर सवंर्धन के लिए आहार द्रव्यों में जिन–जिन संगठनों की आवश्यकता होती है, वह सभी घटक दूध में पाये जाते है जैसे– प्रोटीन, वसा, शर्करा, मैग्निशियम आदि खनिज, विटामीन्स इत्यादि।

(1) गाय के दूध का गुण– मधुर रस, शीत वीर्य, मृदु, स्निग्ध गाढ़ा, पिच्छिल, गुरू, मन्द, प्रसन्न गुण होते है यह ओज की वृद्धि करने वाला, जीवनीय शक्ति देने वाला, श्रेष्ठ रसायन होता है।

(2) भैंस का दूध– यह गाय दूध से अधिक गुरू शीत वीर्य, अधिक स्नेहांश वाला (घी की अधिकता), नींद लाने वाला जाठराग्नि को शांत करने वाला होता है।

(3) उंटनी का दूध– यह दूध रूक्ष, उष्ण वीर्य, नमकीन रस का होता है। लधु, वात कफज रोग, कृमि रोग, शोथ (सुजन) उदररोग, अर्श रोग दूर करता है।

(4) घोड़ी का दूध– यह बलवर्धक, शरीर में स्थिरता लाने वाले, उष्ण वीर्य, कुछ अम्ल एवं लवण रस वाला, रूक्ष, लघु एवं हाथ पैरों के वात रोग को दूर करने वाला होता है।

(5) बकरी का दूध– यह कषाय एवं मधुर रस वाला, लघु (सुपाथ्य) मल को बांधने वाला होता है। रक्तपित्त, अतिसार क्षय, कास व ज्वर को दूर करता है।

(6) भेड़का दूध– उष्णवीर्य वाला तथा पित्त, कफ की वृद्ध करने वाला होता है, यह हिचकी और दमा रोगो को उत्पन्न करता है।

(7) हथिनी का दूध– यह बलवर्द्धक, पचने में भारी, एवं शरीर में स्थिरता लाने वाला होता है।

(8) स्त्री दूध– स्त्री दूध शरीर में जीवन शक्ति को बढ़ाने वाला होता है। वृंहण(उत्तम पोषक), जन्म से ही प्रत्येक मनुष्य को सात्म्य(अनुकूल), शरीर में स्निग्धता लाने वाला, नेत्ररोग, रक्त पित्त में, आंख एवं नाक में डाला जाता है।

दधि (दही) का गुण– भोजन में रूचि उत्पन्न करता है, जाठरग्नि को बढ़ाने वाला, शुकवर्धक, बलवर्धक, अम्ल रस एवं विपाक में कटु होता है। उष्ण वीर्य, वातनाशक, अतिसार नाशक एवं अरूचि को दूर करता है। कफ के रोगों में दही नहीं खाना चाहिए।

धृत का गुण–धी स्मरण शक्ति को बढ़ाने वाला, अग्नि, वीर्य, ओज, कफ, मेद, को बढ़ाता है। वात, पित्त विषजन्य रोग, उन्माद, राजयक्ष्मा, ज्वर, का नाश करता है। यह सभी प्रकार के स्नेह में श्रेष्ठ होता है। शीत वीर्य, रस और विपाक में मधुर होती है।

मधु (Honey)

रस – मधुर थोड़ा सा कषाय (astringent)

वीर्य – शीत

विपाक – मधुर

मधु शरीर के सुक्ष्मतम धातु तंतुओं एवं सुक्ष्म अंगो के अन्दर तक श्रीध ही पहुंच जाता है। जिस भी औषधि व खाद्य के साथ मिलाकर इसका सेवन किया जाता है, यह उसके गुणों में वृद्धि

करता है। अतः उत्तम प्रकार 'योगवाही' द्रव्य है। मधु बुद्धि व शक्ति को बढ़ाता है व इसमें अनेक रोपण गुण पाये जाते है जो अलग–अलग ढंग से शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करते है।

यह तीनों दोषो का शमन करता है, परन्तु विशेष रूप से कफ का शमन करता है क्योंकि इसमें शोषक गुण पाया जाता है।

यदि मधु दानेदार हो जाये या सूख कर पारदर्शी रूप में जम जाए तो इसके गुणों में कोई न्यूनता नहीं आती। यह एक प्राकृतिक परिवर्तन है।

पुराना मधु अधिक अच्छा माना जाता है। विशेष रूप से मधुमेह में रक्तशर्करा को कम करने के लिए व कास के लिए यह अधिक उपयोगी है।

मेदो वृद्धि व मधुमेह रोगों में जहां शर्करा सेवन का निषेध किया गया है वहीं, शुद्ध मधु का प्रयोग किया जा सकता है। मेदोवृद्धि अथवा मोटापे में मधु का सेवन उष्ण जल के साथ किया जाता है। केवल मोटापा ही ऐसा रोग है जिसमें मधु को उष्ण जल के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। अन्यथा मधु का उष्ण रूप में या उष्ण पदार्थो के साथ सेवन करना अत्यन्य हानिकारक है।

औषधीय प्रयोग– मधु का प्रयोग निम्न अवस्थाओं में करना चाहिए।

(1) व्रण (आभ्यन्तर प्रयोग के लिए भी उपयोगी है, जैसे – आमाशय व आन्त्रगत व्रणो के लिए)

(2) कास

(3) श्वास

(4) हिक्का (हिचकी)

(5) छर्दि (वमन)

(6) अति तृष्णा (मधु + निम्नू स्वरस या नीबू का पानी)

(7) रक्त स्त्राव (प्राथमिक चिकित्सा के रूप में)

(8) मधुमेह

(9) नेत्र विकारों में (नेत्र में अंजन की तरह लगाने के लिए)

(10) योगवाही होने के कारण बहुत–सी औषधियों के साथ अनुपान के रूप में।

मांस वर्ग– मांस वर्ग को निम्न भागो में बांटा गया है।

(1) प्रसह पशु– पक्षी वर्ग– गौ, गदहा, खच्चर, ऊंट, घोड़ा, चीता, सिंह, भालु, वानर, बिल्ली, चूहा, लोमड़ी, बाज या चील की सभी प्रजाती उल्लु, गौरेया, आदि। अर्थात् जो प्राणी अपने भोजन को दूसरे से छिनकर खाते हो।

(2) भूमिशय (बिल में रहने वाले जीव) सांप, मेढ़क, नेवला गोह, साही आदि।

(3) आनुप वर्ग– गेंड़ा भैंस, सुअर, हाथी, वराह, मृग या हिरण यह सब आनुप वर्ग के मांस हैं।

(4) वारिशय वर्ग– कछुआ, केकड़ा, मछली, आदि जल में रहने वाले जीव आदि का मांस।

(5) वारिचर– हंस, चकवा, चकई, सारस, बकुला ऐसे पक्षी जो जल से और नभ में चल सकते है।

(6) जांगल पशु मांस– मृग, खरहा, बारह–सिंगा, सभी प्रकार के मृग का मांस।

(7) विष्किर वर्ग– लवा, तितर (सभी प्रकार) बटेर, मोर, मुर्गा, आदि पक्षीयों का मांस।

(8) प्रतुद वर्ग– (चोच से चोट करके खाने वाले पक्षी कठघोड़वी भृगंराज, पपीहा, गीध, कबुतर, मैना, बुलबुल, इत्यादि।

उपरोक्त प्रकार के अतिरिक्त बकरी एवं भेड़ का मांस का प्रयोग करते है। बकरी और भेड़ को किसी भी वर्ग में न रखकर आचार्यो ने पृथक वर्णन किया है।

मांस वर्ग के गुण–

सभी प्रकार का मांस भारी, उष्ण, रिन्ग्ध, रस में मधुर, बल का वृद्धि करने वाला, शुक्रवर्धक, वातशामक, कफ–पित्त को बढ़ाने वाला, होता है।

बकरे का मांस– यह न अधिक शीतल, न अधिक गुरू, न अधिक

स्निग्ध, गुण वाला होता है इसलिए यह अदोषकर होता है। इसके सेवन से दोष, धातु–मल के स्त्रोतों में क्लेद उत्पन्न नहीं करता हैं। यह मांस धातु को बढ़ाता है।

भेड़ का मांस–रस में मधुर, शीत वीर्य, भारी, मांस वर्धक मानते है।

मयुर का मांस– यह नेत्र का धारण शक्ति, जाठराग्नि, वय, वर्ण, स्वर, और आयु के लिए हितकारी होता है।

हंस का मांस–गुरू, उष्ण, स्निग्ध, मधुर होता है। स्वर वर्ण, बल, मांस, शुक्र को बढ़ाता है।

मुर्गे का मांस–स्निग्ध, उष्ण, शुक्रवर्धक मांस, बल, स्वेदवर्धक और वात को नष्ट करता है।

तितर मांस– गुरू, उष्ण, रस में मधुर, वात नाशक होता है।

कबुतर का मांस–कषाय रस, शीत वीर्य, विपाक मधुर और रक्त पित्त रोग को दूर करता है।

खरहे का मांस– कषाय रस, शीत वीर्य, कटु–विपाक लघु और मधुर होता है सन्निपातज एवं वात रोग में प्रयोग करते है।

गाय का मांस– वात रोग, विषम ज्वर, सुखी–खांसी, परिश्रम करने वाले, भस्मक (अधिक खाना) रोग, मांसक्षय में प्रयोग करते है।

भैंस का मांस– मधुर रस, शुक्रवर्धक, स्निग्ध, भारी, शरीर में दृढ़ता, मोटापा, उत्साहवर्धक निद्रा लाने वाला होता है।

मछली का मांस– पचने में भारी, गरम, मधुर, बलवर्धक, मांसवर्धक, वात नाशक, स्निग्ध, शुक्रवर्धक, दोषों का बढ़ाने वाला होता है।

कछुए का मांस– वातनाशक, शुक्रवर्धक, नेत्र के लिए लाभकारी, बल, धारण शक्ति, स्मरण शक्ति बढ़ाने वाला एवं पथ्य होता है।

गोलोचन

इसे गोरोचन, गोरोचना कहते है। यह गाय या बैल के पित्ताशय में स्थित अश्यरी जैसे द्रव्य होता है। जो सुपारी से ले कर नीबू तक क आकार में गोल अथवा गोलाई लिये त्रिकोणाकार होता है। यह उपर से मटमैला, परंतु अंदर से परतदार पीले रंग का होता है। जो मुलायम होता है। यह कुछ कड़वा, थोड़ी सुगन्धित होता है। इसका प्रयोग औषधि एवं तंत्रशास्त्र में सम्मोहन के लिए किया जाता है।

गुण– शीतल, सुगन्धित, मृदु विरेचक, तिक्त, मूत्रल अध्मरी नाशक, शरीर पुष्टीकारक, मासिक स्त्राव कराने वाला, एवं विषनाशक होता है।

प्रयोग–(1) सभी प्रकार के मानसिक रोगों में जैसे उन्माद, अपतंगक, आक्षेप मे प्रयोग करते है।

(2) रोगोन्तिका, मसूरिका,(चेचक) में प्रयोग करते है।

(3) कुकर खांसी, अतिसार, कफ ज्वर, पीलिया, गर्भस्त्राव पित्त की कमी में, आंत के रोगों में प्रयोग करते है।

मात्रा– 1 से 2 रत्ती।

खनिज औषध द्रव्यों का वर्गीकरण परिचय एवं प्रयोग

रस शास्त्र के अन्तर्गत समस्त खनिज औषध द्रव्यों का समावेश होता है। द्रव्यों के वर्गीकरण में पार्थिव द्रव्य के अन्तर्गत सभी खनिज द्रव्य आते है। इनको निम्न वर्गो में वर्गीकृत किया गया है।

1. महारस – पारा, गंधक, हिंगुल, अभ्रक हरताल, मनःशिला, गौरी पाषाण (संखिया) ये संख्या में सात होते है।
2. रस – अभ्रक, वैकात, माच्छिक, विमल, शिलाजित, सस्यक, चपल– रसक कुल आठ रस होते है।
3. उपरस – स्फटिका (फिटकरी), खड़िया, चूना, दुग्ध पाषाण, गोदन्ती, शंख–शुक्ती, वराटीका, श्रृंग, समुद्रफेन, टंकण (सुहागा)
4. साधारण रस– इस वर्ग में आठ द्रव्य आते है–

   1. कम्पिल्लक 2. गौरी पाषाण 3. नौसादर 4. कपर्द (कौड़ी)

   5. अग्निसार 6. गिरी–सिन्दुर 7. हिंगुल 8. मृदोसृंग
5. रत्न– माणिक्य, मोती, मूंगा, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, गोमेद, वैदूर्य ।
6. उपरत्न– वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकांत, राजावर्त, पैरोजक, स्फटिका, प्रवाल ।

   तद्पश्चात् रस शास्त्र में विष एवं उपविषो का औषधि में प्रयोग किया गया है। ये विष निम्न हैं।

1. विष– विष की संख्या नौ है ।

   1. वत्सनाम 2. हलाहल 3. कालकुट 4. श्रृंग 5. प्रदिपक

   6. हरिद्रा 7. शक्तुक 8. सौराष्ट्री 9. ब्रम्हपुत्र ।
2. उपविष– 1. थूहर का दूध 2. आक 3. कलिहारी 4. जमाल गोटा 5. कनेर 6. धतुरा 7. कुचिला 8. अफीम 9. चिरमिट्टी ।

गन्धक

पर्याय –अतिगन्ध, गौरी पुष्प, कीटघ्न दैत्येन्द्र, रस गन्ध, नवनीत, पुतीगन्ध, गन्ध पाषाण आदि ।

परिचय –गन्धक का ज्ञान एवं प्रयोग भारतीयों में अति प्राचीन है। अनेक रोगों की चिकित्सा के लिए गन्धक का प्रयोग होता है। गन्धक स्वतंत्र रूप में और अन्य धातुओं के मिश्रीत रूप में पाया जाता है। ज्वाला मुखी पर्वतों के समीप पहाड़ो में बने झीलों, कुओं के पानी में गन्धक पाई जाती है। गन्धक सल्फाइड और सल्फेट दोनो रूप में मिलते है। मूली, प्याज, लहसून, अण्डा, ऊन, कच्चा पेट्रोलियम पदार्थो में गन्धक पाया जाता है।

गन्धक भेद – 1. आमलासार 2. पिण्ड

आमलासार गन्धक का प्रयोग औषधि के रूप में करते हैं। पिण्ड गन्धक से मरहम बनाया जाता है, जिसकी बाहरी प्रयोग करते है। गन्धक अग्नि में जल कर तीव्र गन्ध छोड़ती है, जल्दी चूर्ण बनता है, तोता के रंग का होता है। जल में अधुलनशील है।

गन्धक शोधन – आमलासार गन्धक 1 किलो, गाय का दुध 4 (चार) किलो, गाय का घी – 250 ग्राम।

एक घड़ा या चीनी के बर्तन में ठंडा दूध रखकर मुख पर पतला सा कपड़ा बान्धकर रखते है । अब लोहे की कड़ाही में घी मध्य ऑच में पिघलाते है। घी पिघल जाने पर गन्धक का चूर्ण कड़ाही में डालते है । और कलछुल से चलाते है, थोड़ी देर में सम्पूर्ण गन्धक पीला रंग का द्रव बन जाता है। इस द्रव को कपड़े में डाल देते है और कलछुल से कपड़े को हिलाते है । ऐसे करने से गन्धक घड़े के ठड़े दुध में बुन्द बुन्द गिरता है और बुन्दी की तरह एकत्रित हो जाता है। इस किया को 3–7 बार दुहराते है। गन्धक को बड़ी सावधानी से गरम करते है, नहीं तो जल कर लाल या काला हो जाता है।

पुनः गन्धक को दूध से निकालकर, गरम पानी डालकर खुब हिलाते है। यह किया 5 से 7 बार दुहराते है, जिससे सम्पूर्ण घी का

अंश निकल जाता हैं। फिर गन्धक को सुखा कर चूर्ण बना लेते है।

गन्धक को उपरोक्त विधि से दूध की जगह भृंगराज स्वरस का भी प्रयोग करके शुद्ध करते है।

नोट :– गन्धक का भस्म नहीं बनता क्योकिं यह कम आग में भी जलकर नष्ट हो जाता है।

मात्रा – 250 मी.ग्रा. से 2 ग्राम प्रतिदिन ।

गुण – चर्म रोगनाशक, मधुर रस, कटु विपाक, उष्ण वीर्य ।

प्रयोग–

1. सल्फर आक्साइड गैस बनाने में ।
2. कल कारखानों में प्रयोग होता है।
3. कार्बन डाई आक्साइड गैस, आतिशबाजी दिया सलाई, बारूद बनाने में।
4. कागज उद्योग में ।
5. रबर को वल्केनाइज करने में ।
6. धातुओं को शुद्ध करने में ।
7. खाद बनाने में।
8. आयुर्वेदीक औषधि बनाने मे।
9. आधुनिक औषधि सल्फाइड के रूप में।
10. चर्म रोग की चिकित्सा में ।
11. जीवाणुरोगों में, फंगस रोग में।
12. पारद दोष को नष्ट करने में।

गन्धक दोष :– दो प्रकार के होते है।

1. कंकड़ पत्थर 2. विष (सांखिया, हड़ताल)

अशुद्ध गन्धक का प्रयोग विष के समान होता है।

विशेष :– शुद्ध गन्धक बुढ़ापा और मृत्यूनाशक होता है यह श्रेष्ठ रसायन है। शुक्र, बल जठराग्नि को बढ़ाता है। सभी प्रकार के त्वचा रोग जैसे – खुजली, कोढ़, दाद, विचर्चिका जैसे रोगो में प्रयोग करते हैं।

गैरिक (गेरू)

यह फेरस आक्साइड आयरन होता है इसका प्रयोग औषधि रूप में प्राचीन काल से होता आया है। अनेक रोगों में गेरू का प्रयोग होता है। प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

पर्याय – गैरिक, रक्तधातु, गिरीमृतिका, लौहधातु, गिरिज आदि ।

भेद – तीन भेद होते है।

1. स्वर्ण गैरिक 2. पाषाण गैरिक 3. साधारण गैरिक

1. स्वर्ण गैरिक का प्रयोग औषधि के लिए करते है ।

2. पाषाण गैरिक से लोहा निकाला जाता है।

3. साधारण गैरिक घर रंगने के काम एवं दन्त मंजन बनाया जाता है।

शोधन :– स्वर्ण गैरिक चूर्ण लेकर गाय की दूध में घोटते है, या घी डालकर भून लेने से गैरिक शुद्ध हो जाता है । गैरिक का भस्म नहीं बनता है।

गुण :– शीत वीर्य, मधुर कषाय रस, होता है।

मात्रा :– 500 मी.ग्रा. से 2 ग्राम तक।

प्रयोग :– 1. पाषाण गैरिक से लोहा निकालते है इसके 75 प्रतिशत लोहा होता है।

2. स्वर्ण गैरिक, औषधि के रूप में एवं सुनारों के द्वारा गहना साफ करते है।

3. घर की रंगाई में।

4. नेत्र रोग, रक्तपित्त, वमन, विष, रक्तस्त्राव, में प्रयोग होता है।

5. चर्म रोगो में प्रयोग होता है।

शिलाजतु या शिलाजीत

आयुर्वेद शास्त्र में 3200 वर्ष पूर्व से शिलाजित का प्रयोग औषधि रूप होता आ रहा है। यह प्रकृति में पहाड़ो के स्त्राव के रूप में मिलता है। सूर्य की प्रखर किरणों से तप्त हो कर स्वर्णादि धातु वाला पर्वत से लाख जैसा स्त्राव निकलता है, और पत्थरों के गड्डों

में जमा हो जाता है, जिसे शिलाजीत कहते हैं। अतः यह चांदी, ताम्बा, लोहा आदि खनिज वाले पहाड़ो में प्राप्त होता है। भारत में उत्तरप्रदेश, कुमाऊं, गढ़वाल, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी के पहाड़ो में पाया जाता है । नेपाल, भुटान में भी शिलाजीत मिलता है।

भेद :– गन्ध के अनुसार दो भेद होते है।

1. गोमुत्रगन्धि 2. कर्पूरगन्धि ।

गोमुत्र गन्धि शिलाजित श्रेष्ठ होता है।

कर्पूर गन्धि शिलाजीत को कलमीसोरा कहते है।

शिलाजीत परिक्षा – एक कॉच के गिलास में पानी भरते है और दियासलाई की तीली में शिलाजीत लगा कर गिलास में डालते है। शिलाजीत सुक्ष्म रेशा जैसा घुलकर नीचे बैठ जाता है एवं गोमूत्र की गन्ध आती है, वह श्रेष्ठ होता है।

शोधन :– शिलाजीत को एक लोहे की कड़ाही में रख कर गोदुग्ध, त्रिफला क्वाथ और भृंगराज स्वरस में 1–1 बार भावना (घोट कर) सुखा लेते है यह शिलाजीत शुद्ध होता है।

भस्म निर्माण :– शुद्ध शिलाजीत बराबर भाग में शुद्ध मैनसिल और शुद्ध हरताल शुद्ध गन्धक डालकर निम्बु रस में भावना देते है और टिकिया बना कर सुखा लेते है । इस टिकीया को शराब सम्पुट में रख कर गजपुट देने से एक ही बार में भस्म बन जाती है।

मात्रा– 12 ग्राम से 46 ग्राम प्रतिदिन देते है यह भस्म 21 दिन तक दे सकते है।

प्रयोग – 1. मात्रा एवं अनुपात भेद से सभी रोगों का नाश करता है।

2. स्वस्थ व्यक्ति में ओज, बल को बढ़ाता है।

3. बुद्धि, शुक, बल, स्मृति को बढ़ाने बाला उत्तम रसायन है।

4. सभी प्रकार के प्रमेह (मूत्ररोग), ज्वर, पाण्डु, मन्दाग्नि, शूल (दर्द), मेदोरोग, गुल्म (ट्यूमर), प्लीहा रोग, त्वचा रोग, हृदय शूल को नष्ट करता है।

तूतिया

इसे कॉपर सल्फेट कहा जाता है। इस का प्रयोग आयुर्वेदीय चिकित्सा में प्राचीन काल से होता आ रहा हैं।

पर्याय : तुत्थ, ताम्रगर्भ, सस्यक, मयूर पंख तुत्थ है।

यह प्राकृति रूप में खानों से मिलता है, एवं कृत्रिम रूप से बनाया जाता है। यह नीला, हरा, लाल तीन रंगों का मिश्रण होता है। जो मयुर के कण्ठ जैसे दिखता है। यह स्वर्णमाक्षिक के खानों अल्प मात्रा में मिलता है। भारत में बिहार (सिंह भूमि), राजस्थान में पाया जाता है।

कृत्रिम तुत्थ निर्माण विधि – ताम्बे के चूर्ण पर सल्फ्युरिक एसिड डाल कर वाष्पीकरण से बनाया जाता है।

तुत्थ शोधन – तुत्थ चूर्ण को दुग्ध में या नीबु रस में तीन भावना दे कर सुखा लेते है वह शुद्ध हो जाता है।

भस्म विधि :– शुद्ध तुल्थ बराबर मात्रा में गन्धक और सोहागा लेकर लकुच (बड़हल) फल रस से भावना देकर टिकिया बना लेते है। इस टिकिया को सुखाकर शराब सम्पुर में कुक्कुटपुर देते है जिससे लाल रंग का भस्म प्राप्त होता है। इस किया को 10 बार दुहराते है।

मात्रा – 125 मिलीग्राम से 250 मिलीग्राम ।

तुत्थ विकार – अशुद्ध तुत्य सेवन करने से वमन (उल्टी), भ्रम होता है।

प्रयोग :–

1. प्रकुपित वात–पित दोष में।
2. विष प्रभाव, हृदय रोग, अर्श, कुष्ठ, अम्लपित्त, विबन्ध (कब्ज) को नष्ट करता है।
3. हर प्रकार के चर्मरोग में प्रयोग करते है।
4. विष या अफीम खान से उत्पन्न उपद्रव में 1 ग्राम तुत्थ भस्म को पानी में देने से उल्टी के साथ पूरा विष निकल जाता है।
5. मिरगी, सुजाक (गनोरिया) कृमिरोग

<u>खर्पर या रसक</u>

इसे खरपरिया कहते है।

पर्याय – ताम्ररंजक, खर्पर, रसक, नेत्र रोगादी यह खनिज रूप में मिलता है।

भेद – रस शास्त्र में दो भेद बताये है।

1. कारवेल्लक – यह करेले के आकार का औषधि के लिए श्रेष्ठ होता है।
2. दर्दुर – यह पत्राकार होता है। भारत में बिहार, पंजाब, राजस्थान, बंगाल मद्रास में मिलता है।

   खर्पर शोधन – खर्पर दुकड़े को आग में तपा कर, नीबु रस, घोड़ा, गौ मुत्र तक (मठा) में बुझाते है। इस तरह सात बार बुझाते है। और खर्पर शुद्ध हो जाता है।

भस्म निर्माण :– खर्पर सममात्रा पारा लेकर खरल में पीसते है फिर धृतकुमारी के रस की भावना दे कर गोला बनाकर बालुका यन्त्र में एक दिन तक कम, मध्य एवं तेज अग्नि में पकाते है। स्वयं ठंडा होने पर गोला निकाल कर पीस लेते है। लाल रंग का भस्म बनता है।

मात्रा :– 125 मिलीग्राम से 250 मिलीग्राम दो या 3 बार ।

अनुपात :– शहद ।

गुण :– शीत, कषाय, कटू, लधु, गुण वाला होता है।

प्रयोग :–

1. सभी प्रकार के प्रमेह रोगों में ।
2. कफ पित्त रोगों में।
3. नेत्र रोगों में।
4. राज यक्ष्मा, कुष्ठ को नष्ट करता है।
5. पारा एवं लोहा को रंगने में प्रयोग होता है।

अभ्रक

यह खनिज रूप में मिलता है। अभ्रक का शुद्धि करने की जरूरत नहीं होती, खान से प्राप्त अभ्रक बाजार में उपलब्ध होता है।

पर्याय :—अनन्तपत्र, अम्बर, अन्तरिक्ष, आकाश, गगन, व्योम, ।

भेद :— अभ्रक के दो भेद पाये जाते है।

1. श्वेताभ्रक 2. कृष्णाभ्रक ।

रस शास्त्र में अभ्रक के चार भेद माने है।

1. पिनाक (श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण वर्ण)
2. नाग (श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण वर्ण)
3. मण्डुक (श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण वर्ण)
4. वज्र (श्वेत, पीत, रक्त, कृष्ण वर्ण)

प्रत्येक पिनाक आदि अभ्रक वर्ण के आधार पर सोलह प्रकार के होते है।

1. पिनाक अभ्रक — आग में तपाने पर पत्र अलग—अलग हो जाते है।
2. नाग अभ्रक—अग्नि पर तपाने से सर्प जैसे फुक मारता है।
3. मण्डुक अभ्रक — अग्नि पर तपाने से फट कर मेढ़क जैसे कुदता है।
4. वज्र — अग्नि पर तपाने से कोई परिवर्तन नहीं होता है।

चुंकि अभ्रक में 3.6प्रतिशत जल होता है। अतः तपाने पर जल वाष्प बनता है, एवं टेड़ी नलियों में होने के कारण वाष्प निकल नहीं पाने की स्थिति में उपरोक्त परिवर्तन होते है। वज्र अभ्रक में जलवाली नलिकाएँ सीधी होती है अतः इसका जल आसानी से निकल जाता है और कोई परिवर्तन नहीं होता। रासायनिक संगठन के कारण इनका वर्ण बनता है। अभ्रक में लोहा और मैग्नेशियम मिला होता है यदि लोहा और मैग्नेशियम ज्यादा मात्रा में है तो अभ्रक का वर्ण काला, यदि अल्प मात्रा में हो तो लाल वर्ण दिखता है। इसी तरह पोटेशियम और सोडियम के कारण श्वेत और पीला रंग दिखाई देता है।

ग्राह्य अभ्रक :– चिकना, मोटे–मोटे पन्नों वाला, कृष्ण वर्ण का अभ्रक श्रेष्ठ होता है इसे औषधि के लिए प्रयोग करते है।

प्राप्ति स्थान :– बिहार के हजारीबाग जिला में गिरीडीह जिला में कोडरमा में अधिक मात्रा में श्वेत और कृष्ण अभ्रक पाया जाता है।

प्रयोग :– 1. अभ्रक, ताप एवं विद्युत का कुचालक होता है अतः विद्युतीय कार्यो में एवं उपकरणों में इसका प्रयोग करते है।

2. बड़े–बड़े मशीनों एवं जहाजों में इसका प्रयोग होता है।

3. अभ्रक के चूर्ण से पेण्ट बनाया जाता है।

4. कागज एवं अन्य उद्योगों में प्रयोग होता है।

5. हवाई जहाज बनाने में काम आता है।

6. आयुर्वेदिक औषधि बनाने में काम आता है।

अभ्रक शोधन :

अभ्रक के पत्रों को अलग–अलग करके तपते आग में गरम करते है, पूरी तरह तप्त हो जाने के बाद गाय का दूध या गाय का मूत्र, या त्रिफला क्वाथ में बुझा दें। यह क्रिया सात बार करने से अभ्रक शुद्ध हो जाता है।

धान्याभ्रक :–

1 कि. ग्रा अभ्रक और 250 ग्राम मोटा धान अभ्रक के छोटे–छोटे टुकड़े करके धान मिला कर बोरा या कम्बल के टुकड़े में डाल पोटली बना लेते है, इस पोटली को निकाल कर एक परात में रखते है फिर जुता पहन कर पैरों से पोटली को रगड़ते है। पोटली को फिर से कॉजी में डालकर हिलाते है। यह क्रिया एक घन्टा तक करने से अभ्रक कम्बल या बोरे से छन कर कॉजी में चला आता है। यह चूर्ण रूप अभ्रक को छान कर अलग कर लेते है। बोरे में छना बालु पत्थर को फेंक देते है। इस अभ्रक को धान्याभ्रक कहते है।

अभ्रक भस्म निर्माण विधि

धान्याभ्रक 500 ग्राम, कासमर्द (कसौदी) के स्वरस (कुट कर निचोड़ कर निकाला गया रस) को खरल (खलबट्टा) में डालकर घोटते है, फिर इसे शराव सम्पुट में रख कर गटपुट देते है। इस क्रिया को 10 बार दुहराने से अभ्रक का उत्तम भस्म बन जाता है।

अमृतीकरण :–

भस्म में अमृत के समान गुण उत्पन्न करना अमृतीकरण है इससे अभ्रक के विषैले प्रभाव खत्म हो जाते है। अभ्रक भस्म का रंग लाल होता है। परन्तु अमृतीकरण के बाद काले रंग का हो जाता है।

अभ्रक भस्म 10 भाग या ग्राम

त्रिफला क्वाथ 16 भाग या ग्राम

गाय का घी 8 ग्राम

तीनों द्रव्यों को एक कड़ाही में डालकर अच्छी तरह से मिलाते है, और मध्य अग्नि में पकाते है। जब घी जल जाता है तो इसे ढक कर तेज ऑच करके छोड़ देते है। स्वयं ठण्डा होने पर इस द्रव्य को चूर्ण कर लेते है। काले चूर्ण को मजीष्ठ क्वाथ में भावना (घोंटना) देकर शराव संम्पुट में गजपुट देते है। ऐसा 4 से 5 बार करने से अभ्रक भस्म का अमृतीकरण हो जाता है।

अभ्रक भस्म का गुण :–

त्रिदोषनाशक बुद्धि, बल, शुक्र, मेधा, आयु बढ़ाने वाला, हृदय को बल देने वाला, केश, वर्ण, धातु को बढ़ाने वाला, बुढ़ापा को नाश करने वाला, शरीर में तुरन्त फैला कर अमृत जैसा फल देता है।

अन्य रोग जैसे :– मधुमेह, व्रण (घाव), कुष्ठ, प्लीहा, उदर दर्द, विष दोष कृमि को नष्ट करता है।

अशुद्ध अभ्रक भस्म से हानि :–

अशुद्ध अभ्रक भस्म के सेवन करने से हृदय रोग, कुष्ठ, क्षय, पाण्डु शोथ, हृदय में पीड़ा, पार्श्व में पीड़ा उत्पन्न करता है।

अपथ्य :–

अभ्रक भस्म सेवन करने वाले को क्षार, अम्ल, दाल, करैला, बैगन, तैल, करीर नही खाना चाहिए।

मात्रा व अनुपात :–

2 रती या 250 मिग्रा., शहद, घी, मक्खन, दुध के साथ ग्रहण करते है।

वैक्रान्त

यह एक महत्व पूर्ण महारस है। लोहे को विकृत कर देता है। इसलिए इसे वैकान्त कहते है। यह खानों से प्राप्त होता है एवं अनेक रंगों मे मिलता है। यह पाषाण (पत्थर) जाती का खनिज है। वैक्रान्त का रस विज्ञान में बड़ा महत्व है। यह हरी, नीली, पीली, लाल, गुलाबी, सफेद, बैगनी आदि रंगों में मिलता है। वर्तमान में आग के रंग का अग्नि वैक्रान्त भी मिलता है।

प्राप्ति स्थल –

भारत, ब्राजील, श्रीलंका, कैलिफोनिया में पाया जाता है।

ग्राहय वैक्रान्त :–

आठ धार वाला, आठ पटल वाला, छः कोणो वाला, चिकना, भारी, एक वर्ण वाला और कई रंगों के मिश्रित वाला वैक्रान्त को उत्तम मानते है। यह सिलीका एल्युमिनीयम, पोटेशियम का मिश्रण होता है।

वैक्रान्त शोधन :–

वैक्रान्त के टुकड़े करके गो मूत्र, अश्वमूत्र, निम्बुस्वरस, में पोटली बांधकर दोला यन्त्र में एक दिन तक स्वेदन करने से शुद्ध और कोमल हो जाता है।

भस्म निर्माण :–

शुद्ध वैक्रान्त को 100 ग्राम लेकर खरल में चूर्ण करते है, और 100 ग्राम शुद्ध गन्धक चूर्ण मिलाकर, नीबु स्वरस से घोंटकर, सुखाकर शराब सम्पुट में भरकर गजपुट देते है यह क्रिया आठ बार करने से वैक्रान्त का लाल कत्थई रंग की भस्म बनती है।

मात्रा – 20 से 30 मि.ग्राम

गुण एवं प्रयोग :–

1. आयु, मेधा, बुद्धि, वर्ण, शुक्र को बढ़ाने वाला।
2. अग्नि को बढ़ाने वाला, पाचक, रसायन है।
3. समस्त विकारों में, पाण्डु, ज्वर, काश, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ, शोथ, बुढ़ापा को नष्ट करता है।

माक्षिक

सोनामाखी, रूपामाखी भी कहते है यह कापर पाईराइट या आयरन पायराइट होता है।

पर्याय –

ताप्य, सुवर्णमाक्षिक, स्वर्णमाक्षिक रौप्य माक्षिक, तापीज कहते है। माक्षिक का आयुर्वेद औषधि के रूप अधिक प्रयोग होता है।

शोधन :–

लोहे की कडाही में सुवर्ण माक्षिक का चूर्ण 500 ग्राम सैन्धा नमक 300 ग्राम मिलाकर मिट्टी के शराव से ढंक देते है, और तीव्र अग्नि में 3 घन्टा पकाते है। तत् पश्चात् कड़ाही उतारकर नीबु रस 500 ग्राम मिलाकर गीला पेस्ट बनाते है। फिर कड़ाही अग्नि पर चढ़ा कर तीन घन्टा तीव्र अग्नि देते है। स्यमं शीत होने पर कड़ाही से खरोचकर कथ्थई रंग का शुद्ध स्वर्ण माक्षिक चूर्ण निकाल लेते है। जिससे नमक का अंश निकल आता है।

भस्म निर्माण :–

शुद्ध किया गया माक्षिक भस्म को, नीबु रस में घोटकर टिकिया बना कर सुखा लेते हैं। फिर इस टिकिया को शराब सम्पुट में रखकर गजपुट देते है। इस तरह 10 बार भावना देकर गजपुर देने से लाल रंग का भस्म बनता है।

मात्राः 125 ग्राम से 250 ग्राम दो बार

अनुपात :– त्रिफला–त्रिकुट–विडंग, घी और शहद

गुण – शीतवीर्य, मधुर कषाय रस पाक में कटु और लघु होता है।

प्रयोग :–

1. वृद्धा जन्य व्याधि में ।
2. असाध्य एवं सभी रोगों में दिया जाता है।

विमल

10 वीं सदी से अबतक औषधि के रूप में विमल का प्रयोग होता आ रहा है। यह लोहा गन्धक तत्वों का यौगिक है।

भेद :– तीन होते है

1. हेम विमल
2. रौप्य विमल
3. कास्य विमल

शोधन :– नीबु स्वरस या वासा स्वरस में दोला यन्त्र के द्वारा पोटली में बांध कर तीन घन्टा तक स्वेदन करते हैं। फिर पोटली से निकाल कर धो लेते है। यह विमल शुद्ध होता है।

मारण (भस्म निर्माण) :– शुद्ध चूर्ण लेकर समभाग गन्धक मिलाकर नीबु स्वरस में भावना देकर टिकिया बना सुखा लेते है। इस टिकिया को शराव सम्पुट कर गजपुट देते है ऐसा 10 बार करने से विमल का लालवर्ण का भस्म बन जाता है।

गुण :– 1. वात पित्तनाशक, शुक्रवर्धक, रसायन

2. पाण्डु, ग्रहणी, उदररोग नाशक है।

कासीस

परिचय :–

कासीस का औषधि प्रयोग अति प्राचीन है चरक संहिता में कासीस का अनेक रोगो में प्रयोग किया गया है। यह प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनो रूप में मिलता है। खानों से प्राप्त होने वाले कासीस थोड़ा पीले रंग का चूर्ण रूप में प्राप्त होता है। इसे पांशु या बालु कासीस कहते है। यह बिहार के सिंह भूमि के माक्षिक खानों में मिलता है। यह पानी में अघुलनशील होता है।

भेद :– चार भेद वर्ण के अनुसार होते है।

1. श्वेत
2. कृष्ण
3. पीस
4. रक्त

कृत्रिम कासीस हरा क्रिस्टल रूप में मिला है जिसे हीरा कासीस

कहते है। इसमें लोहा, गन्धक आक्सीजन और हाइड्रोजन होता है। यह हल्की चोट से चूर्ण बन जाता है, और पानी मे घुलनशील होता है।

शोधन कर्म :– पत्थर के खरल में कासीस को चूर्ण कर लेते है, फिर भृंगराज स्वरस में एक भावना देने से कासीस शुद्ध हो जाता है। अधिक गुण के लिए तीन बार भावना देते है।

भस्म निर्माण :–

शुद्ध कासीस को कांजी द्रव में सात भावना दे कर सुखा लेते है और शराब सम्पुट में कुक्कुट पुट में पकाते है, ठंड़ा होने पर लाल रंग का कासीस निकालकर नीबु रस में भावना देकर टिकिया बानाते है, और गजपुट में पाक करते है । अशुद्ध कासीस, कषाय, अम्ल रस का होता है इसे तब तक गजपुट देते हे जब तक कासीस अम्ल, कषाय रस रहित, लाल रंग का होता है ।

भस्म का गुण :–

1. विष, दाद, व्रण, खुजली, मूत्रत्याग में तकलीफ, अश्मरी (पथरी) को नष्ट करता है।

कफ वात शामक, रक्तवर्धक, कृमि, पाण्डु गुद्भ्रंश, प्लीहारोग नाशक होता है।

मात्रा – 250 ग्राम से 1 ग्राम तक प्रतिदिन ।

अनुपात :– शहद ।

उपयोग :–

1. औषधि रूप में प्रयोग होता है।
2. बालों को काला करने के लिए प्राचीन काल से प्रयोग होते आया है।
3. स्याही बनाने के काम आता है।

स्फटिका (फिटकिरी)

इसे पोटाश एलम कहते है। स्फटिका का औषधि प्रयोग भारत में प्राचीन काल से होते आ रही है। यह प्राचीन और प्रसिद्ध द्रव्य है। इसे अधिकांश कृत्रिम रूप में बनाई जाती है। जिस स्थान की मिट्टी में एल्युमिनियम और गन्धक पाई जाती है। वहा की उपरी सतह की

मिट्टी में कम मात्रा में फिटकरी पाई जाती है। गुजरात (सौराष्ट) में कुछ अधिक मात्रा में मिलने के कारण इसे सौराष्ट्री कहा जाता है।

पर्याय :–

कॉक्षी, फटिका, सौराष्ट्र, शुभ्रा, दृढ़रंगा, रंगदा ।

भेद :–

1. फटकी और फुल्लिका
2. श्वेत, कृष्ण
3. खण्ड, चूर्ण

बाजार में श्वेत, वर्ण की फिटकरी बड़े छोटे क्रिस्टल के रूप में मिलता है।

शोधन विधि :–

चूल्हे में अग्नि पर लोहे की कडाही चढ़ा कर फिटकरी चूर्ण को डालते है। और फैलाते है। फिटकरी चूर्ण जल रूप में आ जाता है थोडे देर में धीरे–धीरे जल सुख कर स्फाटिक का लावा बन जाता है। जिसे ठंड़ा होने पर चूर्ण कर शीशी में भर लेते है।

सत्व पातन विधि :–

शुद्ध फिटकरी को नीबु रस में मर्दन (पीस) कर सुखा ले और मुषा पर रखकर अग्नि देते है सफेद सत्व निकलता है।

मात्रा :– 250 से 1 ग्राम प्रतिदिन ।

गुण :–

1. कषाय और अम्ल मिश्रीत रस है। कुष्ठ रोग– विष, व्रण, नष्ट करती हैं।
2. त्रिदोष शामक हैं।

प्रयोग :–

1. नाक से रक्तस्त्राव में इसके चूर्ण लगाने से रक्त स्त्राव बन्द हो जाती है।
2. कही भी बाहरी रक्त स्त्राव में इसके चूर्ण लगाने से रक्त स्त्राव

बन्द हो जाती है।

3. गनौरिया में फिटकरी को पानी में घोल कर उत्तर बस्ति (मूत्रमार्ग मे डालना) देते है।
4. योनिगत श्वेत स्त्राव, योनि की शिथिलिता में योनि प्रक्षालन (धोना) करते है।
5. गुलाब जल 50 मिलि. + 1 ग्राम फिटकरी के घोल को नेत्र रोगों में बुन्द बनाकर डालते हे।
6. रक्तपित्त में 250 ग्राम रस सिन्दुर के साथ 250 ग्राम शुद्ध फिटकरी देते है।
7. फिटकरी और सेन्धा नमक का मंजन सभी प्रकार के दन्त रोग को नष्ट करता है।

हरताल

पर्याय :– नटभुषण (नौटंकी वाले चेहरे में लगाते है।) वंशपत्र, पिंजर, ताल, हरिताल, खर्जूर, विडालक, शैलुष भुषण।

परिचय :–

भारतीय इतिहास का बहुत प्राचीन द्रव्य है जिसका विभिन्न रोगो में औषधि के रूप में प्रयोग लिखे है। यह कुष्ठ का मुख्य औषधि है। यह खनिज रूप एवं कृत्रिम रूप में मिलता है। सुरत एवं कलकत्ता में बनाया जाता है ज्यादातर विदशों से आता है।

भेद :–

1. पत्रताल
2. पिण्डताल

पत्रताल सोना जैसा चमकीला और पीतवर्ण का तथा भारी होता है इसी का औषधि में प्रयोग किया जाता है। यह एक के बाद एक पत्रों से युक्त होता है।

शोधन विधि :–

100 ग्राम पत्रताल के टुकड़े करके एक मोटा कपड़े में पोटली बांधकर कुष्माण्ड (रखीया) रस में लटका कर रस को उबालते है।

(स्वेदन करते है।) कुष्मांड रस की जगह, नीबु रस, चूने का पानी, धृतकुमारी रस भी प्रयोग करते है। यह स्वेदन तीन घन्टे तक करने से हरताल शुद्ध हो जाता है। पानी के साथ पीसकर चमकरहित बनाते है।

भस्म निर्माण :– 2 किग्रा. पलाश त्वक (छाल) 8 किलो जल में पकाते है जब जल एक किलो शेष रहता है तो छानकर छाने हुये क्वाथ को फिर पकाते है। जब शहद जैसा गाढ़ा हो जाता है तो 100 ग्राम शुद्ध हरताल चूर्ण को पलाश क्वाथ में 3 बार घोंटते है, अन्त में एक बार भैस के मूत्र में घोंटकर (भावना) देकर छोटी–छोटी टिकिया बनाकर, शराब सम्पुट में 10 जंगली उपलों (जंगल में पड़ा सुखा गोबर) से अग्नि देते हैं। ऐसा 12 बार करते है। प्रत्येक बार पलाश क्वाथ से तीन बार एवं भैस मूत्र से एक बार भावना देते है।

मात्रा :– 60 मिलीग्राम से 125 मिलीग्राम दो बार शहद के साथ।

गुण :– उष्ण वीर्य, कटुरस, कफ, दुष्ट रक्त, विष, कृमि, को नष्ट करता है। अग्नि को बढ़ाने वाला, कुष्ठ रोग नाशक, त्वचा को सुन्दर बनाता है और रसायन है।

प्रयोग :– 1 आयुर्वेदिक औषधि के रूप में ।

2. बाल (केश) गिराने के लिए ।

3. रंगने के लिए।

4. उद्योगों में इसका प्रयोग होता है।

मैनसिल या मनःशिला

पर्याय –

नागजिम्हीका, नागमाता, कल्यानिका, गोला, मनोगुप्ता, नेपालिका, रसगन्धक, रसनेत्रिका, नेपालिका।

परिचय :–

भारत में औषधि के रूप में प्राचीन काल से प्रयोग होता आ रहा है। चरक संहिता में रोगों पर बहुत प्रयोग मिलते है। मनः शिला खनिज एवं कृत्रिम दोनो रूप में मिलते है चीन, भारत में कुर्मायु में मिलता है।

भेद :– 1. श्यामांगी, 2. कणवीर का 3. खण्डाक्या

श्यामांगी मैनसिल, लाल थोड़ा पीले रंग का होता है वजन में भारी होता है जो औषधि के रूप में प्रयोग होता है।

शोधन :– 100 ग्राम मनः शिला चूर्ण को अदरख रस में सात भावना देते है। और सुखा लेते है। अदरख की जगह नीबु रस भी लेते है।

गुणः–

1. कटु, तिक्त, रस, उष्ण वीर्य होता है।
2. कफ वात नाशक, घाव को शुद्ध करके नया मांस भरता है।
3. स्निग्ध, विष, श्वासरोग, रक्त विकार को नष्ट करता है।
4. संक्रामक रोग, अग्नि के मन्द होने पर क्षय, खुजली ज्वर को नष्ट करता है।

मात्रा :–60 मिग्रा से 125 मिग्रा. दो बार–

मनःशिला सेवन करने से यदि विकार उत्पन्न हो तो 3 दिन तक 1/2 लिटर दूध में 250 ग्राम शहद मिलाकर पिलाते है।

अंजन

परिचय :–

यह अतिप्राचीन द्रव्य है चरक संहिता एवं सुश्रुत सहिंता में अनेक स्थलों पर कई प्रकार के अंजनों का वर्णन मिलता है।

भेद :– 1. सौवीराजंन 2. स्त्रोतोजंन 3. नीलांजन

4. पुष्पाजंन 5. रसांजन

पर्याय –

1. सौवीरांजन–कृष्णांजन, सुवीरथ, सौवीर,
2. स्त्रोतोअजंन – कपोत अंजन, यामुनेय, स्त्रोतोज
3. नीलांजन – सुकर्णधन, शक्रभूमिज
4. पुष्पांजन – कुसुमांजन, कौस्तुभ, क्षीतिज
5. रसाजन – अग्निसार दार्वीक्वाथ, रसाग्रज, कृतक, बालभैषज्य, रसोद्रव, तार्क्ष्वशैल, रसगर्भ।

इसमें से सौवीरांजन, स्त्रोतोजन, नीलाजंन ये तीन खनिज है यह बिहार और शेष पुष्पार्जन, रसाजन कृत्रिम रूप से बनाई जाती है।

रसांजन निर्माण विधि – 1 किलो दारू (देवदार) हरिद्रा का ताजा काष्ठ लेकर टुकड़े कर यवकुट कर और आठ किलों रहे तो पानी में उबाले, उतारकर छान लेंगे, छने हए क्वाथ में 250 ग्राम बकरी का दूध मिलाकर अग्नि पर गाढ़ा करते है। गाढ़ा होने लगे तो एक परात में फैला कर 15 दिनों तक धूप में सुखा लेते है। यह दिखने में काला पिण्ड जैसा दिखता है जो पानी में घोलने पर पीला रंग का द्रव हो जाता है। यह दारूहरिद्रा का वृक्ष जम्मु कश्मीर में अधिक पाया जाता है।

शोधन – सभी अंजनों में भृंगराज स्वरस की सात भावना देने से शुद्ध हो ताजा है।

अंजनों का गुण :–

1. सौवीरांजन शीत वीर्य, रक्तपित्त विष, हिचकी को नष्ट करता है एवं घाव को भरता है।
2. स्त्रोतांजन – शीत वीर्य स्निग्ध, कषाय रस नेत्र रोगो का लेखन (खुरचना), हिंचकी, विष, वमन (उल्टी) कफ, पित्त और रक्त रोग को नष्ट करने वाला होता है।
3. रसाजंन – यह पीत वर्ण का विष, कान के रोग, दमा, हिचकी, वात पित्त से उत्पन्न रोग रक्त रोग को नष्ट करता है । घाव (व्रण) को भरता है।

पुष्पाजंन – यह श्वेत वर्ण का होता है। शीत स्निग्ध सभी नेत्र रोगों का नाश करने वाला हिचकी और विषमज्वर (मलेरिया) को नष्ट करता है।

नीलांजन – भारी, चिकना, नेत्र रोग, त्रिदोषज रोगनाशक रसायन है।

प्रयोग –

प्राचीन काल से ही सभी अंजनों का प्रयोग औषधि रूप में होता आया है।

1. सौवीरांजन – औषधि के रूप में प्रयोग होता आया है।

2. स्त्रोतांजन – आतिशबाजी, दियासलाई के लिए उपयोगी है।
3. नीलाजंन – धातुकर्म में उपयोगी है।
4. पुष्पांजन – व्रण (घाव) त्वचा रोग के लिए उपोगी है।
5. रसांजन – नेत्र रोगों में व्रण नाशक एवं व्रण शोधक के रूप में प्रयुक्त होता है।

कंकुष्ठ – **Gambase tree**

पर्याय –

तीक्ष्ण दुग्धिक, वरांग, तालकुष्ठ, कोलबाल्लूक रंगदायक, हेमवती।

परिचय –

संहिताओं में इस के विषय में अलग मत है, आर्चाय सुश्रुत कंकुष्ठ को कांचन क्षीरी वृक्ष का निर्यास मानते है। आचार्य वाग्भट्ट कंकुष्ठ को वनस्पति द्रव्य माना है। वर्तमान में गैम्बोज टी निर्यास को कंकुष्ठ माना जाता है, इसी से कंकुष्ठ बनाया जाता है। इस वृक्ष को संस्कृत में तमाल वृक्ष कहते है सिंगापुर, थाईलैण्ड में पाया जाता है इसके तना को छेदकर बांस की नली लगाते है, जिससे पीत वर्ण (पीला) का रस निकल कर बांस की नली में एकात्रित हो जाता है। नली भर जाने पर दुसरा नली लगा देते है। इस तरह नली में जमा सुखा पीले रंग के कंकुष्ठ निकाल लेते है। इस तरह रस को एकत्रित करते है।

कंकुष्ठ विदेशो से आता है।

भेद – रस शास्त्र में दो प्रकार के कंकुष्ठ पाये जाता है।

(1) नलिका कंकुष्ठ (2) रेणुक कंकुष्ठ (चूण)

(1) नलिका कंकुष्ठ :– यह रक्ताभ पीत, भारी, स्निग्ध होता है और औषधि के रूप में प्रयोग करते है।

(2) रेणुक – यह चूर्ण रूप में हल्का श्याम पीत है। यह निकृष्ट होता है।

कंकुष्ठ शोधन – एक खरल में कंकुष्ठ को चूर्ण कर शुष्ठी क्वाथ की तीन भावना देने से कंकुष्ठ शुद्ध हो जाता है ।

शुद्ध कंकुष्ठ का गुण – रस में तिक्त, उष्ण वीर्य है यह तीव्र विरेचक है। व्रण, शूल, गुल्म, प्लाहा रोग, अर्शनाशक है।

मात्रा – 30मि.ग्रा. से 60 मि.ग्रा.

प्रयोग – 1. विरेचन के लिए प्रयोग करते है।

2. रंगने के लिए प्रयोग करते है।

साधारण रस वर्ग

इस वर्ग में आठ द्रव्य आते है।

ट्र

1. कम्पिल्लक	2. गौरी पाषाण	3. नवसादर
4. कपर्द (कौड़ी)	5. अग्निसार	6. गिरीसिंदुर
7. हिंगुल	8. मृदारश्रृंग	

कम्पिल्लक (Kamila)

परिचय –

इसे हिन्दी में कबीला कहते है। यह प्राचीन काल से चिकित्सा में प्रयुक्त होता आ रहा है, चरक संहिता में भी कई स्थानों में इसका प्रयोग लिखा है। साथ ही सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह में इसका वर्णन है। यह अत्यन्त उपयोगी द्रव्य है, सह वनस्पति द्रव्य है, भारत में हर जगह इसके वृक्ष पाये जाते है। पत्ते गुलर के पत्ते जैसे होते है, भादों एवं कुआॅर माह (अगस्त–सितम्बर) में इसके फूल लगता है, एवं ठंडे के मौसम में छोटे फल लगते है। फल पकने पर इसके उपर छोटे–2 दाने या रज (कण) जम जाते है। पके फल को सुखाकर एवं रगड़कर यह कण संग्रह करते है, यही फल रज लाल चूर्ण के रूप में होता है। यही काम्पिल्लक है। यह लाल रंग का दरदरा, चमकदार चूर्ण पानी में डालने में तैरता है। एवं घुलता नहीं है। आग में डालने से बारूद जैसा जलता है।

पर्याय – रक्तपूर्ण, रेचन, कर्करा, चन्द्र

शोधन – चूर्ण को एक बाल्टी पानी में डालकर पानी को अच्छी तरह हिलाते है, जिससे मिट्टी या कंकड़–नीचे बैठ जाता है और कम्पिलक पानी के उपर तैरता है, जिसे निथारकर छान लेते है। इससे कम्पिलक शुद्ध हो जाता है।

गुण –अति रेचन (दस्त कराने वाला), पित्त शामक, व्रण, आध्मान (पेट फुलना), कृमि, गुल्म, अर्श कफ रोग नाशक होता है।

मात्रा– 1 माशा– अनुपान – उष्ण जल से।

कम्पिल्लक का प्रयोग

प्रयोगः–

1. औषधि के रूप में अधिक प्रयोग होता है।
2. रेचन कर्म के लिए प्रयोग करते है।
3. कुष्ठ आदि अनेक चर्म रोग में प्रयोग करते है।
4. कृमि नाश के लिए प्रयोग करते है।

शंखिया

परिचय –

इसे गौरी पाषाण कहते है। यह प्राचीन और्षधि द्रव्य है। संहिताओं में इसका प्रयोग मिलता है। यह प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनो रूप में मिलता है। प्रकृति में खानों में पाया जाता है। कृत्रिम रूप में आर्सेनिक–पायराइट को आक्सीकृत करके आर्सेनिक आक्साइड के रूप में प्राप्त करते है। बिहार, दार्जिलिंग में माक्षिक के खानों में प्राप्त होता है। प्रायः चीन से आयात करते है।

पर्याय–सोमल, शंखविष, चारूमोच, आखुपाषाण, मुषक, मल्हाक फेनाश्म इत्यादि।

शोधन – संखिया को चूर्ण करके साफ एवं मोटे कपड़े में बांधकर दूध में दोला यंत्र के द्वारा तीन घन्टे तक स्वेदन (पकाना) करते है। फिर निकालकर गर्म जल से धो लेते है।

शंखिया भारण – 10 ग्राम शुद्ध शंखिया को लाजवन्ती के कल्क के बीच रखकर शराव सम्पुट करते है। फिर सुखने पर उपलो (छेना) से पकाते है, उपलो की संख्या 10 होनी चाहिए। स्वयं ठण्डी हो जाने पर भस्म को अलग कर लेते है। यह किया सात बार दोहराते है।

गुण– 1. शुद्ध शंखिया, रसायन, शुक्रवर्धक, बल देने वाली है।

2. कफ – वात रोगनाशक।

3. श्वास, कास, शीत ज्वर, श्लीपद, फिरंग और संन्धिवात नाशक है।

मात्रा – बहुत सूक्ष्म मात्रा जैसे 10 मिग्रा. किसी अन्य द्रव्य के साथ मिलाकर देते है।

प्रयोग – 1. औषधि के रूप में प्रयोग करते है।

2. प्राचीन काल में शत्रु को मारने के लिए विष के रूप में प्रयोग करते थे।
3. आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में औषधि के रूप में बहुत प्रयोग होता है।
4. कांच और रंग बनाने में।
5. मक्खी मारने की दवा के रूप में प्रयोग होता है

नौसादर

परिचय :– नौसादर का प्रयोग प्राचीन काल से औषधि के रूप में हो आया है। यह क्षार (अल्केलाइड) है जो खनिज रूप में पाया जाता है यह अमोनिया क्लोराइड है। यह कृत्रिम बनाया जाता है, इटली में सिसली के ज्वालामुखी के पास इस का खदान है। भारत में करीर, अपामार्ग आदि वनस्पति को जलाकर उसके राख से प्राप्त की जाती हैं।

शोधन – 100 ग्रा. नवसादर को 300 ग्रा जल में घोलकर, मोटे एवं साफ वस्त्रों से 2 बार छान लेते है। इस छने हुये घोल को आग से सुखाकर नौसादर प्राप्त किया जाता है।

गुण – 1.श्वेत वर्ण का क्षार हैं।

2. उच्च स्तर का पाचक होता है।
3. गुल्म प्लीहा, मुख शोष (व्रण), पेट का फुलना में प्रयोग करते हैं।
4. कफ के रोगों में पारद जारण में प्रयोग होता है।
6. लोहे को द्रव बनाने में प्रयोग होता है।

मात्रा 250मिग्रा से 1 ग्राम तक

अनुपान – जल से।

प्रयोग –

1. औषधि के रूप में प्राचीन काल से प्रयोग होती है।
2. बर्तनों पर कलई करने में उपयोगी है।
3. धातुओं को गलाने में।
4. प्रयोग शाला में अवकारक के रूप में।

<u>कर्पद</u>

यह कैल्शियम कार्बोनट है। इसे कौड़ी कहा जाता है।

<u>नाम</u> – वराटिका, हिन्दी–कोड़ी, अंगेजी – Covries

<u>पर्याय</u> – कपर्दचर वरार कपर्दक चराचर वराटक कपर्दी।

<u>परिचय</u> – वराटिका का ज्ञान भारतीयों को अतिप्राचीन है। संहिताकाल से वराटिका का उल्लेख मिलता है।

चरकसंहिता में वराटिका का उल्लेख मिलता है। तथा वराटिका के भस्म का भी वर्ण है और अन्य संहिताओं में तो उसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। वराटिका जलज एवं समुद्री प्राणी (मोलास्का वर्ग प्राणी) का बाहरी एवं पृष्ठभाग है। इसके अंदर ''मोलस्का वर्ग'' का प्राणी पलता हैं यह हमेशा समुद्रो एवं बड़े जलाशयों मे प्राप्त होता है। समुद्री लहरो के द्वारा वराटिका का प्राणी किनारे पर आ जाता है। जिसको मछुवारे एवं अन्य मांसाहारी लोग इकट्ठा कर लेते है। इस प्राणी को उबलते हुए पानी में छोड़ देते है, अतः इसके अंदर का प्राणी मरकर सिकुड़ जाता है। जिसे निकाल कर खा जाते है और शेष पृष्ठ भाग ही वराटिका है जिसका संग्रहोपरांत व्यापार किया जाता है।

यह सभी देशों के समुद्रों तथा बड़े–2 जलाशयों में पाया जाता है।

<u>भेद</u> – आकार के अनुसार इनके भेद किए गए है।

1. डेढ़निस्क 2. एकनिस्क 3. पौननिस्क

डेढ़निस्क के वराटिका को उत्तम माना गया है, यह पीतवर्ण की, पीठ पर गांठ वाली, लंबी और गोल होती है।

<u>उपयोग</u> –

1. औषधि के रूप में प्रयोग होती है।
2. बच्चे एवं अन्य लोग खेलते है।
3. छोटे बच्चो में ग्रह निवारण के लिए माला बनाकर पहनाते है।

शोधन – एक हंडी में एक किलो कौड़ी रखकर उसमें चार किलो कांजी डालकर मंद अग्नि में 3 घंटे तक स्वेदन करते है, पश्चात गरम जल से धोकर धूप में सूखा लेते है।

भस्म निर्माण – शुद्ध कौड़ी को 2 शरावों के बीच रखकर बंद कर देते है। सूख जाने के बाद गजपुट देते है स्वयं ठंडा होने पर कौड़ी निकालकर चूर्ण कर लेते है, इस चूर्ण को धृतकुमारी रस में भावना देकर टिकिया बनाकर सुखाते है। फिर से शराव में बंद करके गजपुट देते है। यह स्वयं ठंडा होने पर सफेद रंग का भस्म प्राप्त होता है।

गुण –

1. कटुरस, उष्ण वीर्य, तथा क्षारीय होता है। तथा पाचन, दीपन , शुक को बढ़ाने वाला नेत्र रोग में गुणकारी होता है।
3. ग्रहणी, परिणामशुल (अल्सर), अम्लपित्त होता है।
4. कान से होने वाले स्त्राव को नष्ट करता है।

अम्बर

इसे संस्कृत में अग्निजार हिन्दी में अम्बर कहा जाता है।

पर्याय – अग्निज, अग्निगर्भ, अग्निजार, जरायु अग्निनिर्यास सिंधु पल्लव, सिंधुफला

परिचय– समुद्र में पायी जाने वाली अग्नि (व्हेल) नामक मछली का सड़ा हुआ आंत का भाग होता है। यह गीला रहने पर दुर्गंधित होता है परंतु सूखने पर सुगंधित हो जाता है। अग्निजार बहुत हल्का कबूतर के रंग का सुगंधित द्रव्य है, यह पानी में डालने से तैरता है, घुलता नहीं, जलाने से दुर्गंध के साथ जलता है। श्रीलंका और भारतीय समुद्रों मे पाया जाता है।

प्रयोग –

1. विभिन्न रोगों में औषधि के रूप में प्रयोग होता है।
2. सुंगंधित द्रव्यों के निर्माण में।
3. पारद जारण के लिए ज्यादा प्रयोग होता है।
4. अम्बर का शोधन मारण नहीं किया जाता।

गुण –

1. यह कटुरस, उष्णवीर्य होता है
2. वात पित्त कफनाशक है। विशेषकर वातकफ नाशक है।
3. रक्त रोग, सन्निपात, शूल (दर्द) कीटनाशक रोग को नष्ट करता है।
5. रस वीर्य को बढ़ाने वाला मेदोरोग नाशक होता है।

मात्रा – 125 मिग्रा– 250 मिग्रा. शद्ब, मक्खन, घी के साथ प्रयोग करते है।

हिंगुल

इसे सिंगरफ भी कहते है।

पर्याय – चूर्णपारद, दरद, म्लेच्छ रस गर्भ लोहघ्न शुकतुण्ड, हंसपाद ।

परिचय – यह पारद और गंधक का यौगिक होता है जो स्वाभाविक एवं कृत्रिम दोनो रूपों में मिलता है। प्राकृतिक हिंगुल इटली और स्पेन के खाने में मिलता है, कृत्रिम रूप से सभी जगह बनाया जाता है।

भेद – 1. चार्मर 2. शुकतुण्ड 3. हंसपाद

हंसपाद हिंगुल उत्तम माना जाता है। यह प्रवाल या जवाकुसुम फूल की तरह लाल होता है। हिंगुल पारद एवं गंधक का यौगिक है, पारद 1 भाग और गन्धक 1 भाग मिलाकर मृदंगयंत्र (यंत्र विशेष) में अग्नि के माध्यम से पकाते है और बाद में उर्ध्वपातित होकर रक्त वर्ण का मोटा दल के रूप में हिंगुल बन जाता है, जिसे तोड़ने पर सुच्याकृति रूप में बिखरता है। यह पीसने पर अति रक्त वर्ण का हो जाता है। पारद में विशेष चमक होती है।

उपयोग –

1. पारद प्राप्त करने के लिए।
2. औषधि के रूप में।
3. दर्पण बनाने में।

शोधन – हंसपाद हिंगुल 100 ग्राम लेकर नीबू रस या अदरक

रस में सात बार भावना देकर सूखा लेते है।

भस्म निर्माण – शुद्ध हिंगुल पातना यंत्र के द्वारा सत्व के रूप में प्राप्त करते है।

गुण –

1. तिक्त और कषाय कटुरस से युक्त होता है।
2. त्रिदोषनाशक एवं उत्तम कोटि का रसायन होता है।
3. अग्निदीपक, बाजीकारक एवं सभी रोग को नष्ट करने वाला होता है।
4. नेत्र रोग कुष्ठ, ज्वर, कामला (पीलिया), प्लीहा, आमवात, विष नाशक होता है।
5. पारद को जारण करता है।

मात्रा – इसे दुसरे द्रव्यों के साथ मिलाकर प्रयोग करते है।

मुर्दारश्रृंग

इसे संस्कृत में मुर्दारश्रृंग कहते है ।

पयार्य – बोदासंग, मुर्दारशंख, मुर्दाशंख

परिचय – आठवी शाताब्दी के रस ग्रंथो में इसका उल्लेख मिलता है। चिकित्सा में इसका बाह्य प्रयोग होता है, यह खनिज और कृत्रिम दोनो रूपो में प्राप्त होता है। शीशा धातु को लोहे की कड़ाही में तेज आंच में पिघलाने से मुर्दारश्रृंग बन जाता है। यह नारंगी रूप के कण में प्राप्त होता हैं। राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश में पाया जाता है।

भेद – 1. पित्त वर्ण : यह सदल एवं खनिज रूप में पाया जाता है।

2.पांडुवर्ण : यह निर्दल एवं कृत्रिम रूप में पाया जाता है। मुर्दाशंख रक्त मिश्रित पीले रंग का होता है, जो चमकदार मणि के रूप में दिख्ता है यह पानी में अघुलनशील है। पीसने पर भी रंग वैसा ही होता है।

प्रयोग –

1. औषधि के रूप में बाह्य प्रयोग करते है।

2. नाटक नौंटकी में चेहरे पर लगाते है।

3. कांच बनाने में ।

चीनी मिटटी के बर्तन बनाने में।

सिंदुर बनाने में।

शीशा धातु निकालने में प्रयोग करते है।

शोधन – मुर्दाशंख को पीसकर कपड़े से छान लेते है तथा चूर्ण को साफ पानी से घोंटकर सुखा लेते है। इस तरह मुर्दाशंख सुख जाता है।

गुण – 1 घाव को शुद्ध करके भरने वाला होता है।

2. चर्मरोग नाशक।

गिरीसिंदुर

इसका किसी भी तरह का औषधि प्रयोग नहीं होता इसमें पारद का कुछ अंश प्रयोग होता है। जो देखने में लाल होता है।

पारद

इसको पारा या मर्करी कहा जाता है।

पर्याय – शिव तेज, शिव, रसेन्द्र, महारस, अमृत, चपल, पारद, मृत्यु नाशक, लोकेश, रसेश्वर, सौभाग्य, सुतराज पूराणों में पारद को शिव से उत्पन्न माना गया है। इसको भगवान शिव का वीर्य माना गया है।

भेद – 1. रस 2. रसेन्द्र 3. सूत 4. पारद 5. मिश्रक

पारद खनिज और मिश्रण दोनो रूप में पाया जाता है। हिंगुल पारद का मुख्य खनिज है। जिसमें 70–85 प्रतिशत तक खनिज है पारद अनेक खनिज के रूप में प्राप्त करते है। आफ्रीका आस्ट्रेलिया यूरोप के ज्वाला मुखी पर्वतीय क्षेत्रों में पाया जाता हैं चीन में भी पारद पाया जाता है।

दोष – पारद के तीन दोष होते है।

1. नैसार्गिक दोष – चुंकि पारद खनिज द्रव्य है, अतः खानो में ही धातुओं के मिश्रण इसमें रहते है अतः इसे स्वाभाविक दोष कहा

जाता है। इसके अंतर्गत पारद में तांबा, नाग (शीशा), वंग (रांगा), रजत (चांदी) आदि के मिश्रण पाए जाते है।

2. यौगिक दोष – इसमें नाग और वंग मिला हुआ होता है।

3. अवपाधिक दोष – पृथ्वी पर पारद के संर्पक में आने वाले दोष को अवपाधिक दोष कहते है। मिट्टी, पत्थर, विषाक्त जल का पारद में मिल जाना। इसे सप्तकंचुक दोष भी कहते है। विभिन्न रस शास्त्र के आचार्यो ने पारद के 9 दोष माने है।

1. विषदोष – यह स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है, पृथ्वी के अंदर में पारद स्वाभाविक रूप में आर्सेनिक, एंटीमनी, लेड साल्फाइड, बिस्मथ तथा लेड और टिन विषैले द्रव्य मिले रहते है। ऐसे विषाक्त पारद को खाने से मृत्यु हो जाती है ।
2. वर्हिदोष –भूगर्भ में पारद जब वाष्प रूप में उड़ता है, तब उसमें अन्य धातुएं मिल जाती है उसे वर्हि दोष कहते है पाषण, त्रिण, उष्ण, आग्नेय गुण वाले, द्रव्यो का पारा में मिश्रण हो जाता है। वह्नि दोष कहा जाता है।
3. मलदोष –पारद में नैसर्गिक रूप से मल दोष रहता है। धातुओ के स्वाभाविक मिश्रण के कारण पारद का स्वरूप मलिन हो जाता है।
4. असहाग्नि दोष – पारद अत्यधिक अग्नि पर उड़ जाता है, अतः जो पारद का स्वाभाविक गुण है, अतः यह पारद का स्वाभाविक गुण है। पारद में कैल्सियम आदि उड़नशील द्रव्य मिले होने के कारण अग्नि को सह नही पाता और वाष्प बनकर उड़ जाता है।
5. चापल्य दोष – पारद में बिस्मथ मिले होने के कारण पारद अत्यधिक चंचल हो जाता है। इसे चापल्य दोष कहते है।
6. गिरी दोष – गिरी सिंदुर युक्त पारद को गिरी दोष कहा जाता है।
7. मददोष – पारद में धातुओं के मिश्रण हो जाने पर जो विकृति होती है उसे मद दोष कहते है। इसके सेवन से मनुष्य पागल हो जाता हैं
8. नाग दोष – शीशा मिल जाने से यह नागदोष कहलाता है।

9. वंगदोष – रांगा मिला हुआ पारा वंग दोष कहलाता है।

सप्तकंचुक दोष – पारद के उपर अन्य धातुओ का आवरण जैसे बन जाना सप्त कंचुक दोष कहते हैं। यह आवरण विभिन्न खानो से निकलने वाले पारद में भिन्न–भिन्न होता है। जैसे सोना, शीशा चांदी लोहा का आवरण बनना।

पारद शोधन – पारद के दोषो को दुर करने के लिए इसका शोधन किया जाता है, यह 2 प्रकार का होता है।

1. सामान्य शोधन जिसका प्रयोग रोग निवारण के लिए करते है।

2. विशिष्ट शोधन जिसका प्रयोग रसायन के रूप में करते है।

सामान्य शोधन – शुद्ध पारद 600 ग्राम

शुद्ध गंधक 50 ग्राम दोनों को मिलाकर पत्थर के खरल में तीन दिन तक मर्दन करने से कज्जली बनता है, जिसे नीबू रस में एक दिन मर्दन कर सुखाने पर पातन यंत्र में रखकर तिर्यक पालन करते है।

इस विधि को सात बार करने से पारद शुद्ध हो जाता है।

2. 5 प्रतिशत नाइद्रिक एसीड के घोल में पारद को 24 घंटा रखने के बाद छानकर निकाला हुआ पारद शुद्ध रहता है।

विशेष शोधन विधि – पारद में उप नैसर्गिक यौगिक और सप्तकंचुक दोष का दुर करना विशेष शोधन कहलाता है जिसमें अलग–2 दोषो के लिए अलग–2 विधि अपनाई जाती है।

पारद का संस्कार – रसायन प्रयोग के लिए पारद के मल एवं विष को नष्ट करने के किया की संस्कार कहते है

पारद संस्कार 18 बताई गई है।

1. स्वेदन 2. मर्दन 3. मुर्च्छन 4 उत्थापन 5 पातन 6 रोधन या बोधन 7 नियामन 8. दीपन 9. गगन भक्षण 10 चारण 11. गर्भद्रुति 12 बाह्यद्रुति 13 जारण 14. रंजन 15. शारण 16 संकामण 17 वेध 18 भक्षण

1. स्वेदन संस्कार – क्षार, अम्ल द्रव्यो के साथ दोलायंत्र में पारद को पकाया जाता है उसे स्वेदन संस्कार कहते है। इससे पारद

का मल दोष शिथिल होता है।

2. मर्दन संस्कार – स्वेदन से प्राप्त पारद को नीबू रस से गरम खरल में लगातार मर्दन (रगड़ना), करना मर्दन संस्कार है इससे पारद के बाहरी दोष दूर होते है।

3. मुर्च्छन संस्कार – मर्दन संस्कार से प्राप्त पारद को पुनः तीन दिन तक मर्दन करने से पारद की चंचलता नष्ट होकर, स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। जिसे पारद का मुर्च्छन कहते है।

4. उत्थापन संस्कार – मुर्च्छीत पारद को स्वाभाविक–अवस्था में लाना उत्थापन संस्कार है।

उत्थापन संस्कार में पांच कियाएं होती हैं

(अ) स्वेदन – कांजी में दोलायंत्र के द्वारा स्वेदन।

(ब) प्रक्षालन – गरम पानी में दोला यंत्र के द्वारा स्वेदन।

(क) मर्दन – गरम जल से गरम खरल में मर्दन करने से मुर्च्छीत पारद से पारद कर्ण अलग एवं पानी अलग हो जाता है। पारद खरल की तली में बैठ जाता है।

(क) आतप – तेज धूप में पारद को सुखाते है।

(ख) पातन – पातन कर्म से पारद के सभी दोष मिट जाने है। ये तीन प्रकार का होता है।

1. उर्ध्व पातन 2. अध पातन 3. तिर्यक पातन यह तीनो विधि पारद को वाष्प रूप में बदलकर पुनः द्रव्य रूप लाने की है।

6. रोधन या बोधन संस्कार – स्वेदन, मर्दन, मुर्च्छन, उत्थापन एवं पातन से पारद अपनी स्वाभाविक चपलता को खो देता है और मृतप्रायः हो जाता है, अतः पुनः पारद में शक्ति या चंचलता लाने वाली संस्कार को रोधन या बोधन संस्कार कहते है। इस विधि में एक घड़ा में 500 ग्राम सामुद्र लवण डालकर, चार लिटर पानी में, दोला यंत्र द्वारा पारद की पोटली का स्वेदन तीन दिन तक करते है।

7. नियामन संस्कार – रोधन संस्कार से प्राप्त पारद में अत्यन्त बल एवं चपलता आ जाती है इस शक्ति को नियंत्रित करना, नियामन

संस्कार है। पारद की मात्रा का सोलहवां भाग प्रत्येक द्रव्य पान, लहसून, सेंन्ध व भृंगराज बन्ध्याकार्कोटी, इमली का कल्क बना कर कांजी में घोल देते है, तत्पश्चात रोधित पारद को मोटे कपड़े में बांधकर, कांजी वाले घड़े में दोला यंत्र से तीन दिन तक स्वेदन करते है इससे पारद स्थिर हो जाता है।

8. दीपन – फिटकरी, कसीस, टंकण कालीमिर्च सैन्धव लवण, राई और सहिजन (मुनगा) सभी द्रव्य अलग – 2 पारद के मात्रा के 16वां भाग लेकर कल्क बनाकर कांजी में घोल देते है पुनः नियामन संस्कार से प्राप्त पारद को मोटे कपड़े में पोटली बनाकर, कांजी भरे दोला यंत्र में 3 दिन तक मंद अग्नि में स्वेदन करते है। इससे पारद, स्वर्ण आदि धातुओं का भक्षण करने में समर्थ हो जाता है।

9. जारण – दीप्त पारद में जब गंधक, अभ्रक, स्वर्ण, रत्नादि द्रव्यों को जीर्ण कर लेता है, अर्थात पारद की मात्रा या वजन नहीं बढ़ता और उपरोक्त द्रव्य पारद में जप्त हो जाता हैं, इसे पारद जारण कहते है। इससे पारद का स्वरूप भी स्वाभाविक रहता है। दीपन संस्कार के बाद गगन भक्षण, चारण, गर्भदुति, बाह्यदुति सब जारण संस्कार के अन्तर्गत आते है। इस तरह जारीत पारद न कपड़े से छान सकता है न पातन हो सकता है।

मुर्च्छना – पारद में विभिन्न कियाओ द्वारा, रोग निवारक शक्ति उत्पन्न करना मुर्च्छना है। विधि– पारद और गन्धक को मिलाकर कज्जली बनाते है कज्जली काले रंग की होती है इस को विभिन्न द्रव्य के साथ पाक करके औषधि बनाई जाती है।

पारद की गन्धक के साथ मुर्च्छना पाँच प्रकार की होती है।

1. गन्धपिष्टी –कज्जली
2. गन्धबद्ध – रसपर्पटी
3. गन्धजीर्ण – रससिन्दुर
4. रस गन्ध – कज्जली
5. धातु पिष्टी ।

पारद विकार

जैसे कि हमें ज्ञान है पारद अमृत है। परन्तु अशुद्ध पारद विष भी है अर्थात विधी पूर्वक प्राप्त शुद्ध पारद के योग सभी रोगों को नष्ट करता है परन्तु दोष युक्त पारद अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे– नासाभंग, दांतो का गिरना, विभिन्न नेत्र एवं मुख रोग, चर्मरोग, वक्षाघात, ग्रन्थिरोग, सन्धि अस्थि रोग, उन्माद, रक्तपित्त, पाण्डु आदि रोगो को उत्पन्न करता है।

पारद विकार निवार्ण :– दिन में 3 बार 6–6 स्ती शुद्ध गन्धक का घी के सा देना चाहिए साथ ही त्रिफलादि क्वाथ – सारिकाघवलेह का प्रयोग करना चाहिए।

प्रयोग :– पारद से बनी औषधियॉ की संख्या सैकड़ो में है, और प्रत्येक औषधि अपने–अपने कर्म के अनुसार रोगों को समूल मिटाने में समर्थ होता है । अतः मात्रा एवं प्रयोग उसके निर्माण पर निर्भर हैं। इस तरह पारद सर्व जटील रोगों को दूर करने में समर्थ होता है।

धातु

परिभाषा :– जिसके सेवन से अकाल में बालों का टूटना, झड़ना, पकना, कृशता, दूर्बलता, वृद्धावस्था और रोग नष्ट हो अर्थात रोग को नाश करने आरोग्य पूर्वक शरीर को धारण करे, उसे धातु कहते है।

धातु –आचार्य चरक एवं सुश्रुत संहिता में धातुओं की संख्या आठ मानी है। रसशास्त्र के विद्वानों ने अलग–अलग संख्या बताये है, पश्चात् तर्क वितर्क के सात धातुएँ मानी गई है।

सुवर्ण, चॉदी, ताम्र वंग, यशद, शीशा, लौह

स्वर्ण (सोना)

पर्याय :– अग्निवीर्य – कनक, कल्याण, कंचन, तपनीय, मनोहर, मांगल्य, सुवर्ण, हेम ।

परिचय – स्वर्ण प्राचीन धातु है। यह सर्वाधिक विख्यात अत्यन्त उपयोगी, आकर्षण धातु हैं। वेदों में स्वर्ण का वर्णन मिलता है। और कई मन्त्रों, कविताओं का निर्माण इस स्वर्ण पर हुआ है। आचार्य

चरक ने कहा है कि सोना चाटने वाले पर विष का प्रभाव नहीं होता है। आचार्य नागार्जुन ने कृत्रिम सोना बनाने की किया को विकसित किया। दक्षिण अफीका, रूस, अमेरिका के खानों में अधिक मात्रा में भारत में कर्नाटक में अल्प मात्रा में वर्तमान में आर्यभट्ट के द्वारा छत्तीसगढ़ में रायपुर जिला में भण्डार का पता चला है। यह प्रकृति में मुक्तावस्था में मिलती है।

<u>सुवर्ण भेद</u> – 1. प्राकृत स्वर्ण 2. सहज स्वर्ण 3. अग्नि सम्भव 4. खनिज स्वर्ण 5. रस सिद्ध स्वर्ण ।

<u>ग्राहय स्वर्ण लक्षण</u> :– जो सोना आग में तपाने पर लाल हो जाय, काटने पर चमकने वाला एवं कसौटी पर घिसने पर पीला लकीर खीचे। भारी, चिकना, मृदु, पत्र रहित, पीतवर्ण सोना से औषधि निर्माण करते है।

<u>सुवर्ण के भौतिक गुण</u> :– सुवर्ण पीतवर्ण के अत्यन्त चमकदार धातु है। मृदु, भारी, साधारण जल–वायु, ताप, अम्ल–क्षार का सोना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सोना से बहुत बारीक तार का पत्र बनाया जा सकता है यह अम्लराज में धुल जाता है।

<u>सोना का उपयोग</u> :– 1. प्राचीन काल से ही सोने की मूर्तियॉ, बर्तन, मुकुट, छत्र, आभुषण, सिक्के आदि बनाये जाते है।

2. औषधि के रूप में अत्यन्त उपयोगी है।

3. अन्य धातुओं पर परत या पॉलिस की जाती है।

सुवर्ण शोधन :– अशोधित स्वर्ण भस्म विभिन्न रोगों को उत्पन्न करता हैं। अतः शोधन करके भस्म निर्माण करते हैं। स्वर्ण का 10 ग्राम पतले 2 इंच चौड़ा पत्र बनाते हैं, एवं छोटे टुकडे कर लेते है। फिर निम्न द्रव्य लेते है।

1.	बाम्बी की मिट्टी	40 ग्राम
2.	गृहधूम	40 ग्राम
3.	ईंट का चूर्ण	40 ग्राम
4.	गैरिक चूर्ण	40 ग्राम
5.	सेन्धव लवण	40 ग्राम

6. नींबू रस 200 ग्राम

उपरोक्त पॉच द्रव्यों को अच्छी तरह नीबू रस के साथ सोने के पत्रों पर लेप करते हैं। और धूप में अच्छी तरह सुखा लेते है। फिर शराब सम्पुट में बंद कर कुक्कुट पुट देते है। स्वांगशीत (ठंडा होने पर) होने पर पत्र खण्ड को झाडकर निकाल लेते है, इस तरह स्वर्ण शुद्ध होता है।

<u>भस्म निर्माण</u> :–	शुद्ध सुवर्ण	–	10 ग्राम
	शुद्ध पारद	–	10 ग्राम
	शुद्ध हिंगुल	–	10 ग्राम
	शुद्ध गन्धक	–	10 ग्राम
	शुद्ध मनःशिला	–	10 ग्राम
	नवसादर	–	10 ग्राम

निम्बुरस आवश्कतानुसार ।

1. सर्वप्रथम शुद्ध स्वर्णपत्र को कैची से अत्यन्त सुक्ष्म टुकड़े काटकर खरल में लेकर पारद के साथ तीन दिन तक मर्दन कर, पिष्टी बनाते है।
2. फिर नींबु रस से मर्दन करते है।
3. तद्पश्चात शुद्ध जल से धोकर सुखा लेते है।
4. सुखने पर हिंगुल चूर्ण से मर्दन करते है।
5. पुनः शुद्ध गन्धक, शुद्ध मनःशिला, नवसादर, डालकर कज्जली कर 2–3 दिन तक मर्दन करें।
6. पुनः नीबुरस से मर्दन कर छोटी –छोटी टिकिया बनाकर सुखा लेते है।
7. सुखने पर शराब सम्पुट में बंद कर कुक्कुटपुट में पाक करते है।
8. दुसरे दिन सम्पुट निकाल कर पारद को छोड़कर, हिंगुल, गन्धक, मनःशिला, नवसादर देकर नीबु रस से मर्दन कर कुक्कुद पुट देते हैं। इस तरह 15 पुट देने से रक्त वर्ण की स्वर्ण भस्म बन जाता है।

अपक्व सुवर्ण भस्म सेवन से हानि :– अशुद्ध स्वर्ण भस्म सेवन से

बल, वीर्य, नष्ट होकर भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है।

मात्रा :– 30 मिली ग्राम से 100 मिली ग्राम प्रतिदिन ।

भस्म गुण :– 1. मधुर रस, कुछ कषाय एवं तिक्त रस ।

2. शीत वीर्य

3. स्निध, गुरू, शुक्र, बल, आयु का बढ़ाने वाला ।

4. विषदोष नाशक, त्रिदोष, ओज को बढ़ाने वाला ।

5. योगवाही (सम्पूर्ण अवयव में पहुॅचने वाला)।

6. पुंसवहन संस्कार को सम्पन्न कराता है।

7. क्षय – उन्माद, मन्दाग्नि, श्वास, कास, अरूचि, संग्रहणी, पाण्डुरोग को नाश करता है।

रजत (चाँदी)

पर्याय :– चन्द्रलौह, महाशुभ, रौप्य, तार, रजत, शुभ्र, रूपथक, सौध ।

परिचय :– यह बहुत प्राचीन धातु है। जिसका वर्णन आयुर्वेद की संहिता में मिलती है। चरक संहिता में जीभी वस्तिनेत्र एवं धूम नलिका बनाने का विधान है। यह मुक्त अवस्था और मिश्रीत रूप में खानों से प्राप्त होती है। भारत, आस्ट्रेलिया, नार्वे, मैक्सिको में मिलता है।

भेद – रस शास्त्र में तीन भेद बताये है।

1. सहज–रजत 2. खनिज–रजत 3. कृत्रिम–रजत ।

ग्राह्य रजत – ठोस, स्वच्छ, भारी, चिकना गर्म करने पर या काटने पर श्वेत वर्ण का, मृदु–शंख जैसा शुभ्र रजत श्रेष्ठ होता है। यह विद्युत सुचालक होता है।

उपयोग :–

1. रजत एवं सुवर्ण, देश की अर्थ व्यवस्था को नियंत्रित करता है।

2. बर्तन, आभुषण अन्य धातुओं पर पॉलिस किया जाता है।

3. सिल्वर अमलगम, दर्पण, निर्माण, दांतों में छेद होने पर भरने में उपयोगी।

4. मिश्रधातु के निर्माण में ।

5. फोटोग्राफी के लिए प्लेट तैयार करते है।

6. औषधि निर्माण में इसका बहुत प्रयोग होता है।

7. चान्दी की तार से कपड़ो पर जरी का काम होता है।

8. आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में उपयोगी है।

रजत शोधन :–

स्वर्ण शोधन के समान ही रजत का भी पत्र बनाकर शोधन किया जाता है, या रजत का महिन पत्र बनाकर जलते हुए अग्नि में गर्म करते है। तथा अगस्तय पत्र में तीन बार बुझाते है। पुनः जल से धोकर सुखा देते है। इस तरह चांदी का शोधन हो जाता है।

भस्म निर्माण :–

शुद्ध रजत पत्र 100 ग्राम, शुद्ध पारद 50 ग्राम, शुद्ध गंधक 50 ग्राम, कुमारी स्वरस आवश्यकतानुसार।

विधि :–

1. सर्वप्रथम पत्थर के खरल में पारद और गंधक को डालकर 1 दिन तक घोंटकर कज्जली बनाते हैं। फिर कजली में घृतकुमारी रस डालकर मर्दन करते है, और इसे रजत पत्र पर लेप कर सुखा लेते है।
2. इस पत्र को शराव सम्पुट कर 20 जंगली उपल में पाक करते है।
3. स्वयं ठंडा होने पर सम्पुट खोलकर कृष्ण वर्णीय रजत पत्र निकाल खरल में कूटने से चूर्ण बन जाता है।
4. पुनः 50 ग्राम शुद्ध पारद व 50 ग्राम शुद्ध गंधक के साथ रजत चूर्ण का मर्दन कर कज्जली बनाते है।
5. कज्जली में घृतकुमार स्वरस की भावना देकर टिकिया बनाकर सुखा लेते है।

ताम्र

इसे तांबा या कॉपर भी कहते है।

पर्याय – ताम्र, रक्तक, शल्व, त्राम्बक, रतिप्रिय, सूर्यलोह,

नेपालीय, लोहितायस, सूर्या।

<u>परिचय</u> – प्राचीन काल से ही ताम्र का प्रयोग औषधी रूप में होता आया है प्रकृति में ताम्र, मुक्त एवं यौगिक दोनो रूप में प्राप्त होता है। उत्तरीय अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया चीन में मुक्त रूप में तथा भारत में यौगिक के रूप में मिलता है।

<u>भेद</u> :–1 नेपाली ताम्र 2. म्लेच्छ ताम्र

श्रेष्ठ ताम्र के लक्षण :– नेपाली ताम्र श्रेष्ठ होता है। यह चिकना, नरम, लाल रंग का होता है, जो अग्नि में तपाने पर परिवर्तीत नहीं होता। यह गुलाबी रंग कि चमकीली धातु है तथा ताप व विद्युत का सबसे अच्छा चालक है

<u>उपयोग</u>–

1. विद्युत का सुचालक होने के कारण विभिन्न प्रकार के विद्युत के यंत्रों में तार के रूप में लगाया जाता है।
2 सिक्के बर्तन तथा अनेक प्रकार के मशीन के निर्माण में उपयोगी है।
3. विद्युत मुद्रण के निर्माण में उपयोगी है।
4 मिश्र धातु के निर्माण में उपयोगी है।
5. कॉपरसल्फेट के निर्माण में उपयोगी है।
6. भस्म बनाकर आयुर्वेदिक औषधि निर्माण में उपयोगी है।
7. कीटाणुनाशक औषधि के निर्माण में उपयोगी है।

<u>भस्म निर्माण</u> :–

1 शुद्ध रजत को निम्बु स्वरस में घोंटकर टिकिया बनाते हैं। स टिकिया को शराव सम्पुट में बंदकर पुनः 20 उपलो का लघु पुट में पाक करें। इस किया को छः बार दोहराते हैं।
2. फिर से शुद्ध गंधक व कुमारी रस से भावना देकर 4 लघु पुट और देते है।
3. 7–8 वीं बार सिर्फ कुमारी रस कि भावना देकर, टिकिया बनाकर, सुखाकर सराव समपुट देकर 60 जंगली उपलो कि

अग्नि कि लघुपुट देते है। इस तरह 4 पुट और देते है। इस 10 पूट में रजत भस्म बन जाती है।

भस्म के गुण–

1. कषाय और अम्ल रस वाला।
2. शीत वीर्य मधुर विपाक।
3. चिकना बल, आयु, बुद्धि शुक्र को बढ़ाने वाला।
4 व्रण, धातु का लेखन, विषनाशक।
5. प्रमेह, तीष्ण, क्षय, प्लीहोदर, नाड़ी शूल, अपस्मार, मदात्य, स्नायुदुर्बलता व पित्त रोग नाशक।

मात्रा – 30 मिली ग्राम से 100 मिलीग्राम तक प्रति दिन शहद, घी, मलाई के साथ दिया जा सकता है।

लोहा **Iron**

पर्याय – आयस, कालायस, लोह, आयस तीक्ष्णक, शस्त्रक।

परिचय – यह बहुत ही प्राचीन द्रव्य है। वेदों में कई स्थान पर इसका उल्लेख हुआ है। तथा विभिन्न उपयोग बताये है। इतिहासकारों ने युगों को पाषण युग, स्वर्ण, ताम्र युग में विभक्त किया है, वर्तमान युग को लौह युग की संज्ञा दी हैं। लौह से निर्मित अस्त्र–शस्त्रों से बड़े–छोटे युद्ध लड़े जाते है। चरक संहिता में लौह का अत्यधिक उपयोग वर्णित है। एवं लोह के द्वारा असाध्य रोग की सफल चिकित्सा के लिए विभिन्न कल्पनाएं जैसे– चूर्ण–बटी, अवलेह, वर्ति, आसव का वर्णन किया गया है। गुप्तकालिन युग में भारतीय इस्पात बहुत प्रसिद्ध था। दिल्ली के कुतुबमीनार स्थित लौह स्तम्भ विश्व में भारतीय लौह का आश्चर्यजनक एवं उत्कृष्ट नमूना है।

प्रकृति में लोहा अधिक मात्रा में पाया जाता है। खानों से युक्तारूप में पाया जाता है लोहा खनिजों की पांच श्रेणीयॉ है।

(1) आक्साइड (2) हाइड्राक्साइड (3) कार्बोनेट (4) सल्फाइड
(5) सल्फेट।

इसके अतिरिक्त लोहा का थोड़ा अंश मिट्टी, हरी पत्तियॉ, हिमो

ग्लोबिन, में पाया जाता है। लोहा हमारे जीवन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। पूरा का पूरा अभियान्त्रिक विज्ञान लोहा पर आश्रित है। यह दुनिया के सभी देश में और भारत में भी प्रचुर मात्रा में मिलता है।

लौह भेद – (1) मुण्ड लौह (2) तीक्षण लौह
(3)कान्त लौह

विशेष शोधन विधि – त्रिफला यवकुट को आठ गुणा गोमूत्र में क्वाथ करें चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें और उसी त्रिफला गोमुत्र क्वाथ में प्रतप्त लौहा बुरादा को सात बार बुझाने से लौह सर्वात्मना शुद्ध हो जाता है।

लौह भस्म निर्माण विधि – त्रिफला को गोमुत्र में क्वाथ करे, उसी क्वाथ में शुद्ध तीक्ष्ण या कांतलौह को अग्नि में प्रतप्तकर बुझावे, और लौह खरल में कूट–कूटकर चूर्ण कर ले। 250 ग्राम त्रिफला यवकुट को आठ गुणा जल में क्वाथ बनाकर छान ले और इसी द्रव की भावना देकर टिकिया बनावें, सुखावें, शराव सम्पुट कर गजपुट।

ऐसा 30–50 बार पुट लगाने से उत्तम लौह भस्म हो जाता है। शास्त्रकार 21 पुट में ही भस्म होने की बात कहता है। किंतु इतना मर्दन नहीं हो पाता है।

लौह भस्म बनाने कि विधि –बिना पारद के लौह भस्म का कोई महत्व नहीं है और नहीं अभ्रक भस्म के बिना लौह भस्म का कोई महत्व है। अकेला लौहभस्म का प्रयोग शरीर में जड़ता उत्पन्न करता है, अतः पारदभस्म और अभ्रक भस्म के बिना, जो व्यक्ति लौह भस्म खाता है तो उसके पेट में लोह किट्ट जमकर अनेक उपद्रव करते है। अतः लौह भस्म का रससिंदुर या मकरध्वज और अभ्रक भस्म के साथ ही प्रयोग करें। अथवा पारद योग से मारित लौह भस्म का प्रयोग करें।

मात्रा– 1–2 रत्ती शहद, घी, मक्खन, दुध के साथ।

गुण–

(1) लौह भस्म शरीर की कांति को बढ़ाता है।

(2) त्रिदोषनाशक।

(3) रसायन।

(4) बाजीकरण, बल्य, शुक्र, मांस, आयु, बुद्धि को बढ़ाने वाला होता है

(5) विष और नेत्ररोग को नष्ट करता है।

(6) बालों का झड़ना, टूटना, बुढ़ापा को नष्ट करता है।

लोहा के भौतिक गुण – शुद्ध लोहा मुलायम, चांदी समान श्वेत एवं चमकदार धातु है। किन्तु नर्म हवा के संपर्क से यह तुरंत घूसर और कृष्णवर्ण का हो जाता है। यह आघातवर्ध्य व तन्य होता है। साथ ही चुम्बक और आकर्षक होता है। इससे चुम्बक भी बनाया जाता है

उपयोग – आज का युग लौह युग के नाम से प्रसिद्ध है अतः आज लोहा हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मकान ,मशीन, कल–कारखाना रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि सभी प्रकार के वाहनादि चिकित्सा कृषि प्रतिरक्षा एवं सभी प्रकार के उद्योगो और दैनन्दिनी कार्यो में लोहा के बिना कोई काम ही नहीं चल सकता है। लोहा से अनेक प्रकार के मिश्र लोहो का निर्माण होता है। अतः आज के युग में लोहे के उपयोग का वर्गीकरण करना बहुत ही मुश्कील है।

वंग

परिचय पर्याय :– कुटिल, कुरूप्य, पूतिगंध, रंग, रंगक, शुक्रलौह, त्रपुश। इसे रांगा कहा जाता है। तथा संहिताओं में अनेक स्थल पर चिकित्सा के लिए प्रयोग किया गया हैं। अग्नि पर जलाने से एक प्रकार की दुर्गंध निकलती है। और आग पर पिघलाने पर चूर्ण हो जाता है। इसलिए इसे पूति लौह कहते है। वंग से कांसा आदि मिश्रलौह बनाया जाता है। वंग धातु प्रकृति में खनिज और यौगिक रूप में प्राप्त होता है। बर्मा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण आफ्रिका, चीन में ज्यादा मात्रा में पाया जाता है। बिहार, उड़ीसा में कम मात्रा में मिलता है वंग अयस्क में गंधक, लौहा, तांबा आदि मिले होते है जिससे वंग धातु प्राप्त करते है। इसे प्राप्त करने के लिए निम्न क्रियाएं करते है।

(1) सांद्रण (2) जारण (3) विद्युत चुंबकीय पृथककरण (4) प्रक्षारण (5) शुद्धीकरण।

भेद – (1) पुरक वंग (2) मिश्रक वंग

(1) पुरक वंग – इसे श्रेष्ठ माना जाता है। यह शुभ्र वर्ण का,

कोमल, चिकना, शीघ्र पिघलने वाला भारी धातु है। यह चांदी के समान सफेद होता है।

उपयोग –

(1) चिकित्सा क्षेत्र में औषधि निर्माण में ।

(2) कांसा आदि मिश्र लौह बनाने में।

(3) पत्तर चढ़ाने में प्रयोग।

(4) बर्तनों में कलई चढ़ाने में।

वंग शोधन – एक बाल्टी में पानी 20 ग्राम चुना धोलकर उसे छान लेते है। इस धोल वाले बाल्टी के उपर गोल छेद वाल पत्तर रखते है जैसे आंटा चक्की का उपर भाग। एक लोहे की कलछुर में वंग को रखकर पिघलाते हैं और पिघले हुए वंग को पत्थर के छेद द्वारा चुने के पानी में डालते है। फिर से चुने के पानी से निकालकर वंग को पिघलाकर पुनः चुने के पानी में डाल देते है। यह किया 7 बार करते है, जिससे वंग शुद्ध हो जाता है।

शुद्ध वंग का जारण – शुद्ध वंग को लोहे की कढ़ाही में रखकर वंग को पिघलाते है। पिघल जाने पर वंग का 1/4 भाग अंजवाइन या पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण थोड़ा–2 मिलाते है, और लोहे की करछुल से चलाते है। इस तरह 2–3 घंटे मर्दन करने से वंग चूर्ण हो जाता है, चूर्ण होने पर इसे बारीक चलनी से छान लेते है। फिर इस चूर्ण को कढ़ाही में रखकर मिट्टी के शराव से ढ़ककर 2–3 घंटे तेज अग्नि देते है। वंग चूर्ण के लाल हो जाने पर उसे ठंडा होने देते है, फिर उसे निकाल लेते है।

भस्म निर्माण विधि – उपरोक्त जारित वंग को साफ पानी से कई बार धोते है। इसके क्षार और लवण अंश खत्म हो जाने पर, पानी को फेंककर आग में सुखा लेते हैं। फिर कुंआरी रस की भावना देकर टिकिया बनाकर सूखा लेते है, तथा शराव संपुट कर कुक्कुट पूट देते है। ऐसा 6 बार करने से वंग का भस्म बन जाता है।

मात्रा– 1–2 रत्ती अनुपात शहद, घी, मक्खन, दूध।

गुण –

(1) यह मधुमेह नाशक होता है।

(2) बल, शुक्र, मांस, पाचकाग्नि बुद्धि और कांति को बढ़ाने वाला होता है, यह उत्तम रसायन होता है।

(3) उपदंश नपुंसकता, स्वप्नदोष, श्वेतप्रदर, कफरोग, कृमि, क्षय, कास, श्वास एवं वायु विकार को नष्ट करता है।

नाग

इसे सीसा कहा जाता है।

पर्याय –कुरंग, कुवंग, कृष्णयशी, नाग, भुजंग, सिंदुर कारक, सीसक।

परिचय – यह वेदकालिन धातु हैं। वेदों एवं आर्युवेद संहिताओं में चिकित्सा के लिए धातु का प्रयोग होता है। यह यौगिक रूप में प्राप्त होता है। यह सल्फाइड, कार्बोनेट, सल्फेट, क्लोराइट, आक्साइड के रूप में मिलता है। लेड सल्फाइड रूप में आस्ट्रेलिया, अमेरिका, वर्मा, बिहार, राजस्थान में पाया जाता है। सीसा के यौगिक से सीसा धातु प्राप्त किया जाता है। इसकी निम्न विधियॉ है।

(1) वायु अवकरण विधि (2) विलगन

भेद :– (1) कुमार (2) समल

जल्दी पिघलने वाला, बहुत भारी, भीतर से काला चमकदार नाग श्रेष्ठ होता है। शुद्ध नाग चांदी के समान, नीलापन लिए हुए श्वेत होता है। हवा के संपर्क में आने से इसकी सतह मालिन हो जाती है। यह इतना नरम होता है कि नाखुन से खुर्चा जा सकता है। सफेद कागज में घीसने से काली रेखा खींचती है।

उपयोग –

(1) पानी के पाइप के भीतरी सतह पर लगाते हैं।

(2) बिजली के तार के उपरी सतह पर लगाते हैं।

(3) बंदुक की गोली बनाने में।

(4) पेंट बनाने में ।

(5) सिंदुर बनाने में।

(6) टेट्राएथिल लेड बनाने में।

(7) गंधक अम्ल की शीस कक्ष बनाने में।

(8) आयुर्वेदीय औषधि के रूप में।

(9) मिश्र धातु बनाने में।

अशुद्ध नाग भस्म के सेवन से प्रमेह ,क्षय एवं कामला रोग हो जाता है।

शोधन विधि – वंग की तरह ही नाग का शोधन करते है।

भस्म निर्माण विधि – शुद्ध नाग 100 ग्रा., शुद्ध पारद 25 ग्रा. लेकर 1 खरल में पारद को रखकर शुद्ध नाग को पिघलाकर उसमें (खरल) में डाल देते है, तथा मर्दन करते है। 10 मिनट बाद पारद और नाग का चूर्ण बन जाता है, फिर चार घंटे बाद मर्दन करके साफ पानी में धो लेते है। पुनः दुगुना 200 ग्राम गंधक चुर्ण के साथ मर्दन करके कज्जली बनाते है, उस कज्जली को शराव संपुट में रखकर कुक्कुट पुट में पाक करते है। स्वयं ठंडा हो जाने पर शराव संपुट से नाग भस्म निकाल लेते है। इस तरह 3 पुट देने से उत्तम नाग भस्म बनता।

अपक्व भस्म सेवन करने से कुष्ठ, गुल्म, पांडु, प्रमेह, शोथ, भंगदर आदि भयंकर रोग होते है।

मात्रा – 30 मि.ग्रा.–1 ग्राम तक शहद, के साथ।

गुण –

(1) प्रमेहनाशक

(2) घाव, अर्श, गुल्म, ग्रहणी, अतिसार नाशक होता है।

(3) शुक, मांस, बल को बढ़ाने वाला होता है।

यशद

इसे यशद कहते है।

पर्याय – खर्परज, ताम्ररजक, यशद, खर्परसत्व, नेत्र रोगारि रीति हेतु।

परिचय – भारतीयों का यशद विषयक ज्ञान अति प्राचीन नहीं है, किंतु पित्तल (मिश्रलोह) पहले भी (संहिता काल) में बनता था।

चरक संहिता में पित्तल निर्मित पात्रो का वर्णन मिलता है। संभवतः यह पित्तल खर्परसत्व से ही बनता है। यशद मुक्तावस्था में नहीं मिलता है। यह बराबर युक्तवस्था में ही निम्न रूपों में पाया जाता है।

यशद खनिज –(1) सल्फाइड रूप में – जिंक ब्लैण्ड

(2) कार्बोनेट रूप में – कैलामाइन या स्मिथ सोनाइट

(3) आक्साइड रूप में – जिंकाइट फेंक्लिनाइट

उपयोग –

(1) लोहे के चादरों को यशदीकरण करने में –: लौहे की चादरों को साफ कर पिघले हुए यशद में डुबोकर निकाल लिया जाता है, जिससे लोहे की चादरों पर यशद का स्तर चढ़ जाता है। यह लोहे को जंग से बचाता है। इस चादर से बाल्टी, बक्सा उपकरण बनाए जाते है।

2. दानेदार यशद पिघले हुए यशद को ठण्डे पानी में डाल देने से प्राप्त होता है। इससे एच2 गैस दानाने में सुविधा रहती है।

3. मिश्र धातुएं बनाने में (पीतल, जर्मन सिल्वर, डेल्टामेटल आदि बनाने में) उपयोगी है।

4. आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक औषधि बनाने में उपयोगी है।

5. जिंक आक्साइड बनाकर अनेक तरह के मलहम, पेण्ट, कीम तथा पाउडर आदि बनाने में उपयोगी है।

यशद शोधन का प्रयोजन – अशुद्ध एवं अपक्त यशद भस्म सेवन करने से गुल्म, प्रमेह, क्षय, कुष्ठ, अजीर्ण और वातविकार उत्पन्न करता है। अतः हमेशा यशद को अच्छी तरह से शोधन एवं मारण के बाद ही उपयोग करना चाहिए।

यशद भस्म की मात्रा– 1–2 रत्ती

अनुपान– शहद, मक्खन, घी, दूध, मलाई।

गुण – कषाति शीत है, कफ पित्तजरोग हर है। प्रमेह, नेत्ररोग, पाण्डु, कास, श्वास, रात्रिस्वेद और ब्रणनाशक है।

पीतल

इसे पित्तल, पितल, ब्रास कहते है

परिचय– पित्तल मिश्रलोह है। यह दो मुख्य लोहो (ताम्र और यशद) को निशिचित मात्रा में पिघलाकर मिलाने से बनता है। पित्तल का वर्णन वेदों में नहीं है। किंतु आयुर्वेदीय संहिताओं चरक सुश्रुतादि में पित्तल के कई उदाहरण मिलते है। तब से लेकर आजतक इस धातु का चिकित्सकीय उपयोग कमशः बढ़ा है।

निर्माण विधी – विशुद्ध ताम्र 2 भाग + विशुद्ध यशद 1 भाग दोनो धातुओं की गारभूषा में रखकर कोष्ठी में प्रखराग्नि द्वारा धमन कर पिघलाने पर लौह प्लेट पर ढाल दे। ऐसा करने से उत्तम पीत वर्ण का पीतल तैयार हो जाता है।

पित्तल का शोधन – एक पात्र में लिटर निर्गुण्डी स्वरस रखे और उसमें हरिद्राचूर्ण 60 ग्राम मिला दे। अब पित्तल के पत्र को अग्नि में तप्त कर उपर्युक्त निर्गुण्डी स्वरस में निषेचन करें। ऐसा पुनः–पुनः 5 बार करने से शुद्ध हो जाता है।

मात्रा – 1/2 रत्ती से 1 रत्ती तक

अनुपान – शहद तथा रोगनाशक द्रव्यों के स्वरस एवं क्वाथ से।

गुण – पित्तल भस्म कटु रस, रूक्ष, शीतवीर्य किंतु योगों में उष्णवीर्य की औषधियों के साथ मिलने से उष्ण वीर्य भी हो जाता है। किमी, कुष्ठ, रक्त पित्त नाशक है। पाण्डुरोगघ्न एवं लेखन गुण वाला है। यकृत, प्लीहा और उदररोग नाशक है।

कांस्य

परिचय – भारतीयों को अतिप्राचीन काल से ही कास्य धातु का ज्ञान था। चरक संहिता काल से इसका उपयोग बर्तन, घण्टी, मूर्तियों आदि के निर्माण में होता है। सुश्रुत संहिता में इनके पात्रों का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। यह अनेक योगों के माध्यम से अनेक रोगों की चिकित्सा में सहायक औषधि के रूप में प्रसिद्ध है।

निर्माण विधि – प्राचीन रसशास्त्र के अनुसार आठ भाग ताम्र + दो भाग वंग को मिलाकर कांस्य बनाया जाता है।

शोधन – कांस्य को पत्र बनाकर अग्नि पर तपावें और रक्त वर्ण होने पर उसे मर्दन करें, ऐसा 7 बार करे अथवा 3 घंटे तक गोमूत्र या कोई अम्लद्रव में पकाने से कांस्य शुद्ध हो जाता है।

कांस्य मारण –	शुद्ध कांस्य प –		100 gm
	शुद्ध गंधक	–	500 gm
	अर्कक्षीर	–	यथावयक

सर्वप्रथम गंधक को अर्कक्षीर में मर्दन कर कास्य पत्र पर लेप कर शराव संपुट करे। और गजपूट में पाक करें। स्वांगशीत होने पर उसे मर्दन करें उसे पुनः गंधक देकर मर्दन करें। अर्क क्षीर की भावना देकर टिकिया बनाए, सुखाकर शराव संपुट कर पुनः गजपुट में पाक करे। इस विधि से कुल 5 बार पूट देने से कांस्य की काली भस्म होती है।

गुण– कांस्य भस्म लघु, तिक्त, उष्ण एवं लेखन है। कृमि, कुष्ठ, वात, पित्त नाशक एवं दीपन है। नेत्ररोग नाशक है। कांस्य का विशेष गुण ताम्र जैसा ही होता है कांस्य पात्र में घृत छोड़कर अन्य पदार्थ रखने या खाने से भोजन आरोग्यदायक सुखकर, हितकर एवं सात्म्य होता है।

मात्रा – 1/2 रत्ती 1 रत्ती तक।

अनुपान – शहद ।

रत्न

इसे रत्नम्, रत्न, Preceous Stone, कहते है। आयुर्वेदीय रत्नशास्त्र में रत्नों की संख्या 9 है। कमशः ये रत्न नौ ग्रहों को प्रभावित कर अपनी ओर आकृष्ट करते है जिसके कारण ग्रहों के अतिप्रिय है।

रत्न	अंग्रेजी नाम	नवग्रह के लिए
1.	माणिक्य (लाल)	सूर्य
2.	मुक्ताफल (मोती)	चंद्र
3.	वैदुर्य (मूंगा)	मंगल
4.	तार्क्ष्य (पन्ना)	बुध

5. पुष्पराग (पोखराज) गुरू

6. मिदुर (हीरा) शुक्र

7. नीलम शनि

8. गोमेद राहु

9. वैदुर्य्य केतु

<u>रत्न की परिभाषा</u> – रत्न शब्द की ब्युत्पत्ति बहुत ही सुंदर ढंग से की गई है। यथा – संपूर्ण मानव जाति जो धन की इच्छा करते है वे इस पत्थर आदि आर्कषक द्रव्याो के प्रति अधिक रमण करते है या रम जाते है। इसलिए शब्द शास्त्री इसे रत्न कहते है। रमण शब्द यहां पर प्रीति वाचक है।

<u>गुण</u>– रत्न में पंच विशेष गुण होने ही चाहिए।

1. दुर्लभता 2. कठोरता 3. सुंदरता
4. टिकाउपन 5. आकर्षक रंग

दोष– 1. ग्रास, 2. त्रास 3. बिंदु 4. रेखा
5. जलगर्भता।

1. ग्रास दोष – जब रत्न में आधा भाग में अपारदर्शक अथवा काला हो तो उसे ग्रास दोष कहेंगे। यह ग्रहण वाचक है।
2. त्रास दोष – जब रत्न के कुछ भाग में दुसरा रंग पाया जाए, और कुछ भाग में अन्य रंग हो तो उसे त्रास दोष कहेंगे। यह भयोत्पादक एवं अशुभकारक वाचक है।
3. बिंदु दोष – जब रत्न में विभिन्न रंग के कहीं–2 पर छोटी–2 बिंदु या कण दिखाई दे, तो उसे बिंदु दोष कहेंगे।
4. रेखा दोष – जब रत्न में परस्पर काटती हुई या अकेली कोई रेखा दिखाई दे तो उसे रेखा दोष कहेंगे।
5. जलगर्भता दोष – जब रत्न के गर्भ में शून्य स्थान या वायु का बुदबुदा जैसा दिखाई दे, तो देखने वालों को उस स्थान में जल की उपस्थिति का भ्रम हो जाता है, इसी दोष को जलगर्भता दोष कहते है। यथा वहां किंचितमात्र भी जल नहीं होता है। उदा. शीशा के पेपरवेट में जो शून्य स्थान या एयरबबल है वह

भी जल प्रतीत होता है।

शोधन – रत्न खनिज पदार्थ है। पार्थिव पदार्थो में अनेक तरह के विष व्याप्त रहते है, तथा अनेक तरह के रासायनिक संगठन होने के कारण भी उनमें कई प्रकार के दोष हो जाते है। अशुद्ध रत्नोपरत्न के प्रयोग से कोई लाभ हो जाते है। अशुद्ध रत्नोपरत्न के प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता है किंतु हानि होती है। अतः इनका शोधन आवश्यक है। रत्नों की भस्म एवं पिष्टी बनाने हेतु, गुण वृद्धि के लिए भी शोधन आवश्यक होता है।

विशेष शोधन –

1. माणिक्य – अम्लवर्ग के द्रव्य के रस पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से यह शुद्ध हो जाता है।
2. मुक्ता – जयन्ती स्वरस पूरित दोलायंत्र में तीन घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता हैं।
3. प्रवाल – क्षारवर्गीय द्रव पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
4. तार्क्ष्य (पन्ना)– गोदुग्ध पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
5. पुष्पराग (पोखराज)– समभाग कांजी और कुलत्थ क्वाथ मिश्रित एवं पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
6. हीरक – चौलाई रसपूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
7. नीलम – नीलगिरि स्वरस पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
8. गोमेद – गोरोचन युक्त जल पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।
9. (लहसूनियां) – त्रिफलाक्वाथ पूरित दोलायंत्र में 3 घंटे तक स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।

मारण – प्रथम वर्ग में :–

(1)	माणिक्य	(2)	पन्ना	(3)	पोखराज
(4)	गोमेद	(5)	नीलम	(6)	वैदूर्य

2. द्वितीय वर्ग में

(1) मुक्ता (2) प्रवाल

3. तृतीय वर्ग में

(1) हीरा

प्रथम वर्ग – शुद्ध रत्न चूर्ण 1 भाग

शुद्ध मनःशिला 1 भाग

शुद्ध हरताल 1 भाग

शुद्ध गंधक 1 भाग

सिरेमिक पत्थर के खरल में सभी द्रव्यो को मिलाकर लकुच स्वरस की भावना देकर टिकिया बनाते है। सुखाकर शरावसंपुट कर गजपुट में पाक करते है। ऐसा ही आठ बार पुट देने से प्रथम वर्ग के छः रत्नों की भस्म हो जाएगी।

द्वितीय वर्ग – मोती एवं मूंगा को सिरेमिक पत्थर के खरल में चूर्ण करें मोती में गुलाब जल एवं मूंगा में कुमारी स्वरस की भावना देकर टिकिया बनावें सुखावें शरावसम्पुट कर मोती को लघुपुट में एवं प्रवाल को गजपुट में पाक करें। ऐसा 3 बार करने से मोती एवं मूंगे की भस्म हो जाती है। मोती और प्रवाल दोनो की भस्में सफेद होती है मोती भस्म श्वेत सूक्ष्म एवं प्रवाल भस्म श्वेत सूक्ष्म चूर्ण होती है।

तृतीय वर्ग – हीरक भस्म

शुद्ध हीरा कण 1 भाग

शुद्ध पारद 1 भाग

शुद्ध गंधक 1 भाग

शुद्ध मनःशिला 1 भाग

एक दृढ़ पत्थर के खरल में पहले पारद एवं हीरक कण को मर्दन कर गंधक और मनःशिला मिलाकर कज्जली करें। पुनः निंबुरस

की भावना देकर शराव सम्पुट कर गजपुट में पाक करें। ऐसा 14 बार गजपुट में पाक करने से हीरा की सुंदर भस्म हो जाती है।

उपरत्नों का वगीकरण

उपरत्न

1.	वैकान्त	2.	सूर्यकांत	3.	चंद्रकांत
4.	राजावर्त	5.	पैरोजक	6	स्फटिक
7	व्योमाश्म	8	तृणकांत		सुधावर्ग

शंख

इसे कम्बु, कम्बोज, त्रिरेख, महानाद, पावन ध्वनि, हरिप्रिया, शंखक, सुनाद आदि कहते है। यह प्राचीन काल से प्रयोग होने वाला द्रव है, जो समुद्र में उत्पन्न होने वाले मोलस्का वर्ग के जन्तु का पृष्ठ भाग होता है।

लहरों में बहकर ये किनारों में आ जाता है, जिसे मछवारे पकड़ लेते है। शंख श्वेत पीलाभ लिए द्रव्य होता है। इसे पवित्र और विष्णु भगवान का प्रिय माना जता है।

भेद – 1. दक्षिणवर्त – इसे उत्तम तथा लक्ष्मीसुख सौभाग्यदायक मानते है।

2. वामावर्त – यह मध्यम प्रकार का औषधि में प्रयोग करते है।

शोधन – निबू स्वरस में स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है।

भस्म विधि – शुद्ध शंख को टूकड़े कर शराब संपुट कर गजपुट में पाक करते है। ठंडा हो जाने पर संपुट खोलकर शंख को निकालकर चूर्ण करते है। कुमारी रस की भावना देकर टिकिया बनाकर सुखते है। शराब संपुट कर गजपूट में पाक करते है।

गुण –शंख भस्म क्षारीय स्वाद वाला, शीतवीर्य, ग्राही, दीपन–पाचन होता है।विष, श्वास रोग अम्लपित्त, उदरशूल को नष्ट करता है।

मात्रा – 60 मिली ग्राम।

शुक्ति

इसे सीप, सुक्तिका, मौक्तिक मंदिर, मुक्तामाता, मुक्तास्पोटो, मुक्तागृह, मौक्तिक, प्रसवा कहा जात हैं। प्राचीनकाल से औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता हैं। यह भी मोलस्का वर्ग का प्राणी हैं जिसके अंदर मोती भी निकलता है। सीप के अंदर का भाग सफेद ,चमकीला, इंद्रधनुष के रंगों जैसा होता है। मोती वाला शुक्ति ज्यादा चमकीला होता है। यह 2 प्रकार का होता है।

1. मुक्ताशुक्ति – यह समुद्र में पायी जाती है।

2. जयशुक्ति – यह छोटे बड़े तालाबों में पाई जाती है।

शोधन – नीबू रस में तीन घंटे स्वेदन करके गर्म पानी में धोने से शुद्ध हो जाता है।

भस्म निर्माण – शंख जैसा ।

गुण – यह क्षारीय, मधुर रस वाला होता हैं। ज्वर, श्वास, हृदयरोग सभी प्रकार के पेट के रोग, पित्त और रक्त के रोग का नाश करता है।

मात्रा – 60–200 मी.ग्रा. शहद, घी, तक के साथ ।

गोंदन्ती

इसे गोदंत, गोदंतिका, गोदंती कहते है। यह श्वेत रंग का पारदर्शक बहुत ही कोमल खनिज पदार्थ है। यह आपस में पतले पर्त के रूप में चिपके होते है।

प्रयोग 1. इसकी मूर्ति बनाई जाती है।

2. सजावट के रूप में प्रयोग होता है।

3. औषधि के रूप में ।

भारत में राजस्थान, बिकानेर एवं जोधपूर में पाया जाता है।

शोधन :– नीबू रस में 1.5 घण्टा पकाने से शुद्ध हो जाता है।

भस्म निर्माण :– शुक्तिक जैसे।

गुण :– 1. शीत वीर्य ।

2. सिरदर्द, ज्वर, क्षय, खांसी, पीलिया, प्रदर, श्वासरोग नाशक होता है।

मात्रा :– 60–200 मी.ग्राम शहद के साथ।

टंकण

इसे क्षार राज, क्षार श्रेष्ठ, द्रावक, लोहद्रावी, सौभाग्य, सोहागा एवं अंग्रेजी में बोरेक्स कहा जाता है। यह अतिप्राचीन द्रव्य है। यह खनिज तथा कृत्रिम रूप में पाया जाता है। अमेरिका तथा काश्मीर में खदानों से निकाला जाता है।

शोधन :– मोटा चूर्ण करके लोहे की कढ़ाही में गर्म करने से फिटकरी जैसे लाटा बन जाता है, और जल का अंश सुख जाता है। यह बहुत हल्की होती है, हवा में उड़ने लगती है।

गुण :– कटु रस, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, रक्त, वात–कफशामक धातुओं को पिघलाने वाला पथरी, विष, कांस, श्वास तथा पारद विकार को नाश करने वाला उत्तम व्रण शोधक और व्रणनाशक होता है।

विष एवं उपविष का परिचय :–

परिभाषा :–

विष :– जिसके देखने मात्र से मनुष्य पशु–पक्षी–दुखी हो जाते हैं, उसे विष कहते है। अर्थात् जो मृत्यु द्वारा मनुष्य को नष्ट कर दे, वह विष है सावधानी से प्रयोग न करने पर मनुष्य की जान ले लेता हैं। विष पारद का बन्धन करने में मुख्य उपयोगी होता है।

विष के भेद :– 1. स्थावर – यह खनिज एवं वनस्पति स्त्रोत से प्राप्त होता है, जैस वत्सनाम कालकुट आदि, हरताल, सांखिया। इन विषो के आशय – कन्द, सार या गोंद, मूल, फल, पत्र। स्थावर विष दो भेद है।

अ. प्रधान विष ब. उपविष ।

2. जांगम विष – सर्प, वृश्चिक, मकड़ी (लुता) आदि।

3. कृत्रिम – संयोगज, गजविष ।

विष के गुण –

लधु, रूक्ष, आशु (तुरन्त प्रभावी), विशद, व्यवायी (तुरन्त फैलने वाला), तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण, अव्यक्त रस ।

विष के वेग :–

1. प्रथम वेग में – शिथिलता एवं मन्दता ।

2. द्वितीय वेग में – कंपकपी ।
3. तृतीय वेग में – दाह (जलन)
4. चतुर्थ वेग में – मुर्छा।
5. पंचम वेग में – लालस्त्राव या झाग निकलना।
6. षष्ठम् वेग में – बाहु शैशिल्य।
7. सप्तम वेग में – शरीर में निष्क्रियता।
8. अष्टम वेग में – मृत्यु।

<u>प्रतिविष</u> – विष के प्रभाव को कम करने या खत्म करने के लिए निम्न द्रव्यों का प्रयोग करते है।

टंकण, मेघनाद रस, निम्बु रस, गोधृत, बकरी का दूध, अर्जुनत्वक चूर्ण,

<u>विष–उपविष परिचय प्रयोग</u>

आयुर्वेद रस शास्त्र में विष एवं उपविष के अन्तरगत निम्न द्रव्यों का समावेश किया गया है।

विष – ये संख्या में नौ है।

1. वत्सनाम 2. हलाहल 3. कालकुट
4. श्रृंगक, 5. प्रदिपक, 6. हारिद्रा विष
7. शक्तुक 8. सौराष्ट्री 9. ब्रम्हपूत्र

उपविष – इनगण में भी नौ द्रव्यों का समावेश किया गया है।

1. थुहर का दूध 2. आक का दूध 3. कालिहारी की जड़
4. जमालगोटा 5. कनेर 6. धतुरा
7. कुचिला 8. अफीम 9. चिरमिट्टी।

शोधन – समस्त विषों का सामान्य शोधन एक विधि से की जाती है। विषों के औषधि के लिए उपयोग में आने वाले भाग का टुकड़े करके तीन दिन अलग–अलग ताजा गो मूत्र लेकर भिगोते है। चौथा दिन गाय के दूध में दोलायन्त्र द्वारा तीन घन्टे मन्द आंच में पकाते है। फिर उष्ण पानी से धोकर, छाया में सुखा लेते है। इस तरह शोधन करने से इनके विषाक्त प्रभाव कम हो जाता है।

कालकूट

प्राचीन कथा के अनुसार देवता एवं दैत्यों के संग्राम में जब पृथुमाली नामक दानव का वध हुआ तब उसके रक्त से पीपल का वृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसके गोंद को मुनियों ने कालकुट नाम दिया ।

हालाहल

इस के फलों के गुच्छे दाख फल (मुनक्का) के फल के गुच्छे जैसे होते है। पत्ते ताल के पत्तों जैसा होता है। इसके तेज से आजपास के पेड़ जल जाते हैं। उपरोक्त दोनो विष कोंकण में उत्पन्न होता है।

ब्रम्हपुत्र

यह मलय पर्वत पर पाया जाने वाला विष हैं, जो कपिल वर्ण का होता है।

वत्सनाभ

परिचय :– इसे विष, मीठा विष, बच्छनाग, तेलिया विष, बच्छराज, एकोनइटम फेराक्स कहते हैं। यह हिमालय, नेपाल, आसाम में पाया जाता है। झॉड़ी एक से दो फीट उंचा होता है।

पत्ते – हथेली के आकार का अनेक भागों में बंटा होता है।

पुष्प – लम्बे पुष्पदण्ड पर नीचे फूल आते है।

मूल – कन्द के रूप, अण्डाकार, उपमूल सहित अन्दर से पीले रंग का होता है। स्वाद में पहले मीठा फिर कड़वा होता है। चबाने से चिनचिनाहट एवं शुन्यता होती है, जो बाद में ठीक हो जाता है।

रासायनिक संगठन :–

कड़वा एकोनाइट एसिड, टैनिक एसिड, अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ, ग्लिसराईड, गोंद, शर्करा होता है ।

गुण :–

दीपक, पाचक, ग्राही, तिक्तरस युक्त होता है

प्रयोग :–

1. शुक्रवर्धक, बल्य, मलेरिया रोग में।

2. आमातिसार, कास, वमन, अपचन, शूल में प्रयोग करते है।

श्रृंगिक विष

मोहरी, बननाग, इण्डियन एकोनाइट कहते है।

परिचय :– हिमालय पर्वत एवं कश्मीर में पाया जाता हैं। द्विवर्षीय 2–4 फीट ऊंचा झाड़ी होता है। पत्ते हथेली आकार का अनेक रेखाकार भागों में विभक्त रहते है।

पुष्प – नीले, एक फीट लम्बे गुच्छे में होता है।

फल – फलियॉं, कंगुरेदार होती है।

मूल – जोड़ी में, कन्द सदृश, शंकुआकार, बेलनाकार, आधार चिकना, सुखने पर झुर्रीदार होता हैं। बाहर से कृष्ण, अन्दर से भूरे रंग का होता है। सितम्बर में मूल एकत्रित करते है।

रासायनिक संगठन :– इन्डेकोनाइटिंग नामक विषैला क्षाराम, ऐकोनाइष्टिक एसिड़, स्टार्च पाया जाता है।

गुण :– उष्णवीर्य, तिक्त रस

प्रयोग :–

1. विषैला होने के कारण सावधानी से प्रयोग करते है।
2. अन्य औषधियों में मिलाकर प्रयोग किया जाता है।

विष लक्षण :– अंगुलियों में शुन्यता, तलवे में चुनचुनाहट ।

उपाय :– एट्रोपीन, कोरामीन का प्रयोग करते है।

थुहर

परिचय :–

सेहुंड, सिंहतुण्ड, बज्रद्रुम, सुधा, स्नुही कहते है इसकी कांटेदार झाड़ी होती है। जो 10–15 फीट उंची होती है। शाखा सीधी गुदेदार कांटेदार होता है, लकड़ी कोमल होता है। पत्ते – शाखाओं में गुच्छेदार मोटे 6 से 12 इंच, फूल– हरापन लिये पीला होता है। बीज – चपटे, कोमल, लोमस होता है। शाखाओं और पत्तों से दूध निकलता है।

रासायनिक संगठन :–

युफोबिन, राल, गोंद, रबर की तरह पदार्थ ।

प्रयोग :–

1. रेचक, वामक, मूत्रजनक, उत्तेजक होता है ।
2. दूध में मरिच मिलाकर उदर रोग में देते है । क्षीर तीव्र विरेचक होता है। इस मारिच के साथ सुतिकाज्वर, सर्पविष में देते है।
3. कान दर्द में पत्र रस दो बुन्द डालते है।
4. दमा में पत्तों का रस को मधु से देते है।

इसके बहुत से भेद होता है।

कालिहारी

वनस्पति औषधि में वर्णन किया गया हैं।

कनेर

परिचय :– इसे कनेर, कनैल, करबीर, करेण कहते है।

यह सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसकी वृक्ष 10 फीट उंचा, मजबुत, हरा, सीधी शाखाओं से युक्त होते है। पत्र चार से छैः इंच लम्बे एक इंच चौड़े, नुकीले, एक साथ 3–3 होते है।

फूल – सुगन्धित, श्वेत, रक्त, गुलाबी, रंग के, छत्राकार व्यवस्थित होते है।

फल – पांच से छः इंच लम्बी, चिपटी, गोलाकार, हरा होता है।

बीज – भूरे रंग के, रोम मे ढंके होते है।

तना तोड़ने पर दूध निकलता है। मूल,छाल, पत्ते का प्रयोग औषधि के लिए करते हैं

रासायनिक संगठन :–

मूल में नेरिओडेरिन नामक, जल में अविलेय, नेरिओडोरेन नामक जल में विलेय कडवे पदार्थ होते है। साथ ही उड़नशील तैल, कषायअम्ल, सुडोक्युराजीन नामक ग्लुकोसाइड, नेरीन, नेरिएण्टाइन द्रव्य पाये जाते है।

गुण :– उष्ण, नेत्र हितकारी, शोथहर, व्रण, कुष्ठ, कण्डु के लिए

हितकारी है। सभी प्राणीयों के लिए विषैला है।

प्रयोग :–

1. जलोदर में कममात्रा में प्रयोग करने से मूत्र निकालकर जलोदर कम करता है।
2. सर्पदंश में जड़ की छाल 1–2 ग्राम प्रयोग करते है।
3. चर्मरोग, व्रण, सुजन, कुष्ठ, खुजली में छाल एवं पत्रों का बाहरी प्रयोग करते है।

धतुरा

परिचय :–

धतुर, धतुरा, धातुरा कहते है।

पुष्प भेद से, श्वेत, नील, कृष्ण, रक्त, पीत, पॉच प्रकार होते है। सभी जगह इसके भेद पाये जाते है। एक वर्षीय 3–4 फीट उंचा वृक्ष होता है।

काण्ड :– हरा, जामुनी या काला होता है।

पत्ते :– अण्डाकार, किनारे लहरदार, सात इंच लम्बा पांच इंच चौड़ा, हल्के हरे रंग के चिकने वृन्त से युक्त होते है। इससे तीव्र गंध आती है एवं कडुआ होता है।

पुष्प :– श्वेत, भूरे, बैगनी, आभायुक्त, दलपत्र शंकुआकार 3 से 8 इंच लम्बे एक साथ 3 से पांच होते हैं।

फल :– गोल, चार खण्डों से युक्त, उपर आवरण में छोटे नरम कॉटे, अन्दर से चार फॉक में खुलने वाला ।

बीज :– चपटा, वृक्काकार, तीन मिमि लम्बी, 2 मिमि. चौड़ी, मोटे, काले, भूरे रंग, खुरदूरे, स्वाद में कड़वे, तैलीय होता है।

रासायनिक संगठन :– पत्तों में हायोसायमीन, अल्प मात्रा में एट्रोपीन हायोमीन रहता है, क्लोरजेनिक एसिड, गहरे रंग का उड़नशील तैल पाया जाता हैं।

गुण :– अधिक मात्रा में तीव्र विष है। उत्तेजनाहर, वेदनाहर, संज्ञानाशक, कासहर, श्वासहर, शोथहर, होता है।

प्रयोग :–

1. तमक श्वास में बीज, चूर्ण का सिगरेट देते है।

2. धतुरा पत्ती, कलमी शोरा, चाय की पत्ती, अलसी तैल का धुआँ करते है।

3. पेट दर्द पित्ताश्मरी, किडनी दर्द में चूर्ण का प्रयोग करते है।

4. सुजन में पत्ते का लेप करने से वेदना कम होता है।

5. पत्ते का क्वाथ से सेंक करने पर शरीर में कही दर्द हो पीड़ा कम होती है।

शोधन – बीजों को गोदुग्ध में 3 घण्टा उबालने से शुद्ध हो जाता है।

विष चिकित्सा – अफीम का प्रयोग, दही, नीबु का प्रयोग ।

अफीम

परिचय :– अफीम, हफीम, खसखस, पोस्ता दूध इसके पौधे को पोस्ता कहते है प्रायः सभी जगह उगाई जा सकती है। इसकी खेती, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब में की जाती है। एक वर्षायु क्षुप 3–4 फुट उंचा होता है।

काण्ड –चिकना, चमकीला, हरीत , रोमश, कम शाखा वाला होता है।

पत्र – आयताकार, विषम दन्तुर, खण्डित, हृदयाकार

फूल –कटोरीनुमा, सुन्दर दिखता है। फुल के बीच में डौंडी (फल) लगती है।

डौडी –अण्डाकार, सिर पर कंगुरे जैसी रचना होती है। रंग हल्का पीला या भूरा, जिस पर काले रंग का धब्बा होता है। फल के अन्तर महिन भित्तीयां होती है।

बीज –वृक्काकार, सतह जालीदार किनारे सीधे होते हैं। मधुर कुछ कड़वा रस, गन्धहीन होता है।

रासायनिक–संगठन –डौड़ी में मार्फिन, कोडीन, पापावेरीन, नार्कोटीन, मेकोनिक एसिड होता है।

पोस्ता डोडे के बड़े होने पर, कच्चे डोडे के उपर शाम को चीरा लगाने से दूध जमा हो जाता है। सुबह चम्मच से खरोच कर दूध उठा लेते हैं। इस तरह 3–4 दिन के अन्तर में चीरा लगाते है। और दूध या गोंद एकत्रित करते है।

शोधन – अफीम को पानी में धोलकर, छानकर पुनः मंद आंच में गाढ़ा करते है फिर अदरख रस की 21 भावना दे कर औषध के काम में लाते है।

गुण – उष्ण, तिक्त, रूक्ष, मादक, ग्राही होता है।

प्रयोग –

1. अल्प मात्रा में उत्तेजक के रूप प्रयोग करते है।
2. मानसिक रोगों में निद्रा के लिए।
3. सायटिका, नाड़ीशूल, शरीर के सन्धियों में शूल, अस्थि भग्न, आपरेशन के बाद, केंसर के दर्द में देते हैं।
4. अतिसार, पुराना आंव, संग्रहणी रोग, अन्य रोगों के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न अतिसार में देते है।
5. पसीना निकालने के लिए।
6. उच्च रक्तदाब, खांसी, तेज आन्त्र गति में।
7. अत्यधिक लालस्त्राव, स्वेद प्रवाह, मधुमेह मे।
8. विषम ज्वर, गर्भपात, कष्ट मासिक, अधिक मासिक।
9. सुजन में पुल्टिस बांधा जाता है।

सारांश

अपने आस–पास स्थित बहुउपयोगी छोटे बड़े जीव जंतु से प्राप्त दूध, गोबर, शहद, मांस, सीप, शंख, इत्यादि के प्रयोग का अध्ययन किया।

गंधक, अभ्रक, पारा इत्यादि विशिष्ट द्रव्यों की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त कर सकेगे।

सोना, चांदी, लोहा, तॉबा आदि धातु एवं अन्य उपधातुओं की विशिष्टता जान सकेंगें।

हमारे आस–पास स्थित रत्न उपरात्नों का हमारे जीवन में प्रयोग की जानकारी प्राप्त कर सकते है।

हमारे आस–पास मिलने वाले विष, उपविष के हानिकारक प्रभाव उसके उपचार तथा उसके शारीरिक उपयोग का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

यह इकाई आपके स्वास्थ्य को स्थिर रखने के हजारों सूत्र आपके सामने प्रस्तुत किया हैं। जिसके द्वारा आपके आस–पास स्थित छोटे छोटे पदार्थ का प्रयोग स्वास्थ्यवर्धन के लिए कर सकते है।

अभ्यास प्रश्न –

1. दुग्ध एवं मधु का परिचय लिखिये।
2. पारद के विषय में क्या जानते है।
3. धातुओं का नाम लिख सामान्य शोधन लिखें कोई चार।
4. विष उपविषों का नाम एवं सामान्य शोधन लिखें।
5. रत्नों का वर्गीकरण नाम एवं सामान्य शोधन लिखें।

इकाई –10
(औषधि निर्माण)

इकाई की रूप रेखा :–

1. उद्देश्य।
2. प्रस्तावना।
3. विषय वस्तु।

- पंच कषाय कल्पना परिचय
- चूर्ण निर्माण विधि।
- आसवारिष्ठ निर्माण विधि।
- बटी निर्माण विधि।
- अवलेह निर्माण विधि।

4. सारांश ।
5. अभ्यास प्रश्न ।

1.उद्देश्य :–

इस इकाई में हम आयुर्वेदीय औषधि निर्माण की विधियों का अध्ययन करेंगे जिससे आप :–

1. वनौषधि से सरलता पूर्वक आवश्यकता पड़ने पर औषधि तैयार कर सकते है।
2. औषधि निर्माण की सरल विधि को समझकर इनसे संबंधित अन्य बातें जान सकेंगे।
3. सरल से इस विषय को व्यक्त कर सकते है।

2. प्रस्तावना :–

यह द्वितीय प्रश्न पत्र का अन्तिम एवं पांचवी इकाई है। चौथी इकाई में आपने अनेक जांगम औषधि एवं खनिज औषध द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग का अध्ययन किया, जिससे आप अधिकांश औषध द्रव्यों के विषय में जानकारी प्राप्त किये। इस इकाई में उन द्रव्यों से आवश्यकता पड़ने पर सरलता से औषधि का निर्माण कर सकते है। यह बात तो जग जाहिर है कि आयुर्वेदिक औषधि हानिरहित होती है। अर्थात् इसके सेवन से मानव शरीर पर कोई बुरा या विपरीत प्रभाव नही पड़ता । क्योकि इसके निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण औषधि द्रव्य का शोधन कर्म होता है, जिससे उसके विषाक्त प्रभाव खत्म हो जाता है। साथ ही ये औषधि के निर्माण में इसके समतुल्य द्रव्यों की भावना, स्वेदन कर्म से गुणों में वृद्धि होती है। पंच कषाय कल्पना के अन्तरगत आने वाले रस, कल्क, क्वाथ, हिम, फाण्ट सभी बहुत ही सरलता से बनने वाला कषाय है, जिसका प्रयोग हम रोजमर्रा के भोजन में शामिल करते है या कर सकते है चाय भी एक फाण्ट है। धनियॉ, अदरक अन्य घर में स्थित या हमेशा मौजुद द्रव्यों की उपरोक्त किसी न किसी रूप में रोज प्रयोग करते है। उसी तरह जांगम द्रव्य, दूध, दही, मांस रक्त, पित्त आदि का भी सहज प्रयोग का अध्ययन कर सकते है। खनिज द्रव्यों से निर्मित गुटीका या बटी, आसव, अरिष्ट, अवलेह सभी का सरलता से आवश्यतानुसार प्रयोग कर सकते है। यह औषधि निर्माण प्रक्रिया अत्यन्त सरल है। जिसका लाभ आप सहजता से उठा सकते है। इस इकाई के अन्त में कुछ प्रसिद्ध बटी, आसव, आरिष्ट, तैल एवं रस औषधियां का नाम एवं रोग अधिकार दिया गया है।

विषय–वस्तु

औषध निर्माण परिभाषा – जिन संस्कारों द्वारा औषध द्रव्यों को प्रयोग करने के लिए उपयुक्त या प्रयोग करने लायक बनाया जाता है। उसे औषध निर्माण कहते है। किसी भी औद्भिद, जांगम या पार्थिव द्रव्यों का पूर्ण क्वाथ, भस्म आदि निर्माण किये बिना उसका मानव शरीर पर प्रयोग नही किया जा सकता है। अतः उसका क्वाथ (काढ़ा), चूर्ण, अवलेह, गुटिका (गोली या बटी) आसव, अरिष्ट, रस, भस्म, तैल, धृत आदि रूपों में परिवर्तन करने के लिए जो प्रारंभिक निर्माण विधान है उसी को औषध निर्माण कहते है।

पचंकषाय कल्पना परिचय

अम्ल, लवण, मधुर, तिक्त, कटु, कषाय रस वाले द्रव्यो की पॉच प्रकार से अलग–अलग कल्पना (बनाना) की जाती है उसे पंच कषाय कल्पना कहते है। जैसे

1. स्वरस 2. कल्क 3. क्वाथ 4. हिम 5. फाण्ट

यह गुणों के अनुसार उत्तरोत्तर लघु (कम असर वाला) होता है। जैस स्वरस की अपेक्षा कल्क, कल्क की अपेक्षा क्वाथ, क्वाथ की अपेक्षा हिम–हिम की अपेक्षा फाण्ट कम असर कारक होता है। आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार फाण्ट की अपेक्षा हिम बलशाली, हिम की अपेक्षा क्वाथ, क्वाथ की अपेक्षा कल्क और कल्क से स्वरस ज्यादा बलशाली या ज्यादा औषधीय शक्ति वाला होता है। अतः रोग और रोगी के बलाबल का विचार करके पांचों में से किसी एक का निर्माण करना चाहिए । क्योंकि सब तरह के कषाय सबके लिए उपयोगी नही होता है।

स्वरस निर्माण विधि– कृमि (कीड़े), अग्नि आदि से अदुषित हरी ताजी वनस्पति, जो तत्काल लाई हुई होती है, उसका जिस अंग का जैसे पत्ते, फूल, फल कोमल तने, छाल या जड़ स्वरस निकालना हो उसे छोटे–छोटे टुकड़ों में काटकर पानी से धोकर साफ कर लेते है, तत्पश्चात् पत्थर के खरल या सील बट्टे से पीस कर लुगदी बना लेते है। इस लुगदी को हाथ से दबा कर या कपड़े में रखकर

निचोड़ लेते है। इस तरह निकाले हुये रस को स्वरस कहते है।

कुछ औषधियॉ अधिक गुदेदार व कड़ी होती है। उसका रस आसानी से नहीं निकलता । इसके लिए विशेष विधियों का प्रयोग करते है जैसे– धृतकुमारी, इसका रस निकालने के लिए इसके पत्तों को भाप में पकाकर या आग में सेंककर फिर कपड़े में डालकर रस निचोड़ा जाता है।

पुटपाक विधि –

इसी प्रकार बेल, नीम, अडूसा की छाल का स्वरस निकालने के लिए पुटपाक विधि का प्रयोग करते है। पत्ते को पीसकर लुगदी बनाते है इस लुगदी के चारों तरफ गीली मिट्टी लगाकर गोला बना लेते हैं। और आग में इस गोले को लाल होते तक गरम करते या पकाते हैं, फिर ठंडा होने पर मिट्टी झाड़ कर पत्ते निकालकर कपड़े में रस निचोड़ लेते है। इस तरह रस प्राप्त करते है।

यदि जिस वनस्पति का स्वरस बनाना हो, और गीली या ताजा न मिले तो सुखी वनस्पती का चूर्णकर, उस चूर्ण को दो गुने जल में मिट्टी के बर्तन में 24 घण्टा भिगाकर रखते है, दूसरे दिन हाथ से मसलकर कपड़े से छान लेते है, और स्वरसों के समान प्रयोग करते है। उपरोक्त दोनो स्वरसों के अभाव में सुखी औषधि लेकर आठ गुना पानी, एक पाव औषधि में आठ पाव (2 किलो) पानी डालकर उबालते है। जब जल का चौथा भाग बच जाये, कपड़े से छानकर प्रयोग करते है। दोनों स्वरस में अन्तर यही है कि ताजे वनस्पति स्वरस की मात्रा 20 ग्राम एवं अन्तिम विधि से प्राप्त औषधि को 40 ग्राम की मात्रा में रोगी को दिया जाता है।

स्वरस में प्रक्षेप्य (डालने वाला अन्य द्रव्य) द्रव्य :– स्वरस में घी, तेल–गुड़ मिश्री आदि डालना हो तो 20 ग्राम रसमें 5 ग्राम डालते हैं। लवण, क्षार, पीपल आदि का चूर्ण रोगी एवं रोग के बल के अनुसार डालते है।

कल्क कल्पना

यदि वनस्पति औषधि ताजा हो तो उसे जल से धोकर एवं टुकड़े में काटकर पत्थर के सील बट्टे या खरल में पीसकर

कल्क बनाते है। यदि औषधि सुखा हो तो, चूर्ण बनाकर जल सीचकर पीसकर लुगदी बनाते है इसे कल्क कहा जाता है।

मात्रा :– एक तोला या 10 ग्राम।

प्रक्षेप द्रव्य – तैल, धृत, शहद, गुड़, मिश्री आदि ।

दूध, जल आदि द्रव्य मिलाना हो तो चौगुना मिलाते है। स्वरस में द्रव्य का सारभाग निकाल कर काष्ठ भाग फेंक देते है। परन्तु कल्क में सम्पूर्ण भाग लिया जाता है। या गुण या प्रभाव में स्वरस से लघु (हल्का, कमशक्ति) होता हैं

क्वाथ (काढा) कषाय :– क्वाथ बनाने के लिए औषधि द्रव्य को कूटकर दरदरा बनाते है फिर इसे मिट्टी या नीचे मिट्टी की तह लगी ताम्बे के बर्तन में कुटी हुई औषधि में, उसकी कठोरता के अनुसार जल डालते है। यदि औषधि नर्म है तो चार गुना, यदि थोड़ी सख्त है तो आठ गुना और यदि बहुत कठोर है तो सोलह गुना जल डाल कर मन्द–मन्द आग में पकाते हैं। जब डाले हुये जल के चौथाई जल बचे तो उतारकर छान लेते है ।

क्वाथ के लिये जल की मात्रा भी शास्त्रों में वर्णित है जैसे 12 ग्राम कूटी हुई औषधि में आठ गुना पानी।

60 से 320 ग्राम औषधि में – आठ गुना ।

320 से 960 ग्राम औषधि को – चार गुना।

जल में पकाना चाहिए । क्वाथ का प्रयोग ताजा ही करते है। इसकी मात्रा 20 ग्राम हैं, इस काढ़े का सेवन रोगानुसार या स्वाद अनुसार मक्खन, घी, तेल, शहद, चीनी या गुड़ मिलाकर किया जाता है।

क्वाथ के प्रकरण में ही यवागु का समावेश होता है।

यवागु – चांवल को अलग–अलग विधि से पकाकर यवाणु बनाते है। यवागु के तीन भेद होते है :

1. मण्ड 2. पेया 3. विलेपी

यवाणु के लिए उस व्यक्ति का एवं समय में खाने वाली चावल की मात्रा के चौथा भाग से यवाणु बनाई जाती है। इसमें डाले

जाने वाला जल औषधि से पकाया (औषधसिद्ध) जल होता है।

1. मण्ड – चावल की मात्रा से 14 गुना औषध डालकर पकाते है जब चावल अच्छी तरह पकाया जाये तो उपर के द्रवभाग(मण्ड) को निथार लेते है, इसे मण्ड कहते है।
2. पेया – चावल में छः गुना औषध जल डालकर पकाते है जिससे चांवल के दाने कम एवं जल ज्यादा रहे पेया कहते है।
3. विलेपी – चावल में चार गुना पानी डाल कर पकाते है जब चावल पक जाता है एवं द्रव भाग कम एवं सिक्थ (चावल) ज्यादा रहे विलेपी कहते है।

यवमण्ड – छिलके उतारे जौ को भूनकर 14 गुना जल में पकाते है, जौ पक जाने पर उपर के द्रव्य भाग को कपड़े से छान लेते है यवमण्ड कहलाता है।

लाजमण्ड – धान की लाई को 14 गुना जल में पकाकर छान लेते है।

युष – 20 ग्राम औषधि कल्क 80 ग्राम मुंग या मसुर आदि, और 320 ग्राम जल डालकर पकाते है। चौथाई जल शेष रहने पर छान लेते है।

<u>हिम कषाय</u> :– इसे शीत कषाय भी कहा जाता है। औषधि का जौ कूट 20 ग्राम औषधि को छः गुना जल में मिट्टी या चीनी या कॉच के बर्तन में रातभर ढंककर रखते है। प्रातः हाथ से मसलकर कपड़े से छान लेते हैं। इसे हिम कषाय कहा जाता है।

मात्रा – 40 ग्राम (चार तोला) दिन में 3–4 बार देते है।

प्रक्षेप – शहद, मिश्री, गुड़, स्वाद के अनुसार डालते है।

ग्रन्थों में शीत कषाय के लिए द्रव्य से तीन गुना जल डालने का भी वर्णन मिलता हैं। त्रिफला का प्रयोग शीत कषाय के रूप में ही किया जाता हैं। त्रिफला के हिम कषाय से नेत्र धोने से नेत्र की रोशनी बढ़ती है।

<u>फाण्ट कषाय –</u>

जौ कुट (दरदरा) 40 ग्राम औषधि द्रव्य का चौगुना

उबलता जल में डालकर ढ़क देते हैं। थोडी देर बाद जब पानी ठंड़ा हो जाय तब हाथ से मसलकर छान लेते हैं। इसको फाण्ट कहते हैं। यह एक प्रकार की औषधि चाय होती हैं। पुदीना गुलाब, चमेली आदि का प्रयोग फाण्ट के रूप में करते है।

उपरोक्त औषधि निर्माण के अतिरिक्त निम्न रूप में भी औषधि निर्माण किया जाता है।

चूर्ण

जब सूखे हुए औषधि द्रव्यों को पीसकर छान लिया जाता है तो वह चूर्ण कहलाता है। चूर्ण बनाने के लिए प्रायः पत्तो, डालियो और जड़ों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए इन द्रव्यों को छाया में सुखाकर पीसना चाहिए। कुछ द्रव्यों को धूप में भी सुखाया जा सकता है। पीसने से पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि ये पूरी तरह से सूखे हों। अन्यथा चूर्ण में फफूंद लग जाएगी। इस चूर्ण को साफ और सूखी हुई बोतलों में भरकर अच्छी तरह बन्द कर दें, जिससे उनमें हवा प्रवेश न कर पाए।

कुछ औषधियॉ बहुत अधिक रेशे वाली एवं कठोर लकड़ी वाली होती है, जिन्हें पीसने के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ती है । ऐसी औषधियों को विशेष प्रकार की मशीन से पीसा जाता हैं। मुलहठी इसी प्रकार की रेशेदार औषधि है।

यदि एक से अधिक द्रव्यों का मिश्रित चूर्ण बनाना हो तो प्रत्येक द्रव्य का आयुर्वेदीय औषधियां एवं उनकी निर्माण विधियॉ पृथक–पृथक चूर्ण बनाकर ही सबको आवश्यक परिमाण में मिलाना चाहिए । यदि सभी द्रव्यों को मिलाकर पीसा जाएगा तो किसी का छना हुआ चूर्ण कम ओर किसी का अधिक प्राप्त होने से उनके परिमाण में गडबड़ हो जाएगी । इस चूर्ण का औषधीय प्रभाव लगभग एक वर्ष तक रहता है। प्रायः वर्षा ऋतु के दौरान नमी के कारण इनके खराब होने का भय बना रहता है। चूर्ण बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि औषधि साफ सुथरी हो, बहुत पुरानी व कीडों से खाई हुई न हो।

दुग्ध पाक

इसे क्षीरपाक भी कहते है। किसी भी औषधि का दुग्ध पाक तैयार करने के लिए औषधि से आठ गुना दुध तथा 32 गुना जल मिलाकर पकाना चाहिए। जब एक चौथाई (अर्थात केवल दूध) शेष रह जाए तो आंच से उतार कर छान लें । इस छने हुए दूध का सेवन चीनी आदि डालकर औषधि के रूप में किया जाता है।

अवलेह

औषधि के इस रूप को लेह, लेह्य, खण्ड, प्राश, अवलेह तथा पाक इन अनेक नामों से जाना जाता है। यह एक विशेष प्रकार से तैयार की गई औषधि है, जिसमें मुख्य द्रव्य का चूर्ण या कल्क गुड (अथवा चीनी) एवं अन्य द्रव्यों के स्वरस (या काढ़े) के साथ अग्नि पर पकाकर चटनी की तरह तैयार किया जाता है। इसमें प्रायः मुख्य औषधि का चूर्ण या कल्क एक भाग, चीनी या मिश्री 4 भाग, गुड 2 भाग तथा द्रव पदार्थ (स्वरस या काढ़ा) 4 भाग के परिमाण में लिये जाते है। इन सब पदार्थो को एक बर्तन में डालकर (मुख्यतयाः लोहे की कढ़ाई में) धीमी आंच पर पकाया जाता है। जब औषधि चटनी के समान गाढ़ी हो जाए तो, नीचे उतार लेते हैं। पकाते समय औषधि को लगातार हिलाते रहना चाहिए, जिससे वह नीचे से जल न जाए। यदि अन्य द्रव्यों का चूर्ण डालने का निर्देश हो तो उन्हें औषधि पकने के पश्चात् प्रक्षेप द्रव्यों के रूप में डालना चाहिए, और चम्मच आदि से खूब अच्छी तरह मिला लेना चाहिए।

यदि योग में घी, तेल आदि स्नेह पदार्थो का प्रयोग करना हो तो सर्वप्रथम कडाई में इन पदार्थो को डालकर गर्म कर लेना चाहिए । यदि ऑवला पेठा आदि का कल्क हो तो उन्हें भी इस गर्म घी या तेल में भून लेना चाहिए । भूनने के पश्चात् उसमें क्वाथ या स्वरस आदि द्रव पदार्थ तथा चीनी, गुड आदि मिलाकर पकाना चाहिए। जब उसमें तार छूटने लगे और सामग्री कुछ गाढ़ी हो जाए, तो शेष द्रव्यों के चूर्ण में मिलाकर खूब घोंटना चाहिए। यदि शहद डालने का निर्देश हो तो औषधि के पूरी तरह ठण्डा होने पर मिलायें

। इस लेह को घी से चिकने किए हुए मिट्टी पत्थर, चीनी या प्लास्टिक के बर्तनों में भर दें।

पाक भी अवलेह के समान ही बनाया जाता है। किन्तु इसकी चाशनी अवलेह से अधिक गाढ़ी अथवा सख्त होती है, और तैयार होने के पश्चात् यह औषधि जम जाती है। जबकि लेह आदि नरम रहते है।

गुटिका या गोलियाँ

इस वर्ग में वटक, मोदक, गुडिका, पिण्डी, वटी, वटिका, आदि सभी योग आ जाते है। इनके निर्माण की विधि तो एक ही है, केवल इनके आकार और परिमाण में ही अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार के योगों को गोल, चपटे या लम्बे आकार की गोलियों के रूप में तैयार किया जाता है। इन्हें तैयार करने के लिए सर्वप्रथम वानस्पतिक औषधियों, पशु जगत से प्राप्त औषधि द्रव्यों, धातुओं, खनिज पदार्थो व रत्नों आदि को अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। वानस्पतिक औषधियों को सुखा लेना चाहिए। फिर सभी का अलग–अलग चूर्ण बना लें। जिस द्रव का निर्देश किया हो, उस द्रव को चूर्ण में मिलाकर खूब घोटना चाहिए। यदि एकाधिक द्रवों का उल्लेख हो तो एक के बाद दूसरा डालना चाहिए। सभी द्रव इकट्ठे नहीं डालने चाहिए। यदि किसी द्रव की भावना का निर्देश हो तो यह वह द्रव पदार्थ उतनी ही मात्रा में डालना चाहिए, जिससे औषधि अच्छी तरह भीग जाय। फिर औषधियों को अच्छी तरह घोटकर योग में बताये परिमाण के अनुसार गोलियॉ बना लें। यदि किसी भी द्रव–पदार्थ का निर्देश न हो तो पानी मिलाकर गोलियॉ बना लें। ये गोलियॉ धूप अथवा छाया में, जैसा योग में लिखा हो उसके अनुसार सुखा लेनी चाहिए। धूप और छाया के प्रभाव से दवाई के गुणों में अन्तर आ जाता है। अतः योग में दिये गये निर्देश के अनुसार ही उन्हें सुखाना चाहिए। यदि योग में कपूर, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों को मिलाना हो तो इन्हें सबसे अन्त में मिलाकर घोटना चाहिए। यदि हींग को मिलाना हो, तो सबसे पहले इसे घी में भून कर चूर्ण बनायें फिर योग में मिलायें। टंकण (सुहागा) आदि मिलाना हो, तो इसे आग में भूनकर फूला बनाकर

पीसकर मिलाना चाहिए।

यदि गुड, चीनी मिलाने हों तो धीमी ऑच पर इनकी चाशनी बना लें और फिर इसमें दूसरी औषधियों का चूर्ण मिलाना चाहिए। यदि पारा और गंधक मिलाना हो, तो विधिपूर्वक शोधन किये हुए पारद आदि का प्रयोग करना चाहिए। तथा सर्वप्रथम पारद और गन्धक को घोटकर उनकी कज्जली (काजल के सामने काला चूर्ण) बना लेनी चाहिए। तत्पश्चात् उसमें दूसरे द्रव्य मिलाने चाहिए।

यदि गुटी में गुग्गुल (गूगल) का प्रयोग करना हो, तो इसे दवाईयों के चूर्ण के साथ मिलाकर खूब कूटना चाहिए। कूटते हुए बीच में थोड़ा–थोड़ा घी डालते रहना चाहिए। इसे जितना अधिक कूटा जाए उतना ही अच्छा होता है। यदि गुग्गुल के पाक का उल्लेख हो तो इसे गुड़ के सदृश ही पकाया जाता है। इसका पाक गुड से गाढ़ा होता है। इसकी पहचान है कि यदि पानी में डाला जाए तो नीचे बैठ जाता है। और इधर उधर नहीं फैलता है।

आजकल गोलियॉ के स्थान पर मशीनों की सहायता से टिकियॉ बना ली जाती हैं। टिकियॉ बनाने के लिए एक प्रकार की गोंद डालनी पड़ती है। यदि किसी योग में गूगल का उल्लेख हो तो फिर गोंद की आवश्यकता नहीं होती ।

इन गोलियों या टिकियों को कॉच या प्लास्टिक की साफ, सुखी वायुरोधी शीशियों में भर लेना चाहिए। इनका औषधीय प्रभाव दो वर्षो तक स्थिर रहता है। यदि इन द्रव्यों में धातु, खनिज आदि भी मिलें हो तो अनिश्चित काल तक इनका औषधीय प्रभाव बना रहता है।

10. तैल और घृत पाक :–

औषधीय तैल और धृत तैयार करने के लिए तेल या घी को औषधीय द्रव्यों के रस (या काढ़े) एवं कल्क के साथ पकाया जाता है। इन्हें तैयार करने के लिए मुख्यतः जिन औषधि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें निम्नलिखित तीन श्रेणियों में बॉटा जाता सकता है।

1. द्रव्य – इनके अन्तर्गत औषधियों के स्वरस, काढ़े, दूध, तक्र, मांसरस आदि आते हैं। एक प्रकार के तेल अथवा घी में एक या एकाधिक द्रव पदार्थों का प्रयोग किया जा सकता है। यदि किसी भी द्रव का उल्लेख न हो, तो जल का प्रयोग तरल पदार्थ के रूप में किया जाता है।

यदि योग में द्रव पदार्थो का परिमाण न बताया गया हो, तो इन्हें घी या तेल से चार गुणा परिमाण में डालना चाहिए। यदि चार या चार से कम द्रव पदार्थों का प्रयोग करना हो, तो उनमें से प्रत्येक की मात्रा स्नेह (घी या तेल) से चार गुणा होनी चाहिए। परन्तु यदि ये द्रव पदार्थ चार से अधिक हो, तो प्रत्येक को घी या तेल के समान परिमाण में ले।

क्वाथ तैयार करने के लिए, जिन औषधियों का क्वाथ बनाना हो, वे घी या तेल से दुगुनी लेना चाहिए। उन्हें आठ गुना पानी में पकाकर एक चौथाई शेष रहने पर छान लेना चाहिए। यदि क्वाथ द्रव्यों का परिमाण बहुत अधिक हो तो एक बार में ही तैयार न करके थोड़े–थोड़े द्रव्य लेकर कई बार में तैयार कर लेना चाहिए। यदि घी या तेल का पाक केवल दूध से करना हो अर्थात् उसमें क्वाथ, स्वरस आदि अन्य द्रव पदार्थ न डालने हों तो दूध का परिमाण घी से आठ गुना होना चाहिए, और यदि अन्य द्रव पदार्थ भी डालने हों तो दूध और दही से पाक करना लिखा हो तो स्नेह से चार गुना जल भी मिला लेना चाहिए क्योकि केवल दूध या दही से पाक ठीक प्रकार नहीं होता।

2. कल्क :–

घृत अथवा तैल पाक में दूसरा महत्वपूर्ण पदार्थ औषधियों का कल्क है। योग में मात्रा का उल्लेख न होने पर घृत या तैल का चौथाई भाग कल्क डालना चाहिए ।

3. स्नेह द्रव्य :–

इसके अन्तर्गत औषधि का प्रधानतम पदार्थ घी या तेल सम्मिलित है। जिस योग में जितने स्नेह के पाक करने का निर्देश हो, उतने परिमाण में ही उसका पाक करना उचित रहता है। उससे

आधा, दुगुने अथवा चौगुने का नहीं। स्नेह द्रव्य के परिमाण का उल्लेख न होने पर एक सेर (1 किलो) स्नेह लेना चाहिए। उसमें उपरोक्त विवरण के अनुसार क्वाथ एवं कल्क डालने चाहिए ।

घृत अथवा तैल पाक करने के लिए सर्वप्रथम इन्हें मूर्च्छित किया जाता है। मूर्च्छन के लिए इन्हें धीमी ऑच पर गर्म किया जाता है। जब फेनरहित हो जायें तो इनमें कुछ विशेष द्रव्यों का कल्क डाला जाता है। घी व भिन्न–भिन्न तेलों (सरसों, तिल आदि) के मूर्च्छन के लिए औषधि द्रव्यों एवं उनके परिमाण का पृथक–पृथक उल्लेख किया गया है। इस प्रक्रिया द्वारा ये स्नेह द्रव्य साफ, आमदोष से रहित तथा वीर्यवान हो जाते है। मूर्च्छन के पश्चात् तेल में अन्य औषधियों का कल्क एवं क्वाथ, स्वरस आदि द्रव पदार्थ मिला लेने चाहिए और उन्हें धीमी ऑच पर पकाना चाहिए। यदि एकाधिक द्रव पदार्थों का उल्लेख हो, तो उन्हें एक के पश्चात् दूसरा अर्थात् बारी–बारी से डालना चाहिए। पकाते समय औषधि को बीच–बीच में चलाने से जलीय अंश जल जाता है । अतः यह बहुत सावधानी का समय होता है। जब औषधि को कड़छी से बहुत जल्दी–जल्दी चलाना चाहिए। अन्यथा कल्क बर्तन की पेंदी में जलने लगेगा।

यदि स्नेह पाक में गोमूत्र आदि क्षारयुक्त पदार्थों का प्रयोग भी करना हो तो बड़े बर्तन का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि क्षार पदार्थों के योग से स्नेह में झाग बहुत अधिक आती है। और स्नेह बाहर गिर सकता है। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जब तेल का पाक अच्छी तरह हो जाता है, तो उसके उपर बहुत अधिक झाग दिखाई देती है, जबकि घी का पाक होने पर पहले दिखाई देने वाली बहुत अधिक झाग भी समाप्त हो जाती है। घी या तेल अच्छी तरह पक गया है या नहीं? यह जानने के लिए थोड़ा सा कल्क अग्नि में डाला चाहिए। यदि किसी प्रकार की आवाज न हो तो स्नेह सिद्ध समझना चाहिए।

स्नेह पाक तीन प्रकार का होता है– मृदु, मध्यम तथा खर ।

यदि कल्क में थोड़ा सा जलीयांश बचा हो तो वह मृदु पाक, यदि जलीयांश तो न हो परन्तु कल्क कोमल हो तो मध्यम पाक

तथा यदि कल्क कठोर हो गया हो तो खर पाक माना जाता है। इनमें मध्यम पाक श्रेष्ठ माना जाता है। परन्तु मालिश के लिए खर पाक ही उत्तम माना जाता है।

पाक के पश्चात् स्नेह को अच्छी तरह छान लेना चाहिए तथा इन्हें साफ व सूखी हुई काँच या प्लास्टिक की बोतलों में भर लेना चाहिए।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि यदि नमक अथवा किसी क्षार पदार्थ का प्रक्षेप स्नेह में मिलाना हो तो उसे पाक और छानने के पश्चात् ही मिलाना चाहिए। स्नेह का पाक धीमी आँच पर करना चाहिए। तेज आंच पर पकाने से औषधि के गुण नष्ट हो जाते है।

यदि स्नेह को दूध के साथ पकाना हो तो 2 दिन में, स्वरस के साथ पकाना हो तो 3 दिन में और तक्र अथवा कांजी आदि के साथ पकाना हो तो 5 दिन में पाक पूरा करना चाहिए। अर्थात् एक दिन में थोड़ा पका कर छोड़ दें, फिर दूसरे दिन पकायें। इस प्रकार औषधि अधिक गुणयुक्त होती है। इस घृत और तैल पाक के औषधीय गुण लगभग डेढ़ साल तक सुरक्षित रहते है।

11 आसव और अरिष्ट

ये वनस्पतिक द्रव्यों से तैयार किये गये एक प्रकार के मद्य है। इन्हें तैयार करने के लिए खमीर की सहायता से औषधियों के क्वाथ में अथवा अपक्व औषधियों और जल में अन्य द्रव्यों में मिश्रण सहित प्राकृतिक रूप से सन्धान उत्पन्न किया जाता है। इनमें मद्यसार की अधिकतम मात्रा 15 प्रतिशत तक होती है। यद्यपि आसव और अरिष्ट मद्य है, परन्तु इनके सेवन से नशा नहीं होता है। अरिष्ट तैयार करने के लिए प्रायः द्रव्यों का क्वाथ बनाकर उनमें गुड, आदि मधुर द्रव्य तथा अन्य पदार्थ मिलाकर सन्धान के लिए रखा जाता है। जबकि आसव के लिए औषधियों का क्वाथ आदि न बनाकर उन्हें कच्चे मौलिक रूप में ही जल व अन्य द्रव्यों के मिश्रण के साथ सन्धान के लिए रखा जाता है।

इन्हें तैयार करने के लिए औषधियों के क्वाथ, स्वरस एवं

चूर्ण आदि को विशेष रूप से तैयार किये गये बर्तनों में रखा जाता है। पुराने समय में प्रायः मिट्टी के बड़े बड़े बर्तनों का प्रयोग किया जाता था। कहीं कहीं स्वर्ण के बर्तन का उल्लेख भी मिलता है। आजकल स्टील के बर्तनों का प्रयोग भी किया जा सकता है। द्रव्य डालने से पहले बर्तन को भीतर से घी से अच्छी प्रकार चिकना कर लेना चाहिए। इसके साथ ही उसमें हल्दी अथवा धाय के फूल तथा लोध्र के कल्क का लेप करके सुखा लेना चाहिए। इससे औषधि खट्टी नहीं होती।

उपरोक्त प्रकार से तैयार बर्तन में क्वाथ या जल गुड, मधु व औषधियों का चूर्ण (जिन–जिनका योग में निर्देश हो) डालकर उसका मुँह ढक्कन से अच्छी तरह बन्द करके सील कर देना चाहिए। इससे उसके उन्दर हवा नहीं जा सकती इस पात्र को भूमि के अन्दर गड्ढे में अथवा जौ या अनाज के ढेर में या किसी गर्म स्थान में 15 दिन अथवा एक महीने के लिए (जैसा योग में उल्लेख हो) रखना चाहिए। तत्पश्चात् इस औषधि को छानकर बोतलों में भरना चाहिए। भरते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि बोतलों का मुँह लबालब न भरा हो, उनमें थोड़ा स्थान खाली रखना चाहिए।

आसव और अरिष्ट की यह विशेषता है कि ये जितने अधिक पुराने होते है, उतने अधिक गुणकारी होते है। प्रायः नये आसव या अरिष्ट भारी तथा वायुकारक होते हैं, जबकि पुराने होने पर ये स्त्रोत शोधक, दीपक तथा रूचिकारक हो जाते है। इनका सेवन भोजन के पश्चात् समान भाग जल मिलाकर करना चाहिए।

12. पर्पटी

यह औषधि परतों के रूप में तैयार की जाती है। इसे तैयार करने के लिए पिघली हुई औषधियों को पत्ते पर डाला जाता है। सर्वप्रथम पारद और गन्धक की कज्जली तैयार की जाती है। तत्पश्चात् यह कज्जली एवं योग में निर्दिष्ट अन्य द्रव्यों का चूर्ण लोहे के पात्र में डालकर आग पर चढाया जाता है। इस पिघले हुए मिश्रण को केले या एरण्ड के पत्ते के उपर उँडेल कर फैला दिया जाता है। इसके पत्ता रखकर गाय के ताजे गोबर से दबा दिया जाता है। जब मिश्रण ठण्डा हो जाए तो इस परतदार औषधि को

बाहर निकालकर व पीसकर चूर्ण बना लिया जाता है।

4. सारांश

इस इकाई में आप रस, क्वाथ निर्माणविधि का अध्ययन किये जिसका प्रयोग आप सरलता से कर सकते है।

अन्य प्रयोगिक औषधि, वटी, आसव, अरिष्ट, अवलेह, शरबत, इत्यादि का निर्माण विधि ज्ञात किये।

ये सभी औषधि निर्माण प्रक्रिया अत्यन्त सरल एवं हानि रहित है जिसका प्रयोग आप आसानी से कर सकते है।

5. अभ्यास प्रश्न :-

1. औषधि निर्माण एवं पंचकषाय कल्पना से आप क्या समझते है?
2. स्वरस एवं कल्क बनाने की विधी लिखें।
3. किसी भी वन औषधि से क्वाथ वहिम एवं फाण्ड बनाने की विधी अनुपान एवं मात्रा लिखे।
4. वटी निर्माण विधि एवं कुछ प्रमुख वटीयों का नाम लिखे।
5. आसव अरिष्ट निर्माण विधि, प्रयोग एवं प्रसिद्ध आसव अरिष्ट का नाम लिखें।
6. अवलेह किसे कहते है? निर्माण प्रक्रिया लिखे।